प्रकाशक—
व्यवस्थापक
भारतीय ग्रन्थमाला
दारागंज (इलाहाबाद)

पुस्तक मिलने के पते

१—भारतीय ग्रन्थमाला, दारागंज, इलाहाबाद

२—सहकार भारती, पिलानी (राजस्थान)

३—वाणी मंदिर, चौड़ा रास्ता, जयपुर

मुद्रक :—
विशेश्वर नाथ भार्गव,
भार्गव प्रेस,
प्रयाग

प्रशंसनीय प्रयास

इस पुस्तक का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुए ६ वर्ष से कुछ अधिक समय व्यतीत हुआ है। हर्ष की बात है कि आदरणीय केला जी अब इसका संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण प्रस्तुत कर रहे हैं। वृद्धावस्था में भी हिन्दी-संसार को नए-नए मौलिक ग्रंथ लिखकर देने का उनका उत्साह और प्रयास प्रशंसनीय है।

प्रथम संस्करण की भूमिका के अंत में मैंने लिखा था कि स्वास्थ्य अच्छा न रहते हुए भी केला जी ने एक और पुस्तक लिखना प्रारंभ कर दिया है। पाठकों को आश्चर्य होगा कि वे तब से एक नहीं, आधे दर्जन से अधिक छोटी-बड़ी पुस्तकें लिखकर प्रकाशित कर चुके हैं। स्वास्थ्य अब भी अच्छा नहीं रहता—कभी-कभी तो अवस्था चिन्ताजनक बन जाती है। फिर भी सोचने-विचारने और लिखने की असाधारण क्षमता उनमें बनी हुई है। ग्रंथ-रचना के लिए उनकी लगन और अवस्था देखते ही बनती है। वृद्धावस्था और प्रायः निरंतर रहने वाली अस्वस्थता उनके उत्साह को तनिक भी मंद नहीं कर सकी है। 'मनुष्य जाति की प्रगति' के बाद केला जी की 'देशी राज्य शासन', 'व्यवसाय का आदर्श', 'देशी राज्यों की जन-जागृति', 'भारतीय स्वधीनता आन्दोलन', 'हमारी आदिम जातियाँ' आदि पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं।

केला जी को अध्ययन अनुशीलन का भी बड़ा अभ्यास है। अपने विषय की नई-नई पुस्तकों की खोज में लगे रहते हैं। ग्रहण करने के लिए वे

अपना मस्तिष्क सदैव उन्मुक्त रखते हैं । रूढ़िवादिता और ...ड़ाग्रह उन्‍
तनिक भी पसन्द नहीं है । इसी का परिणाम है कि केला जी इधर सर्वोद
विचारधारा की ओर विशेषरूप से आकर्षित हुए हैं । गंभीर चिन्तन औ
मनन के पश्चात् वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि सर्वोदय से ही देश का औ
सम्पूर्ण विश्व का वास्तविक कल्याण हो सकता है । इसी विचार से प्रेरि
और प्रभावित होकर केला जी ने 'सर्वोदय अर्थशास्त्र', 'हमारा अर्थशास
कैसा हो' 'सर्वोदय राज, क्यों और कैसे ?' 'समाजवाद, साम्यवाद और सर्वोदय
नामक पुस्तकों की रचना की है । भारतीय ग्रंथमाला के अन्तर्गत ही एक सर्वो
दय ग्रन्थमाला का भी सूत्रपात किया है, जिसमें इन पुस्तकों के अतिरिक्
'मानव संस्कृति' शीर्षक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भी लिखकर प्रकाशित किया है ।

हमें आशा है कि केला जी इसी उत्साह के साथ आगे भी हिन्द
साहित्य-भंडार की अभिवृद्धि में संलग्न और सचेष्ट रहेंगे । भगवान उन
स्वस्थ और जीवित रखें, यही हमारी मंगल कामना है ।

'लीडर' भवन, प्रयाग — शंकरदयालु श्रीवास्त

६ अप्रैल १९५२ — संपादक, 'भारत'

भूमिका

(प्रथम संस्करण)

आदि काल से लेकर वर्तमान काल तक मानव-जाति ने जो प्रगति की है, उसका परिचय देने अथवा उस पर पुस्तक लिखने का प्रयत्न करना एक कठिन कार्य है। यह विषय जितना ही व्यापक है, उतना ही गहन भी। संसार के इतिहासवेत्ता अभी तक सृष्टि के प्रारंभ से लेकर आज तक का सुश्रृङ्खलित इतिहास प्रस्तुत नहीं कर सके हैं। इतिहास-काल के पूर्व का एक दीर्घ युग अब भी अज्ञात और अंधकारमय बना हुआ है। इस अंधकार में प्रवेश करने का प्रयास अवश्य किया गया है किन्तु अधिक सफलता प्राप्त नहीं हुई है। भूगर्भशास्त्री बतलाते हैं कि इस पृथ्वी की उत्पत्ति लाखों वर्ष पूर्व हुई थी। हिन्दुओं के चतुर्युग सिद्धान्त के अनुसार भी इसी मत की पुष्टि होती है। फलतः ऐतिहासिक काल, जिसके संबंध में इतिहासकारों ने विस्तार के साथ लिखा है, मानवजाति के संपूर्ण जीवन-काल का केवल एक लघुभाग ही ठहरता है। इसके अतिरिक्त यह बात भी सर्वविदित है कि अनेक देशों के उपलब्ध इतिहास प्राचीनकाल तथा मध्ययुग के मानवजीवन का विस्तृत विवरण नहीं देते। ऐसी अवस्था में यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि मानव-जीवन की प्रगति पर जो ग्रंथ लिखा जाएगा, वह वस्तुतः कितना अधूरा और अपूर्ण रहेगा।

फिर भी उपलब्ध सामग्री के आधार पर इस विषय का काफी परिचय दिया जा सकता है, और इस बात पर प्रकाश डाला जा सकता है कि मनुष्य ने किसी दिशा में और जीवन के किस क्षेत्र में अब तक कितनी उन्नति की है, वह कहाँ से कहाँ पहुँच गया है। इसके लिए विशाल ज्ञान तथा विस्तृत अध्ययन-अनुशीलन की आवश्यकता है। केवल दो-एक देशों के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक जीवन का परिचय प्राप्त करके मनुष्य जाति' के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा जा सकता। उसके लिए अखिल विश्व के सम्बन्ध में ज्ञान अपेक्षित है।

इसी प्रकार 'प्रगति' शब्द भी विचारणीय है। मनुष्य

जाति निरन्तर प्रगति करती रही है, वह सदा आगे बढ़ती गई है, यह बात बहुत से लोग नहीं मानेंगे। सतयुग, त्रेता आदि चार युगों के सिद्धान्त को माननेवाले तो उलटे यह कहेंगे कि मानव जाति उन्नति की ओर नहीं, बल्कि अवनति की ओर जा रही है। भारत ने प्राचीनकाल में—ऋषि, मुनियों के समय में—जीवन के अनेक क्षेत्रों में जैसी उन्नति करली थी, क्या वैसी उन्नति आज दिखाई दे रही है! सदाचार तथा नैतिक जीवन के जिस उच्च स्तर पर भारतीय उस समय पहुँचे थे, क्या आज उससे बहुत नीचे नहीं गिर गये हैं! यही बात यूनान, मिस्र तथा चीन आदि देशों के संबंध में भी कही जा सकती है, जिनकी प्राचीन सभ्यता गौरवमय थी। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि प्रगति का अटूट क्रम बना रहता है। संसार में सदा उन्नति और अवनति दोनों का चक्र चलता रहा है। संसार का कोई भाग आज उन्नत अवस्था में मिलेगा तो दूसरा भाग पतन की अवस्था में दिखाई पड़ेगा। इसके अतिरिक्त यह बात भी उल्लेखनीय है कि युद्ध आदि कुछ कारणों से शताब्दियों की उन्नति महीनों और कतिपय वर्षों में ही नष्ट हो जाती है।

किन्तु साथ ही यह भी मानना होगा कि युद्ध, क्रान्ति तथा विप्लवों के फलस्वरूप बहुधा अल्पकाल में ही इतनी उन्नति कर ली जाती है, जितनी कि सुदीर्घ काल में भी नहीं हो सकती। उनसे ऐसी शक्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जो प्रगति को बल प्रदान करती हैं। फ्रान्स की राज्यक्रान्ति तथा नैपोलियन के युद्ध ने यूरोप ही नहीं, अमेरिका को भी प्रभावित किया और उन्हें जन-सत्ता के आदर्श की ओर बढ़ने के लिए प्रेरित किया। रूस की राज्यक्रान्ति ने लगभग २० वर्ष के अन्दर इतनी अधिक बहुमुखी उन्नति कर ली है कि आश्चर्य होता है। यदि जारशाही कायम रहती तो क्या इतनी अधिक प्रगति किसी प्रकार संभव हो सकती थी? इसी प्रकार वर्तमान तथा गत महायुद्धों ने यदि एक ओर शताब्दियों की उन्नति का विनाश किया है, तो दूसरी ओर लोकसत्ता तथा स्वतन्त्रता के आन्दोलनों को बल दिया है।

इन सब बातों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यद्यपि

अलग-अलग देशों का इतिहास लेकर देखें तो निरन्तर एक ही दिशा में प्रगति होने का कोई क्रम परिलक्षित नहीं होगा किन्तु जब हम अखिल मानवजाति के पूरे जीवन पर समष्टि रूप से विचार करेंगे तो प्रकट होगा कि संसार बराबर एक लक्ष्य की ओर प्रगति कर रहा है। साम्राज्यवाद, पूंजीवाद, शोषण, जातीय भेदभाव तथा अनेक प्रकार की विभिन्नताओं एवं असमानताओं के होते हुए भी संपूर्ण विश्व अदृश्य रूप से निर्दिष्ट ध्येय की ओर बढ़ता जा रहा है। वह ध्येय है एक ऐसा विश्व-सङ्घ जिसमें संसार के सभी देश सम्मिलित रहेंगे, सभी जातियाँ संकुचित साम्प्रदायिकता की भावना से मुक्त होकर सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करेंगी और मनुष्य-मनुष्य के बीच भेदभाव, ईर्ष्या, वैमनस्य सब कम हो जायंगे। युद्ध का स्थान शान्ति, तथा घृणा का स्थान प्रेम ले लेगा। संसार के सभी मनुष्य एक ही विराट कुटुम्ब के सदस्य हैं, इसी भावना और इसी दृष्टिकोण से सब अपना काम करेंगे।

अतः मनुष्य जाति की प्रगति का सिंहावलोकन करना एक आवश्यक, उपयोगी तथा रुचिकर विषय है। किन्तु जैसा प्रारम्भ में ही कहा गया है, यह विषय बड़ा ही व्यापक और गहन है। जैसे मानव-जीवन के बहुत से क्षेत्र या पहलू हैं, उसी तरह इस विषय के भी अनेक अङ्ग हैं; और, उन सब पर विचार करना, सब की प्रगति पर दृष्टिपात करना आवश्यक हो जाता है। दुनिया भर की प्राचीन, मध्यकालीन तथा अर्वाचीन विचारधाराओं, रीति-रिवाजों तथा आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक प्रणालियों का ज्ञान अपेक्षित होता है। जीवन के प्रत्येक विषय को लेकर हमें यह सोचना तथा पता लगाना पड़ता है कि उसके सम्बन्ध में कब, कहाँ कैसी प्रगति हुई, किस वस्तु का कब कैसे प्रचलन हुआ और आगे चलकर उसमें कैसे-कैसे सुधार हुए।

मनुष्य-जाति की प्रगति अथवा उन्नति पर अँग्रेजी भाषा में ग्रंथ लिखे गये हैं किन्तु हिन्दी में जहाँ तक मुझे ज्ञात है, अभी तक एतद्विषयक कोई भी पुस्तक उपलब्ध नहीं है। अतः जब श्री भगवानदास जी केला

प्रस्तुत पुस्तक की हस्तलिखित प्रति लेकर मेरे यहाँ पधारे तो उसे देखकर मुझे बड़ा सन्तोष हुआ। मैं केला जी की साहित्य-साधना से परिचित हूँ और उसका प्रशंसक भी हूँ। उन्होंने यथाशक्ति हिन्दी साहित्य के एक अभाव की पूर्ति करने का व्रत सा ले रखा है। वृद्धावस्था में पहुँच कर भी वे जिस मनोयोग के साथ इस व्रत का निर्वाह करने तथा उपयोगी पुस्तकें लिखने में लगे हुए हैं, सर्वथा सराहनीय है।

केला जी की इस पुस्तक को मैं आद्योपान्त पढ़ चुका हूँ। विषय की गहनता में न जाकर और तथ्यों तथा आंकड़ों के पीछे अधिक न पड़ कर उन्होंने एक रूप-रेखा प्रस्तुत की है। मानव-जीवन के अधिक-से-अधिक पहलुओं को लेकर उन्होंने उनकी प्रगति पर प्रकाश डाला है। अपने विषय को सुबोध बनाने तथा पाठकों के मन में यह बात बैठा देने में उन्होंने बड़ी सफलता प्राप्त की है कि मनुष्य प्रगति करता हुआ कहाँ से कहाँ पहुँच गया है। प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ में अधिकांशतः हिन्दी पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं से उद्धरण देकर केला जी ने एक नई परिपाटी चलाई है, जिसे मैं वांछनीय ही कहूँगा। उनकी लिखने की शैली बड़ी मनोहर है। आशा है कि हिन्दी के पाठक उनकी इस नई पुस्तक का भी यथोचित स्वागत करेंगे और ऐसे साहित्य के सृजन में प्रोत्साहन देंगे।

केला जी धुन के आदमी हैं। स्वास्थ्य अच्छा न रहते हुए भी उन्होंने एक और पुस्तक लिखना प्रारंभ कर दिया है जो सम्भवतः अनतिदूर भविष्य में पाठकों के सामने आयेगी। हम भगवान से प्रार्थना करते हैं कि वह केला जी को दीर्घायु और सुन्दर स्वास्थ्य प्रदान करे, ताकि वे हमारे साहित्य को कुछ और उपयोगी ग्रंथ भेंट कर सकें।

१ जनवरी १९४९
लीडर भवन,
प्रयाग

शङ्करदयालु श्रीवास्तव
सहायक संपादक, 'भारत'

लेखक का निवेदन

आदमी की पुराने जमाने की हालत का, मौजूदा हालत से मुकाबला किया जाय तो बात-बात में फरक मालूम होगा। आदमी के जीवन-निर्वाह के ढँग, उसका सामाजिक जीवन, उसकी राजनैतिक व्यवस्था, उसका मानसिक ज्ञान, उसकी अर्थनीति और समाज-व्यवस्था सम्बन्धी विचार-धाराएँ—सभी बातों के पुराने और आधुनिक रूप में जमीन आसमान का अन्तर है। इस प्रकार मानव प्रगति या विकास का विषय अनन्त है। इस के खुलासा विवेचन के काम को अधिक योग्य और अधिक साधन-सम्पन्न भाइयों के लिए छोड़ कर हम तो एक ही पुस्तक में सारे विषय पर उड़ती सी नजर डाल कर सन्तोष कर रहे हैं। इस रचना में हमें विशेष सहायता बंधुवर श्री शंकरदयालु श्रीवास्तव एम० ए०, सहायक सम्पादक (अब सम्पादक) 'भारत' (प्रयाग) से मिली है। आपने ही इसकी भूमिका लिखने की कृपा की है।

उत्तरप्रदेशीय सरकार ने इसे पुरस्कृत किया। इससे इसके दूसरे संस्करण के छपने में सुविधा हुई। इस अवसर पर हमने इसका यथेष्ट संशोधन करके इसे अधिक से अधिक उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया है। पहले 'धर्म और सदाचार' एक अध्याय का ही विषय था। अब इसके चार अध्याय कर दिये गये हैं। इस संस्करण की मुख्य बात और ही है। इसमें पूँजीवाद, समाजवाद और साम्यवाद आदि समाज-व्यवस्थाओं के विषय में खुलासा और सिलसिलेवार विचार करके यह दिखाया गया है कि उनमें सर्वोदय की क्या विशेषता है।

भौतिक विज्ञान ने आधुनिक संसार को ऐसा बना दिया है कि सब के सुख में ही हमारा सुख निहित है। विश्व के साथ आत्मीयता स्थापित करने में, सब को अपने परिवार का मानने में, सबसे प्रेम और सहयोग करने में ही हमारा कल्याण है। यही मनुष्य जाति की वास्तविक प्रगति है।

भगवानदास केला

विषय-सूची

पहला भाग ; विषय प्रवेश

१—दो दृष्टिकोण

२—मनुष्य और प्रगति

३—प्रगति की अवस्थाएँ

दूसरा भाग ; शारीरिक आवश्यकताएँ

४—भोजन

तीसरा भाग ; जीवन-निर्वाह

१०—आदिम अवस्था

११—औजारों का उपयोग

१२—पशु-पालन

१३—खेती

१४—उद्योग-धन्धे

धर्म-समन्वय का प्रयत्न—अगर हम मूल सिद्धान्तों का विचार करें तो वे सब धर्मों में एकसे ही हैं, जुदा-जुदा धर्मों का समन्वय करने के लिए समय-समय पर अनेक कान्फ्रेन्स, सभा सम्मेलन आदि हुए हैं। सन् १८७५ में न्यूयार्क (अमरीका) में थियोसीफिकल सोसायटी कायम हुई। उसका एक उद्देश्य यह था कि जाति, सम्प्रदाय, रङ्ग आदि के भेद का विचार न कर विश्वबंधुत्व या भाईचारे के भाव को फैलाया जाए, और विविध धर्मों या दर्शनों के तुलनात्मक तथा वैज्ञानिक अध्ययन को प्रोत्साहन दिया जाए। और भी आन्दोलन समय-समय पर इस उद्देश्य से होते रहते हैं। धर्म-समन्वय की दृष्टि से कुछ पुस्तकें भी लिखी गयी हैं। इन कार्यों की उपयोगिता स्पष्ट है, तथापि इसमें कुछ ऊँचे दर्जे के सिद्धान्तों या विचारकों की ही रुचि है, सर्वसाधारण की दृष्टि से इसमें विशेष सफलता नहीं मिल रही है।

मानव धर्म की आवश्यकता और उसका स्वरूप—लोगों का जुदा-जुदा धर्म रहना ठीक नहीं। तथापि एक धर्म की जरूरत अवश्य है—ऐसे धर्म की जो मनुष्य जाति के टुकड़े टुकड़े न करे, वल्कि सब को मिलाए और एक दूसरे की सेवा-सहायता करने की प्रेरणा करे। इसमें वह किसी रङ्ग जाति, स्थान या मत आदि का भेद न माने। आदमी यह अनुभव कर रहे हैं कि जब तक ऐसे धर्म का चलन न होगा, संसार का अहित होता रहेगा, आदमी को सुख की नींद नसीब न होगी। इस लिए विद्वान और विचारवान इस विषय पर अपने भाषणों और लेखों द्वारा प्रकाश डाल रहे हैं। ऐसा धर्म मानव धर्म होगा और यह विश्वम्भर पके लिए होगा, यह अन्तर्राष्ट्रीय होगा।

मानव धर्म का अनुयायी इस बात का विचार करने में स्वतंत्र होगा कि ईश्वर है या नहीं, और यदि है तो उसका नाम और रूप कैसा है, उसकी पूजा-आराधना किस प्रकार करनी चाहिए। हाँ, कोई धार्मिक कृत्य ऐसा न होगा जिससे दूसरे भाइयों को असुविधा या हानि हो। मानव धर्म हमारे मानवी गुणों का—प्रेम, सेवा, सहानुभूति, संयम, सत्य, अहिन्सा आदि का—विकास करनेवाला होगा। वह सदाचार और संस्कृति का प्रमुख सहायक होगा। इस धर्म के अनुसार प्रत्येक आदमी सभी महापुरुषों का आदर करेगा—

राम और कृष्ण, बुद्ध और कन्फ्यूसियस, जरदुस्त, ईसा और मुहम्मद सब से यथेष्ट शिक्षा लेगा।

विशेष वक्तव्य—पहले कहा गया है कि प्रत्येक मुख्य धर्म अपने स्थान की दृष्टि से पूर्व प्रचलित धर्म का कुछ न कुछ विकसित स्वरूप होता है। हम आशा करते हैं और इस विश्वास में जीते हैं कि हम समय तक के सब धार्मिक आन्दोलनों का परिणाम मानव धर्म का विकास होगा। हमारी आराध्य देवी मानवता होगी, उसकी पूजा के लिए किसी खास मन्दिर, गिरजे या मसजिद की जरूरत न होगी; खेत, खलिहान, झोपड़े और कुटी जहाँ आदमी का निवास है, हमारे लिए पवित्र पूजा-स्थल होंगे। भाईचारा हमारा मूल मंत्र होगा; अपने भाइयों का कष्ट दूर करना, पिछड़े हुए को अपने बराबर लाना हमारा पूजा-पाठ होगा। प्रत्येक बालक, और युवा तथा वृद्ध में, पुरुष और स्त्री में हमें भगवान के दर्शन होंगे। यही नहीं, हम यथा-सम्भव प्राणी-मात्र में अपनेपन का और अपने अन्दर अन्य प्राणियों का अनुभव करेंगे। इस मानव धर्म की दिशा में उत्तरोत्तर बढ़ते रहना प्रत्येक व्यक्ति का परम कर्त्तव्य है और मनुष्य जाति प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उस दिशा में बढ़ रही है।

चौबीसवाँ अध्याय

सदाचार

नीति और सदाचार को धर्म का अंग मानने का परिणाम—यह बताया जा चुका है कि धार्मिक भावना का कुछ विकास होने पर आदमी नैतिक गुणों को महत्व देने लगा। हरेक धर्म ने अपने-अपने क्षेत्र में प्रेम दया, सहानुभूति, सच बोलना, सेवा और सहायता करना, आदि गुणों की ओर आदमी की प्रवृत्ति बढ़ाने में अच्छी सहायता की। नीति और सदाचार के नियमों को धर्म का अंग माना गया, और जो बात अनैतिक हो उसे धर्म-

विरुद्ध ठहराया गया। साधारणतया तर्क-बुद्धि जागृत न होने की दशा में अर्थात् कम विकसित समाज में आदमियों पर धर्म का बड़ा प्रभाव होता है। बस, जिस बात पर धर्म की मुहर लग गयी, जिसे शास्त्रों का आधार मिल गया, उसकी कोई अवहेलना करने का साहस नहीं करता। भारतीय पाठक जानते हैं कि यहाँ स्वास्थ्य-रक्षा, विवाह-शादी और जन्म-मृत्यु सम्बन्धी बहुत सी बातों को धर्म का अङ्ग माना गया है। ऐसा करने से साधारण आदमी भी उनका भरसक पालन करते हैं।

नीति या सदाचार का आधार धर्म को मानने से एक समस्या पैदा हो जाती है। धार्मिक भाव से नीति या सदाचार के नियम पालने वाले प्रायः नियम की भावना और उद्देश्य का विचार नहीं करते; वे आँख मीच कर रूढ़ि की तरह उसका पालन करते हैं। वे देश-काल की बदली हुई परि-स्थिति का ध्यान नहीं रखते। इस तरह वे उन नियमों को उस दशा में भी पालते रहते हैं, जब कि वे अनावश्यक और हानिकर हो जाते हैं। मिसाल के तौर पर 'पुराने पश्चिमी बादशाह सप्ताह के किसी शुभ दिन को समीप के किसी रोगी के पास जाकर अपने प्रति एक पुण्यलाभ का अनुभव किया करते थे। एक दिन बादशाह ने अपने गुलाम से पूछा—'आस-पास कोई बीमार है?' गुलाम ने उत्तर दिया—'नहीं सरकार, आपकी कृपा से सब स्वस्थ हो गये।' बादशाह बिगड़ उठा और बोला—'अभी तेरे हन्टर लग-वाता हूँ। तू खुद बीमार पड़ेगा और फिर मेरी दया से अच्छा होगा।' यही गुलाम इतना पीटा गया कि प्रायः अर्द्ध मूर्च्छित हो गया और बादशाह सला-मत के विशेष प्रयत्न से अच्छा हुआ।"* स्पष्ट है कि नैतिक नियमों का आधार धर्म मानना ठीक नहीं है।

नैतिक नियमों का आधार समाज-हित की भावना हो—एक बात और भी है। बहुधा धर्माचार्यों का यह कथन होता है कि धर्म या नैतिक नियमों को पालन करने से पुण्य होगा, स्वर्ग मिलेगा और पालन न करने से पाप होगा, नरक मिलेगा। इस पुण्य और स्वर्ग के प्रलोभन, या पाप

*श्री गंगाप्रसाद जी पांडेय एम० ए०, 'प्रताप' में

और नरक के भय का परिणाम समाज के लिए कुछ थोड़े समय के वास्ते तो अच्छा हो सकता है, लेकिन वह स्थायी नहीं होता। जब आदमी की बुद्धि का विकास हो जाता है तो वह ऐसी बातों पर विश्वास करना छोड़ देता है। इसलिए यह जरूरी है कि नैतिक नियमों का आधार धर्म, पुण्य और परलोक की कल्पनाएँ न होकर समाज-हित की भावना हो।

देश-काल का विचार—सदाचार या नीति के नियम पालने में देश-काल का ध्यान रखना जरूरी है। उदाहरण के लिए बड़ों की आज्ञा मानने की बात लें। अगर कोई आदमी अपने पुत्र को किसी सामाजिक रीति-रस्म का पालन करने (जैसे, हरिजनों को अछूत मानने) के लिए कहता है और लड़का अच्छी तरह यह समझता है कि यह बात ठीक नहीं है तो लड़के का कर्त्तव्य है कि उसका पालन न करे, वह सविनय अवज्ञा करे। इसी तरह नीति का नियम है कि जिसने हमारा पालन-पोषण किया, या जिसकी हम नौकरी करते हैं, उसके प्रति हम वफादार रहें। लेकिन अगर हमारा संरक्षक या मालिक चोरी, रिश्वत, अत्याचार या व्यभिचार आदि दुष्कर्मों में लगा है तो हम आँख मींच कर उसका साथ कैसे दे सकते हैं!

क्या सदाचार बढ़ रहा है?—क्या आदमी पहले से अधिक सच्चाई और ईमानदारी आदि का व्यवहार करता है? कहा जाता है कि 'अब से दो हजार वर्ष पहले की, विदेशी यात्रियों की, साक्षी मौजूद है कि भारतवर्ष में उस समय घरों के दरवाजे खुले रहने पर भी आदमी चोरी नहीं करते थे, बिना लिखा-पढ़ी किये अपना ऋण या कर्ज पाई-पाई चुका देते थे, और अपनी बात के पक्के होते थे। इसके खिलाफ, अब रोज चोरी, छलकपट के अनेक मामले होते हैं। इस जमाने में लोगों का चरित्र गिर रहा है।' जब कि सरकारी आंकड़ों के अनुसार भी यहाँ अनेक आदमी स्थायी रूप से भूखे नंगे रहते हैं तो यह आश्चर्य की बात नहीं है कि ये लोग अपने को जिन्दा रखने के लिए बेइमानी आदि का आसरा लें। इस तरह भारतवर्ष या किसी अन्य विशेष देश का उदाहरण लेना और उसके आधार पर यह कहना कि लोगों का सदाचार गिर रहा है, ठीक नहीं है।

आदमी ने नैतिक विषयों में धीरे-धीरे प्रगति ही की है। प्राचीन काल में आदमी अपने समूह वालों से ही प्रेम, दया, सहानुभूति, आदि का व्यवहार करता था। अपने समूह से बाहर के आदमियों के प्रति नीतिमान होने के लिए उस पर कोई बन्धन न था, और, उसका समूह प्राचीन काल में बहुत छोटा था। धीरे-धीरे समूह बड़े हुए। कबीले, जाति, राष्ट्र, राज्य, संघ-राज्य और साम्राज्य बने। अब आदमी इन बड़े-बड़े क्षेत्रों के प्रति अपनी जिम्मेवारी अनुभव करने लगा। बहुत से आदमी दूर-दूर के आदमियों से प्रेम, सहायता और सहानुभूति का परिचय देते हैं। अकसर एक जगह बाढ़, महामारी, दुर्भिक्ष या अग्निकाँड हो जाने पर दूर-दूर के देशों से आदमियों और धन (चन्दे या दान) की सहायता आती है। प्राचीन काल में भी कुछ लोगों में एक-दूसरे की सहायता करने की भावना रही है। लेकिन अब वह बढ़ रही है। अब ऐसे साधन भी हो गये हैं कि दुनिया के एक सिरे से दूसरे सिरे पर सहायता बहुत जल्दी पहुँच सकती है, और, जैसा ऊपर कहा गया है, अकसर पहुँचती भी है। हाँ इसमें बहुत वृद्धि की आवश्यकता है।

विशेष वक्तव्य—अब दुनिया के विविध हिस्सों का आपसी सम्बन्ध बहुत बढ़ गया है। इसलिए आदमी को सब धर्मों, सब जातियों और सब रंगों के आदमियों के प्रति सच्चा, ईमानदार या वफादार ही नहीं, दयालु सहायक और प्रेमी होना चाहिए। जरूरत है कि आदमी स्वार्थत्याग की भावना बढ़ाए, अपनी भौतिक और खासकर कृत्रिम आवश्यकताओं पर नियंत्रण करे, अपने मन को—अपने लोभ-मोह आदि को—वश में रखे जिससे उसमें सद्गुणों का विकास हो और नीति और सदाचार की वृद्धि हो

—:०:—

छठा भाग

मानसिक प्रगति

मनुष्य ने जो कुछ सोचा है, आज उसका जीवन उसी का फल है। प्रत्येक मनुष्य के भीतर जो उसका मन है, वही उसके विचारों का, उसके संकल्पों का, उत्पत्ति-स्थान है।...राष्ट्र का मन ही राष्ट्रीय कल्पवृक्ष है। इस कल्पवृक्ष के द्वारा ही राष्ट्र के भूत, वर्तमान और भविष्य में एकता का सूत्र पिरोया रहता है।

—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल

यह आवश्यक है कि विज्ञानवेत्ता शास्वत सत्य और नैतिक पुनरुत्थान पर भी ध्यान दें। असंतुलित एवं बुद्धि-रहित ज्ञान अन्ततः विनाश का कारण बन जाता है।

—गोविन्दवल्लभ पंत

पच्चीसवाँ अध्याय

भाषा

'देश में इस समय भी सैकड़ों छोटी-छोटी मुकामी बोलियाँ धीरे-धीरे खतम होकर किसी एक बड़ी बोली में मिलती जा रही हैं। हम सैकड़ों से बारह तक पहुँचे हैं, और जैसे और कई मामलों में वैसे ही भाषा या बोली के मामले में भी दुनिया धीरे-धीरे बहुत से कम, और कम से और कम, फिर शायद एक की तरह जा रही है। इसी पर मानव समाज की एकता और उन्नति का दारमदार है।' —सुन्दरलाल

भाषा की महिमा—भाषा आदमी के विचारों को प्रगट करने का महत्वपूर्ण साधन है। इसके अतिरिक्त उससे विचारों के पैदा होने या बढ़ने में भी बड़ी सहायता मिलती है। हमारे सोचने, विचारने, किसी बात की कल्पना करने, किसी चीज़ या आदमी को पहचानने आदि के काम बहुत-कुछ शब्द पर निर्भर रहते है। अकसर जब कोई आदमी हमें बहुत समय बाद मिलता है तो हम सोचते हैं कि यह आदमी कुछ परिचित तो है, पर उसके बारे में ज्यादा बातों का विचार नहीं कर पाते। आखिर में, जब हमें उसका नाम याद आ जाता है, या जब वह अपना नाम हमें बता देता है तो हमें उसके बारे में एक-साथ बहुत सी बातें अपने आप याद आ जाती हैं। इसी तरह कोई आदमी हम से कहता है कि मैंने बाजार में ऐसे रंग, ऐसे आकार और इतने वजन आदि की चीज देखी तो कई बार हम ठीक अन्दाज नहीं कर पाते कि वह चीज़ क्या है। लेकिन उसका नाम सुनने पर हमारे सामने उसके रूप-रङ्ग, आकार आदि का पूरा चित्र खिंच जाता है। इससे ज़ाहिर है कि एक-एक नाम या शब्द का कितना महत्व है; वह कितने विचारों या भावों को जागृत कर देता है।

भाषा से पहले संकेतों या इशारों का उपयोग—भाषा किस तरह बनी, यह बताना एक स्वतंत्र और बहुत जटिल विषय है। अपनी जरूरतें दूसरों को बताने के लिए गूंगे आदमी किस तरह कुछ चिह्नों का प्रयोग करते हैं, उससे इसका कुछ अन्दाज हो सकता है। मालूम होता है कि शुरू जमाने में आदमी हाथ मुँह आदि की हरकतों या इशारों से ही काम निकालते थे। मिसाल के तौर पर दो हाथों को अंजली बना कर उसे मुँह के पास लेजाने से प्यास का आशय लिया जाता है। आंख मीच कर सिर को एक हाथ के सहारे कुछ टेढ़ा करने से नींद का भाव जाहिर होता है। हाथ से पेट की ओर इशारा करने से भूख की बात दिखायी जाती है। हाथ जोड़ कर पैरों में सिर नवाने से माफी मांगने या दया चाहने की इच्छा सूचित होती है। इस तरह के अनेक उदाहरणों की कल्पना पाठक स्वत्रयं कर सकते हैं। यह स्पष्ट ही है कि संकेतों से पूरा भाव मालूम नहीं होता, और अंधेरे में वे दिखायी नहीं देते।

भाषा का निर्माण ; शब्दों का व्यवहार—धीरे-धीरे एक चीज के लिए कुछ खास-खास शब्दों का व्यवहार होने लगा। इनमें जो ज्यादा सरल या सुविधाजनक हुआ, उसी शब्द को लोगों ने अधिक अपनाया। आस-पास के आदमी उस शब्द का एक खास अर्थ लेने लग गये। शुरू-शुरू में मूल शब्द कैसे और कहाँ से लिये गये, इसके बारे में लोगों ने तरह-तरह के अनुमान किये हैं। सम्भव है कि आदमी ने कुछ शब्द ध्वनि या आवाज के आधार पर ग्रहण किये; पशु पक्षियों की पेड़, पत्तों की, पानी के चलने या गिरने की, आश्चर्य या खुशी में स्वयमेव निकलनेवाले शब्दों की, जैसी आवाज सुनी वैसे ही शब्द बना लिये गये। पर ऐसे शब्द किसी भाषा के कुल शब्दों में थोड़े ही होते हैं। मालूम होता है कि आदमी ने अन्य शब्द बिना किसी ऐसे आधार के स्वयं अपनी स्वाभाविक शक्ति से ही बनाये।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि पहले कुछ बहुत महत्व की, और थोड़ी सी ही, चीजों या बातों के लिए शब्द बने। पीछे इनकी संख्या धीरे-धीरे बढ़ी। ज्यों-ज्यों आमदरफ्त और सभ्यता बढ़ती गयी, भाषा की शब्द-सम्पत्ति बढ़ती रही।

जो समूह या जाति जितनी अधिक उन्नत होती गयी, उसकी भाषा उतनी ही अधिक विकसित हुई। भाषा के विकास की कहानी लम्बी है। हमें यहाँ संक्षेप में कुछ खास-खास बातों का ही जिक्र करना है।

क्या आरम्भ में भाषा एक ही थी? एक-एक वर्ग की भाषाएँ — भाषा के सम्बन्ध में एक प्रश्न यह है कि क्या पहले पहल कोई एक ही भाषा थी, जिससे दूसरी सब भाषाएँ बनीं, और पीछे देश-काल के भेद से जुदा-जुदा हो गयीं; अथवा, शुरू में कई भाषाएँ थीं, जो कभी-कभी आपस में मिलती रहीं और अब अनेक भाषाओं के रूप में मौजूद हैं। यह प्रश्न बहुत विवाद-ग्रस्त है। इसका उत्तर बहुत-कुछ इस बात पर निर्भर है कि क्या आरम्भ में मनुष्य जाति किसी एक ही जगह उत्पन्न हुई और वहाँ से संसार के सब स्थानों में गयी: अथवा, वह कई खास-खास जगह उत्पन्न हुई और वहाँ से बहुत से स्थानों में फैली। साधारण तौर से ऐसा माना जाता है कि संसार की मौजूदा सब जातियों को कुछ इनेगिने समूहों में विभक्त किया जा सकता है; इस समय की हर एक जाति का प्रादुर्भाव उन समूहों में से किसी एक से हुआ। इसी प्रकार भाषा-विज्ञान के विद्वानों का मत है कि संसार की वर्तमान भाषाओं के कुछ ऐसे वर्ग निश्चित किये जा सकते हैं; जिनमें से प्रत्येक वर्ग मूल में एक-दूसरे से जुदा है; अर्थात् सब भाषाओं का मूल कोई एक भाषा न होकर थोड़ी सी भाषाएँ थीं, जो पीछे अनेक भाषाओं में परिणत हो गयीं।

मिसाल के तौर पर फ़ारिस, यूनान, रोम, जर्मनी, फ्रांस, इंगलैण्ड आदि की भाषाएँ एक वर्ग की मानी जाती हैं। इन भाषाओं के शब्दों में जो सामान्यता है, वह यह जाहिर करती है कि किसी समय इनके बोलनेवालों के पूर्वजों की संस्कृति एक ही रही है। और, इन भाषाओं की विभिन्नता यह सूचित करती है कि पीछे जाकर उन लोगों की अपनी-अपनी प्रगति, उन्नति या अवनति होती रही है, उनके इतिहास, रस्मरिवाज, परम्परा, धर्म या समाज-व्यवस्था के विकास में अन्तर होता गया है।

प्राचीन काल में भाषाएँ बहुत अधिक थीं—पुराने जमाने में आदमी छोटे-छोटे गाँवों में रहते थे। एक गाँव के आदमियों का दूसरे गाँव वालों से,

और खासकर दूर-दूर के आदमियों से, बहुत कम सम्बन्ध होता था। आने-जाने की, और आपस में मिलने-जुलने की सुविधाएँ ही कम थीं। इसलिए अकसर पाँच-दस वर्ग मील के अन्दर रहनेवाले ही आपस में अच्छी तरह बातचीत कर सकते थे। उनकी इस दायरे से बाहर के आदमियों से उतनी अच्छी तरह बातचीत नहीं हो सकती थी। ज्यों-ज्यों फासला ज्यादा होता था, एक जगह के आदमियों के लिए दूसरी जगह वालों की भाषा समझना अधिक कठिन होता था; अकसर जैसे-तैसे इशारों से काम चलाना पड़ता था। हर बीस-पचीस वर्ग मील के अन्दर के आदमियों की एक अलग-अलग दुनिया थी। जिसे हम आजकल एक देश कहते हैं, वह पहले सैकड़ों टुकड़ों में बटा हुआ था, और हरेक टुकड़े की भाषा बहुत-कुछ जुदा-जुदा थी। इस प्रकार प्राचीन काल में आजकल की अपेक्षा कहीं अधिक भाषाएँ प्रचलित थीं।

नये शब्दों का निर्माण—खास तौर से व्यापार या लड़ाई आदि में दूर-दूर के आदमियों का मिलना हुआ; कभी-कभी उन्हें एक-दूसरे के पास रहने का भी प्रसंग आया। इस प्रकार एक भाषा के बोलनेवालों ने दूसरी भाषा-वालों से कुछ शब्द या मुहावरे लिये, और कुछ दिये भी। हरेक भाषा में कुछ नये शब्द आते रहे। हाँ, कुछ शब्दों का अर्थ धीरे-धीरे बदला भी; और कुछ शब्दों का व्यवहार बन्द भी हुआ।

प्रत्येक भाषा में कुछ नये शब्द जुड़ते रहते हैं। चूँकि इन शब्दों का बहुधा कोई धातुगत आधार नहीं रहता, इसलिए व्याकरण-शास्त्री अथवा भाषा-विशारद उनका भरसक बहिष्कार करने की चेष्टा करते रहते हैं, पर चूँकि जनता उन्हें प्रतिक्षण की बोलचाल में अपनालेती है, इसलिए वे उसका बहिष्कार करने में असफल सिद्ध होते हैं। धीरे-धीरे वे शब्द भाषा की मिट्टी में जड़ पकड़ लेते हैं, और भावी युग के शब्द-कोषों को झख मारकर उन्हें स्वीकार करना पड़ता है।

मिली-जुली भाषाएँ; विश्व भाषा की आशा—मिली हुई सीमाओं वाले राज्यों या देशों के पास-पास के आदमियों ने, और एक बड़े देश में

रहनेवाली जुदा-जुदा जातियों ने, एक मिली हुई भाषा की जरूरत और फायदे समझे। कुछ ने उसके बनाने में अमली हिस्सा लिया, और कुछ ने अनजाने उनका साथ दिया। पर कुछ लोगों का यह मत रहा कि हमारी भाषा बिल्कुल शुद्ध रहे, इन्हें दूसरी भाषा का कोई शब्द, मुहावरा, या शैली लेना स्वीकार न था। इन्होंने अपनी भाषा को व्याकरण के बहुत कठोर नियमों से जकड़ना चाहा। जहाँ ऐसे लोगों की बात चली, वहाँ भाषा का प्रवाह रुक गया और कुछ दशाओं में वह भाषा मुर्दा भाषाओं में गिनी जाने लगी। लेकिन बहुत से स्थानों में ऐसे लोगों की बात विशेष चली नहीं। जो लोग मिली-जुली भाषा की निन्दा करते थे, उन्हें भी पीछे जाकर उसका थोड़ा-बहुत उपयोग करना पड़ा और, आनेवाली पीढ़ियों ने तो उसे अपना ही लिया। मिली-जुली भाषाओं ने एक-एक देश के जुदा-जुदा हिस्सों को मिलाया। यह क्रिया लगातार जारी रहने का ही यह नतीजा है कि हम छोटे-छोटे क्षेत्रवाली भाषाओं और नगर-राज्यों की जगह अब राष्ट्र-भाषाओं और राष्ट्र-राज्यों तक आ पहुँचे हैं; और, यह आशा करने लगे हैं कि धीरे-धीरे कुछ पीढ़ियों के बाद एक दिन ऐसा भी आएगा, जब विश्व-भाषा का विकास हो जाएगा, जो संसार भर के आदमियों के लिए विचार-विनिमय का साधन होगी और विश्व-राज्य या विश्व-संघ के निर्माण में सहायक होगी।

विश्व-भाषा का प्रचार होने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि संसार की अन्य सब भाषाओं का लोप हो जाए। जिस तरह भारतवर्ष में राष्ट्र-भाषा हिन्दी (हिन्दुस्तानी) की उन्नति के साथ बंगला, मराठी, गुजराती, तामिल, तेलगू, कन्नड़ और मलयालम उन्नति कर सकती हैं, और कर रही हैं, उसी तरह विश्व-भाषा के साथ संसार में कुछ बड़ी-बड़ी भाषाएँ भी रहेंगी। हाँ, सब मौजूदा राष्ट्र-भाषाओं के रहने की आशा नहीं की जा सकती, और आवश्यकता भी नहीं है। दुनियाँ की अनेक उपभाषाएँ या भाषाएँ लुप्त होती रही हैं; कई-कई भाषाओं और उपभाषाओं को हटा कर उनका स्थान एक अधिक योग्य और उपयोगी भाषा ने ले लिया है। इसका अफसोस करने की जरूरत नहीं। यह स्वाभाविक ही है, और मानव समाज के लिए हितकर भी।

भाषाओं के विकास की जरूरत—अस्तु, भाषाओं का विकास हो रहा है। अभी कोई भी भाषा पूर्ण नहीं कही जा सकती। हम बातचीत करते हुए अनेक बार यह अनुभव करते हैं कि हमारे कथन से सुनने वाले को यथेष्ट ज्ञान नहीं हो रहा है, कुछ भावों को प्रकट करने के लिए हमें समुचित शब्द नहीं मिलते। कई बार भाषण करने में अच्छे-अच्छे वक्ताओं को भी हाथ और चेहरे की हरकतों का, या दूसरी भाषाओं के शब्दों का, सहारा लेना पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि भाषाओं के विकास की बहुत गुञ्जाइश और आवश्यकता है; विद्वानों को इसमें भरसक सहयोग प्रदान करना चाहिए।

विशेष वक्तव्य—भाषा के रूप में हमें एक बड़ी शक्ति मिली है। हमें चाहिए कि हम इस शक्ति का सदा सदुपयोग करें। जब कोई आदमी दूसरे को गाली देता है, झूठ बोलता है, किसी की निन्दा, चुगली या खुशामद करता है, अथवा किसी प्रकार के बुरे शब्दों का व्यवहार करता है तो वह एक महत्वपूर्ण दैवी देन का दुरुपयोग करता है। किसी भाषा में कुछ अपशब्दों का होना, उसे बोलनेवालों के लिए बड़े कलङ्क की बात है। हमें इन शब्दों का उपयोग छोड़ कर इन्हें अप्रचलित या बेकाम बनाना है। इसके लिए आवश्यकता है कि हम क्रोध और ईर्षा-द्वेष आदि को अपने मन से दूर भगाएँ, और अपनी बात व्यवहार में संयम और निग्रह से काम लें। भाषाओं को ऊँचा बनाने के लिए आदमी को ऊँचा बनना है।

छब्बीसवाँ अध्याय

लिपि

पेरु देश की सुन्दरियाँ रज्जु से लटकते हुए नाना वर्णों के तागों की रज्जु के साथ दी हुई ग्रन्थियों द्वारा राजकीय और ऐतिहासिक घटनाएँ तक लिपिबद्ध करने लगीं। साथ ही कोयल की 'कुहू-कुहू' की

माधुरी से मुग्ध हो उसे "कुहू-कुहू," कहकर पुकारने के लिए उनकी वाग्-शक्ति फूट पड़ी और भाषा की सृष्टि हुई। फिर हमने सुना—शकुन्तला जैसी आर्य बालाओं ने कमल-पत्र और भोज-पत्रों में भाषा-लिपि अङ्कित की।"

—एक पत्रक

लिपि का प्रारम्भ; चित्र लिपि—आदमी ने लिखने का ढङ्ग अपना मन बहलाने के लिए ही नहीं निकाला, उसे यह काम मजबूर होकर करना पड़ा। पहले बताया जा चुका है कि पशु-पालन और खेती का अविष्कार होने पर आदमियों में मिल्कियत या स्वामित्व का भाव पैदा हुआ। वे सोचने लगे कि यह चीज मेरी है, और यह दूसरे की। अब एक समस्या पैदा हुई। अपनी चीजों की पहचान कैसे हो, जिससे उनकी रक्षा की जाए। कल्पना करो, एक जगह दस समूह रहते थे, जिनमें से हरेक के पास कुछ-कुछ पशु थे। जङ्गल में चरने या पानी पीने आदि के समय एक समूह के पशुओं का दूसरे पशुओं में मिल जाना स्वाभाविक था, फिर उन्हें अलग-अलग कैसे किया जाए? यह कैसे मालूम हो कि अमुक पशु रामू का ही है, शामू या मोहन का नहीं?

जब कि आपसी वाद-विवाद मिटाने के लिए हरेक अपने डंडे का सहारा लेने को तैयार रहता था तो समय-समय पर लोगों में मारपीट हो जाना स्वाभाविक था। इसका अन्त करने के लिए धीरे-धीरे किसी के दिमाग में यह बात आयी कि अलग-अलग समूहों के पशुओं पर जुदा-जुदा निशान लगाए जाएँ। जहाँ एक बार यह रीति चली तो दूसरी चीजों पर भी निशान लगाये जाने लगे। किसी ने अपनी चीजों पर सीधी लकीर खींची, किसी ने आड़ी, और किसी ने तिर्छी; किसी ने एक-एक लकीर से काम लिया, किसी ने दो-दो लकीरें खींचीं, और किसी ने तीन-तीन। ये आड़ी टेढ़ी लकीरें, ये बेढङ्गे किरमकाँटे मनुष्य जाति की शुरू की हालत में बहुत उपयोगी हुए।* इनके

* आजकल भी अनपढ़ धोबी बहुत से घरों के कपड़े एक-साथ धोता है, तो उनकी पहिचान के लिए एक-एक घर के कपड़ों पर जुदा-जुदा निशान बना लेता है।

आविष्कार ने उस समय की अनेक लड़ाई झगड़ों का अन्त कर दिया, और लिपि या लिखावट की नींव डाल दी। पीछे आने वाली पीढ़ियों के बुद्धिमान लोगों ने अपनी सूझबूझ से काम लेकर उसमें तरह-तरह के सुधार किये, और लिपि के विकास का रास्ता साफ किया।

लिपि के आविष्कार ने आदमी को तरह-तरह की बहुत सी बातें याद रखने में कैसी मदद दी है! किसी अनपढ़ आदमी को जब कोई बात याद रखनी होती है तो वह अपने पहनने के कपड़े के सिरे पर गाँठ लगा लेता है। इस गाँठ को देखकर आदमी को उस बात की याद आती रहती है, आखिर जब वह काम पूरा हो जाता है, और उस बात को याद रखने की जरूरत नहीं रहती तो गाँठ खोल दी जाती है। यह बात इतनी प्रचलित है कि हिन्दी भाषा में 'पल्ले गाँठ बाँधना' कहावत हो गयी है। यह तो जाहिर ही है कि याद रखने का यह तरीका बहुत उपयोगी नहीं है, खासकर जब कि कई बातें एक साथ या कुछ बातें ब्योरेवार याद रखनी हों। मिसाल के तौर पर प्राचीन काल में दो कबीलों में लड़ाई के बाद संधि होती थी और उनमें दोनों पक्ष की ओर से कुछ शर्तें तय होती थीं। क्या उपाय किया जाए कि ये शर्तें पीछे भी याद रहें? ऐसे अवसरों के लिए कहीं-कहीं आदमी ने चित्रों का उपयोग किया; याद रखने योग्य घटना को यथासम्भव पर्ण रूप से चित्र में जाहिर किया गया। इस तरह के कुछ चित्र बहुत पुराने जमाने की गुफाओं में मिले हैं। पहले चित्र मूल वस्तु की आकृति या शक्ल से मिलता हुआ होता था, पीछे उसका रूप धीरे-धीरे संक्षिप्त होता रहा, और काफी बदलता रहा।

वर्णमाला के अक्षर—समय बीतता गया। कुछ लोगों ने चित्र-लिपि में एक और कदम बढ़ाया। चित्रों से किसी चीज के बजाय, कोई विचार जाहिर किया जाने लगा। सम्भव है, इसके बाद अनेक सदियाँ बीत जाने पर चित्रों का उपयोग ध्वनि या शब्द को जाहिर करने के लिए होने लगा। इसके बाद (संक्षित) चित्र से शब्द का उतना अंश सूचित किया जाने लगा, जितना

४४—पूंजीवाद

पूंजीवाद का अर्थ—पूंजीवाद से पहले की स्थिति—उत्पादन की नयी विधि; कल कारखाने—पूंजीवाद का प्रारम्भ; औद्योगिक क्रान्ति—पूंजीवाद का मुख्य लक्षण; उत्पत्ति और वितरण का केन्द्रीकरण—पूंजीवाद के लाभ भ्रमात्मक और अस्थायी—पूंजीवाद की वृद्धि विनाशकारी; उपभोक्ताओं की दृष्टि से—समुद्र में भी मीन प्यासो—उत्पादकों की दृष्टि से विचार; मजदूरों की अवहेलना—वर्ग संघर्ष—बेकारी; शरीर-श्रमियों की और बुद्धिजीवियों की—जनतंत्र का ह्रास—साम्राज्यवाद—महायुद्ध—अन्याय और हिन्सा—पूंजीवाद का क्षयरोग—पूंजीवाद का विरोध और उसकी प्रतिक्रिया—फासिस्ट-वाद—नाजीवाद—विशेष वक्तव्य। पृष्ठ २६३—३०६

४५—समाजवाद

सामाजिक भावना—समाजवाद के मुख्य लक्षण—समाजवाद और व्यक्तिवाद—समाजवाद का वैज्ञानिक विवेचन, मार्क्सवाद—कार्लमार्क्स के मुख्य सिद्धान्त—उत्पत्ति के साधनों का राष्ट्रीकरण—वितरण सम्बन्धी विचार—उद्देश्य-सिद्धि के मार्ग; दो मत—समाजवाद के भेद—राजकीय समाजवाद—मजदूर-संघवाद—श्रेणी-समाजवाद--अराजवाद–अराजवादी विचारक—अराज-वाद और मार्क्सवाद—अराजवाद और अन्य समाजवाद—समाजवाद आन्दोलन से लाभ—समाजवाद में बताये जाने वालों गुणों की आलोचना—समाजवाद की खास कमी—समाजवाद का प्रयोग—समाजवाद और पूंजीवाद की मिली-जुली व्यवस्था—भारत में समाजवाद—चौदह सूत्री कार्यक्रम—कार्यक्रम सम्बन्धी विचार—विशेष वक्तव्य। पृष्ठ ३०६—३३०

४६—साम्यवाद

साम्यवाद क्या है ?—समानता की भावना—शोषण की वृद्धि, उसके निवारण का विचार आधुनिक साम्यवाद का प्रादुर्भाव—साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना—साम्यवादी कार्यक्रम; परिवर्तन-काल की व्यवस्था—राज्यहीन समाज—विश्व-क्रान्ति का सिद्धान्त और इसका प्रयोग—आधुनिक साम्यवाद से लाभ और उनकी असलियत—साम्यवाद और पूंजीवाद—साम्यवाद और

एक बार में बोला जाता है, और पीछे जाकर उससे वर्णमाला का एक अक्षर ही जाहिर किया जाने लगा।

अक्षरों की उत्पत्ति कई तरह से हुई होगी। देवनागरी लिपि के सम्बन्ध में रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने श्री० शामा शास्त्री का यह मत उद्धृत किया है कि "देवताओं की प्रतिमा बनने के पूर्व उनकी उपासना सांकेतिक चिह्नों द्वारा होती थी, जो कई प्रकार के त्रिकोणादि यंत्रों के मध्य में लिखे जाते थे, और वे यंत्र 'देवनगर' कहलाते थे। उन देवनगरों के मध्य लिखे जानेवाले अनेक प्रकार के सांकेतिक चिह्न कालान्तर में अक्षर माने जाने लगे; इसी से उनका नाम 'देवनागरी हुआ।"*

लिपियों का प्रचार और विकास—अब संसार के अलग-अलग हिस्सों में जुदा-जुदा तरह की लिपियों का चलन है। प्राचीन काल में कोई-कोई लिपि दूर-दूर तक फैलती गयी, और स्थान-भेद से उसमें समय-समय पर परिवर्तन भी होता रहा। छापेखाने ने लिपियों को कुछ स्थिरता प्रदान करदी है। पहले उनमें बहुत परिवर्तन हुआ था। मिसाल के तौर पर श्री० ओझा जी ने लिखा है कि मध्य एशिया, जापान आदि से मिले हुए थोड़े से नागरी लिपि के प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों एवं हमारे यहाँ मिले हुए असंख्य प्राचीन शिलालेख, ताम्रपत्र और सिक्कों की नागरी लिपि में, वर्तमान नागरी लिपि से बड़ा अन्तर है, जो समय के साथ क्रमशः बढ़ता गया है। जिसको प्राचीन नागरी लिपि का बोध न हो ऐसे विद्वान के सामने यदि अशोक के लेख का फोटो रख दिया जाए तो वह उसकी लिपि को कभी नागरी न कहेगा। इतना ही नहीं, वह इस बात को सहसा स्वीकार भी न करेगा कि उस विलक्षण लिपि के परिवर्तन होते-होते हमारी वर्तमान नागरी लिपि बनी है। .....यह कहना अनुचित न होगा कि अशोक के लेखों की नागरी लिपि वर्तमान नागरी से अधिक सरल थी, और गुजराती लिपि की तरह उसके अक्षरों के सिर नहीं बनते थे। परन्तु पीछे लेखकों के हाथ से उसके अनेक रूपान्तर हुए, जिनके

*देखिए, 'नागरी अङ्क और अक्षर' पुस्तक।

मुख्य तीन कारण अनुमान किये जा सकते हैं—(१) अक्षरों के सिर बनाना। (२) अक्षरों को सुन्दर बनाने का यत्न करना। (३) त्वरा (जल्दी) से लिखना तथा क़लम को उठाये बिना अक्षर को पूरा लिखना।' इससे स्पष्ट है कि देवनागरी लिपि का धीरे-धीरे विकास हुआ है। यही बात अन्य लिपियों के सम्बन्ध में कही जा सकती है।

विविध लिपियों का क्रम-विकास एक ही नहीं, कई स्वतंत्र पुस्तकों का विषय है। यहाँ इतना ही जिक्र कर देना है कि बहुत से विद्वानों का मत है कि देवनागरी के अक्षरों से कई लिपियों का निर्माण हुआ। इस विषय पर श्री० केशवदेव मिश्र ने 'नागरी अङ्क और अक्षर' पुस्तक में प्रकाश डाला है। उन्होंने लिखा है कि बङ्गला गुजराती और गुरुमुखी लिपियों की वर्ण-माला देवनागरी अक्षरों से प्रभावित हुई है। न केवल इन लिपियों के सङ्ग-सङ्ग देवनागरी अङ्क गये हैं, परन्तु अर्बी, फारसी और अँगरेजी लिपियों में भी देव-नागरी अङ्क लिये गये हैं।

लिपि के मुख्य गुण—लिपि में खासकर ये गुण देखे जाते हैं--(१) सौंदर्य (२) शीघ्र-लेखन, और (३) निश्चय अर्थात् हरेक अक्षर की एक निश्चित ध्वनि; और हरेक ध्वनि के लिए एक खास अक्षर; इस तरह जो लिखा जाए, वही पढ़ा जाय। संसार भर में जितनी भी लिपियाँ हैं, उनमें इन तीन गुणों में कोई एक या अधिक अवश्य होंगे। इन गुणों में निश्चय का गुण बहुत ही आवश्यक और महत्वपूर्ण है। इस गुण की दृष्टि से भारतवर्ष की देव-नागरी या नागरी लिपि का स्थान बहुत ऊँचा है। जल्दी लिखने के लिए इसके अक्षरों के ऊपर की रेखा हटायी जा सकती है। ऐसा करते समय ख, ध, भ, और ण का रूप कुछ बदलने की जरूरत होती है।

देश-काल के अनुसार चीजों को परखने की कसौटी बदलती रहती है। किसी लिपि के गुणों में इस बात का भी विचार किया जाता है कि उसमें शिक्षा आसानी से दी जा सके, तथा उसमें टाइप करने तथा छापने की सुविधा हो। इस दृष्टि से विविध लिपियों के कुछ अक्षरों के रूप आदि में कुछ परिवर्तन किया जा रहा है।

लिपि की सहायता से भाषा का प्रचार—लिपि का सहारा पाकर ही आदमी की भाषा ने दूर-दूर के स्थानों में पहुँचने में कामयाबी हासिल की है। भाषा के द्वारा हम अपने विचार दूसरों को जाहिर तो कर सकते हैं; और दूसरों के विचार हम जान भी सकते हैं, पर यह उसी दशा में हो सकता है, जब दूसरा आदमी हमारे सामने हो, या कम-से-कम इतना पास हो कि एक की आवाज दूसरे तक जा सके। आदमी की सुनने की शक्ति बहुत परिमित ही है; वह बिना यंत्रों के सहारे (जिनका आविष्कार थोड़े से समय से ही हुआ है, और जिनका अब भी सर्वसाधारण के लिए काफी उपयोग नहीं है) थोड़े से ही फासले की बात सुन सकता है। दूर-दूर तक अपनी बात कैसे पहुँचायी जाए ! यह समस्या धीरे-धीरे आदमी के सामने आयी; इसे लिपि के आविष्कार ने हल किया। आदमी अपनी बात लिख कर बहुत दूर रहनेवालों के पास भी पहुँचाने लगा।

लिपि सम्बन्धी संकीर्णता—लिपि का प्रचार तथा यातायात के साधनों की उन्नति हो जाने पर अब यह सम्भव हो गया है कि संसार के एक कोने पर रहनेवाला आदमी दूसरे सिरे के आदमियों के विचार जान सके और उन्हें अपने विचारों से परिचित कर सके। लेकिन अभी यह बात पूरी तरह से अमल में नहीं आ रही है। इसमें हमारी भावना और संकीर्णता बाधक है। हम एक श्रेष्ट लिपि को न अपना कर तरह-तरह की जुदा-जुदा लिपियाँ काम में लाते हैं। बहुत से आदमी अपने प्रान्त की लिपि का प्रचार चाहते हैं; कितने ही आदमी उस लिपि को विशेष महत्त्व देना चाहते हैं, जो उनको धर्म-पुस्तकों की मूल लिपि है; कुछ आदमी अपने शासकों की लिपि का उपयोग करने को मजबूर हैं, या करना लाभकारी समझते हैं।

जुदा-जुदा लिपियां—संसार के विविध हिस्सों में समय-समय पर जुदा-जुदा लिपि, अथवा एक-एक लिपि के जुदा-जुदा रूप रहे हैं। उनमें समय-समय पर लोगों की भावना तथा आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन होता रहा है। बहुत सी लिपियाँ अब लुप्त हो गयी हैं। नयी-नयी लिपियों के निर्माण का काम भी होता रहा है। इस समय जुदा-जुदा देशों में ही नहीं, कितने ही

देशों के अलग-अलग हिस्सों में भी अलग-अलग लिपियाँ प्रचलित हैं; एक ही भाषा बोलने वाले बहुत से आदमी कई-कई लिपियों का व्यवहार कर रहे हैं। अधिकतर लिपियाँ बायें से दायें को लिखी जाती हैं, जैसे कि देवनागरी लिखी जाती है। लेकिन कुछ लिपि ऐसी हैं जो दायें से बायें को लिखी जाती हैं, जैसे कि फार्सी लिपि। और, कुछ लिपि तो ऊपर से नीचे को लिखी जाती हैं, जैसे चीन की लिपि। निदान, तरह-तरह की बहुत सी लिपियाँ चल रही हैं।

शीघ्र-लिपि या शार्टहैन्ड—आजकल जल्दी लिखने की आवश्यकता बढ़ती जाती है। हम चाहते हैं कि जिस रफ्तार से आदमी बोल सकता है, या बातचीत कर सकता है, उसी रफ्तार से लिखा भी जा सके। इस उद्देश्य से बहुत से लोगों ने पहले घसीटवाँ लिखना आरम्भ किया, या कुछ खास-खास बातें भाषण आदि के समय नोट करके ब्योरेवार बातों की पूर्ति पीछे की, या कुछ खास-खास शब्दों को संकेत रूप में लिखने और कम महत्व वाले शब्दों को छोड़ देने की पद्धति से काम लिया। पर पीछे जाकर आदमी को इससे भी संतोष न हुआ। वह कुछ और सुधार की बात सोचता रहा। अन्त में शीघ्र-लिपि या 'शार्टहैंड' का आविष्कार किया गया।

शार्टहैंड में प्रत्येक ध्वनि के लिए एक छोटी सी सीधी, आड़ी या टेढ़ी रेखा निश्चित है। इस लिपि में लिखते समय कोई शब्द छोड़ा नहीं जाता; सब शब्द निर्धारित रेखाओं के संकेतों में व्यक्त किये जाते हैं। पीछे आवश्यकता या सुविधा होने पर इस लिपि में लिखा लेख साधारण लिपि में तैयार किया जा सकता है। इस लिपि के सहारे सभा-सोसायटियों के भाषणों और नेताओं के वक्तव्यों आदि की पूरी रिपोर्ट ली जाती है, यहाँ तक कि किसी लेखक के केवल भाषण देने से ही, उसका लेख या पुस्तक तैयार की जा सकती है। शार्टहैंड लेखक किसी अच्छी और दुर्लभ पुस्तक को थोड़े समय के लिए माँग कर उसके आवश्यक हिस्सों की सहज ही नकल कर सकता है।

अंगरेजी में पिटमेन की शार्टहैंड की पुस्तक प्रथम बार सन् १८३७ में प्रकाशित हुई थी। तब से समय-समय पर इसमें कुछ परिवर्तन या सुधार होते

रहे हैं। हिन्दी आदि दूसरी भाषाओं में कुछ उसी ढंग पर शार्टहैंड लेख-प्रणाली चलायी गयी है।

विश्व-लिपि का प्रश्न—पहले कहा गया है कि इस समय जगह-जगह जुदा-जुदा लिपियाँ प्रचलित हैं। संसार भर की बात तो दूर रही, कितने ही देशों में भी एक-एक सामान्य लिपि नहीं है। यह स्पष्ट ही है कि आदमी सब लिपियाँ नहीं सीख सकता। और, यह भी कुछ आसान काम नहीं है कि संसार भर का सभी श्रेष्ठ साहित्य किसी एक लिपि (और एक भाषा) में प्रकाशित हो। इसका नतीजा यह होता है कि प्रत्येक लिपि में लिखी या छपी पुस्तकों का प्रचार सीमित रहता है, सब आदमी उससे लाभ नहीं उठा सकते; मनुष्य जाति की एकता में बाधा पड़ती है, और लोगों को बहुत कठिनाई होती है। समय-समय पर इस बात का विचार हुआ है कि कोई एक लिपि ऐसी हो, जो संसार भर के आदमियों के अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के लिए काम में लायी जाए, और विश्व-लिपि बनकर सारी मनुष्य जाति की एकता में सहायक हो। इस दिशा में प्रयत्न हो रहे हैं।

लिपि-ज्ञान का सदुपयोग—आदमी ने अपने विचारों को लिपि-बद्ध करके साहित्य को स्थूल रूप देना सीख लिया है, और इस काम में वह उन्नति कर रहा है। इसके साथ एक विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या लिखना और क्या नहीं लिखना चाहिए। यदि अनावश्यक या हानिकर बातें लिखी जाएँगी तो यह लिपि-ज्ञान का दुरुपयोग ही होगा। इस ओर आदमी को बहुत सावधान और सतर्क रहने की जरूरत है। इस विषय पर विशेष आगे साहित्य के प्रसङ्ग में लिखा जायगा।

× × ×

लिखने के साधन— आजकल लिखना प्रायः कागज पर ही होता है पर कागज बनाने की योग्यता प्राप्त करने के लिए आदमी को न-जाने कितनी मंजिलें तय करनी पड़ी हैं, और उनमें कितने हजार वर्ष लगे होंगे। पुराने जमाने में आदमी चमड़े के टुकड़े पर ही कुछ लिख लिया करता होगा; फिर,

पत्थर का इस्तेमाल जान लेने पर वह किसी तेज नोकदार चीज से पत्थर पर लिखने लगा होगा। अनेक स्थानों में अब भी पुराने शिला-लेख मिलते हैं। कहीं-कहीं मिट्टी की पकाई हुई इंटों पर भी तरह-तरह के लेख मिले हैं।

पत्थर पर की पुरानी लिखावट के नमूने लाटों पर बहुत जगह मिलते हैं; भारतवर्ष में अशोक आदि की लाट मशहूर हैं। ताम्बे के पत्रों पर भी लिखा गया है। यहाँ के राजाओं ने किसी को जो भूमि दान की है, तो उसके सम्बन्ध में लिखे हुए ताम्रपत्र अब भी लोगों के पास मौजूद हैं। धीरे-धीरे ताड़पत्र, भोजपत्र आदि पर लिखने का विचार हुआ। ताम्रपत्र और भोजपत्र अपने समय की आवश्यकताओं और परिस्थितियों के सूचक है, पीछे इन्हें सामाजिक या धार्मिक महत्व मिल गया। उदाहरण के लिए अब भी बहुधा मन्त्र-तन्त्र भोजपत्र पर लिखे जाते हैं। जो हो; घास, लकड़ी या बाँस के गूदे से कागज बनाने का काम बहुत मुद्दत बाद शुरू हुआ। पहले कागज कैसा मोटा और खुरदरा होता था, इसका कुछ अन्दाज हाथ के बने साधारण कागज से किया जा सकता है। धीरे-धीरे इसमें सुधार किया गया। अब तो मशीनों से कार-खानों में तरह-तरह का सुन्दर, चिकना, और कई रंगों का बढ़िया कागज बनाया जाता है।

पेंसिल के बारे में साप्ताहिक 'भारत' के एक लेख में बताया गया था कि मध्ययुग के जर्मन संन्यासी अपनी पांडुलिपियों को सजाने के लिए ग्रेफाइट नामक एक विशेष धातु के टुकड़े को काम में लाया करते थे। उस टुकड़े से वे अपनी पांडुलिपि के चारों ओर लकीरें खींचते थे। बाद में एक संन्यासी ने सोचा कि उस टुकड़े को हाथ से पकड़ने से हाथ गंदा हो जाता है। इसलिए उसने यह तरकीब निकाली कि खोखली लकड़ी के भीतर ग्रेफाइट के उस टुकड़े को बिठा दिया और तब उससे लिखना शुरू किया। इस प्रकार पेंसिल का आविष्कार हुआ। पर जिस रूप में पेंसिल आज काम में लायी जाती है उसका आविष्कार सन् १७६४ के पहले नहीं हो पाया था।

अब कलम की बात लीजिए। इसके, पुराने जमाने में, अनेक रूप रहे हैं। सम्भव है, शुरू-शुरू में नोकदार हड्डी से लिखने का काम लिया गया हो;

फिर पत्थर, धातु,और लकड़ी की नोकदार डंडी ने काम दिया हो। भारतवर्ष में अब भी बहुत से आदमी नेजे या सरकंडे की कलम का उपयोग करते हैं। अब 'सभ्य' आदमी बहुत आगे बढ़ गया है; बढ़िया-बढ़िया निब वाले होल्डर ही नहीं, फाउन्टेन-पेन का इस्तेमाल करता है, जिसमें कलम के साथ रोशनाई का भी इन्तजाम रहता है। रोशनाई को मौजूदा रूपरंग तक लाने में भी आदमी ने कई मंजिलें तय की हैं; पाठक उनका विचार स्वयं कर लें।

इस तरह नयी-नयी लिपियों के बनने से, और लिखने के नये-नये साधनों के आविष्कार से, यह साफ जाहिर है कि इन विषयों में भी प्रगति या विकास ही संसार का नियम है।

सत्ताइसवाँ अध्याय

साहित्य

—:०:—

साहित्य सदा प्रगतिशील है, क्योंकि वह जीवन का चित्र है, और जीवन सदा आगे बढ़ता है। प्रगतिशील होना जैसे जीवन का लक्षण है, वैसे ही साहित्य का भी। —जयन्तीलाल रुइया

साहित्य का क्षेत्र—साहित्य में हमने ललित साहित्य के अतिरिक्त अर्थ-शास्त्र,राजनीति,विज्ञान,आदि भी माना है। इस प्रकार 'साहित्य' शब्द का उपयोग हम यहाँ उस व्यापक रूप में कर रहे हैं, जिसे 'वाङ्मय' कहा जाता है। प्रायः सब से पुराना साहित्य भारतवर्ष का ऋग्वेद माना जाता है, जिसे अधिकांश योरुपीय विद्वान ईसा से छः-सात हजार वर्ष पहले का मानते हैं।

प्राचीन काल में साहित्य के इतने अलग-अलग भेद नहीं थे। यद्यपि भारतवर्ष में कुछ स्थूल सा वर्गीकरण बहुत समय से है, यहाँ के भी प्राचीन साहित्यकार अपने एक-एक ग्रंथ का क्षेत्र इतना व्यापक रखते थे कि आजकल

के दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि उनमें अनेक विषयों का मिश्रण है। मिसाल के तौर पर पुराणों का क्षेत्र कितना व्यापक है, यह इस बात से जाना जा सकता है कि उनमें आगे दिये हुए सब विषयों का विवेचन है– जगत की उत्पत्ति कैसे हुई; सृष्टि हो जाने पर पृथ्वी के ऊपर नदी, सागर, पर्वत किस प्रकार हुए; वृक्ष, लता, जीव जन्तुओं, और पीछे मनुष्य की सृष्टि किस प्रकार हुई; मनुष्यों ने किस तरह देश-देशान्तरों में जाकर निवास किया, कैसे वे जुदा-जुदा जातियों में विभक्त हुए, किस तरह उन्होंने घर आदि बनाना सीखा, खेती और उद्योग धंधों का ज्ञान प्राप्त किया. कैसी-कैसी शासनपद्धति अमल में आयी, कैसे-कैसे राजवंश हुए, इत्यादि। महाभारत–लेखक ने साफ तौर से यह दावा किया कि जो महाभारत में नहीं है, वह कहीं नहीं है, अर्थात् महाभारत में सभी विषयों का समावेश है।

साहित्य का वर्गीकरण— ज्यों ज्यों साहित्य बढ़ता गया, उसके अलग-अलग वर्ग बनने लगे एक-एक ग्रंथ में किसी एक खास विषय का ही विचार होने लगा। वर्गीकरण की खास वृद्धि बहुत थोड़े समय से, उन्नीसवीं सदी से ही होने लगी है। यह पहले योरपीय साहित्य में देखने में आयी। अब तो साहित्य की कितनी ही जुदा-जुदा शाखाएँ हो चली हैं; जैसे भाषा, गणित, भूगोल, इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र, कृषि, विज्ञान, स्वास्थ्यरक्षा, गार्हस्थ शास्त्र, ज्योतिष, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, कानून, दर्शन, मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र, आलेख्य (ड्राइङ्ग) वैद्यक, व्यापार, उद्योग आदि। फिर इनमें से एक-एक की कई-कई शाखाएँ हैं। इस प्रकार साहित्य की वृद्धि और प्रगति का एक परिणाम इसका वर्गीकरण हुआ है। आजकल उन्नत भाषाओं में एक-एक विषय की एक-एक शाखा पर सैकड़ों पुस्तकें मौजूद हैं।

काव्य या पद्य साहित्य पहले गद्य बाद में — साधारण तौर से, पहले हर देश में काव्य या पद्य साहित्य का निर्माण हुआ। आदमी जिन बातों को बहुत ही महत्वपूर्ण या आकर्षक समझता था, उन्हें ही लिखता था। विद्वानों की संख्या बहुत कम थी। ऐसे लोग इनेगिने ही होते थे जो लिख सकते थे, या लिखा हुआ पढ़ सकते थे। इन्हें दूसरे आदमी बहुत श्रद्धा और आश्चर्य से

देखते थे। निदान, साहित्य का उपयोग करनेवाले कम थे, और उनके रचने वाले और भी कम। उस समय आदमी का जीवन प्रकृति के निकट अधिक था, और वह स्वभाव से पहले कवि हुआ; लेखक या गद्य लिखने वाला पीछे! हर एक देश में पहले कविता की रचना हुई। गद्य साहित्य का जन्म और विकास बहुत पीछे हुआ।

मानव इतिहास की तीन अवस्थाएँ—साहित्य के विकास का विचार करते हुए मानव इतिहास की तीन अवस्थाएँ सामने आती हैं— (१) मनुष्य जाति ने जिन पदार्थों या घटनाओं को अपने लिए लाभदायक समझा, उन्हें किसी-न-किसी देवता के नाम से कहा, और उसके सम्बन्ध में तरह-तरह के गीतों की रचना की। ऐसे गीत हरेक जाति के साहित्य में मिलते हैं। सूर्य, चन्द्रमा, तारे, भूकम्प, बाढ़, वर्षा, आदि प्राकृतिक दृश्यों को देख कर मन में जो भाव पैदा हुए, उन्हें कविता या पद्य में जाहिर किया गया। इन रचनाओं को पौराणिक कथा या देवगाथा (माईथोलोजी) कहते हैं। (२) पीछे उन्नति करने पर, दिल और दिमाग का विकास होने पर आदमी की निरीक्षण-शक्ति और अनुभव बढ़ा। इस समय वीरगाथाओं और युद्ध की कथाएँ शुरू हुईं। इस अवस्था में इतिहास के क्षेत्र की सीमा प्राकृतिक वस्तुओं और चमत्कारों के अलङ्कार-पूर्ण वर्णन तक न रही बल्कि उसमें ऐसे कार्यों को भी शामिल किया गया, जिन्हें आदमी कर सकता है। हाँ, इनका वर्णन खूब बढ़ा-चढ़ा कर किया गया। इस समय के इतिहास में महापुरुषों के अत्युक्तिपूर्ण जीवन-चरित्र या उनके जीवन की विशेष घटनाएँ भरी होती हैं। यहाँ तक कि महापुरुषों को पाठकों के सामने देवता या अवतार के रूप में रखा जाता है। हाँ, इन रचनाओं से उस समय की सामाजिक, धार्मिक आदि परिस्थिति का परिचय मिलता है। (३) तीसरी अवस्था वह है, जब मनुष्य के इतिहास को इस उद्देश्य से लिखा जाने लगा कि उससे असल में ठीक-ठीक इतिहास का ज्ञान हो; घटनाओं को जानबूझ कर बढ़ा-चढ़ा कर न लिखा जाए।* लेखकों

*श्री रामनारायण मिश्र के, 'शिक्षा-सुधा' में प्रकाशित, लेख के आधार पर।

के मोह, पक्षपात या स्वार्थ के कारण इस अवस्था में भी बहुधा सत्य की हत्या या अवहेलना देखने में आती है।

पहले प्रायः राजाओं के लिए लिखा जाता था—यद्यपि कुछ लेखक (कवि) अपने संतोष या आनन्द के लिए (स्वान्तः सुखाय) लिखनेवाले भी रहे हैं. पहले ज्यादातर लेखक राजा महाराजाओं के ही आश्रित रहते थे। जैसा साहित्य वे पसन्द करते, वैसा तैयार किया जाता। बहुत से राजा महाराजा या तो राग-रङ्ग में मस्त रहते थे और भोग विलास का जीवन बिताते थे, या कभी-कभी लड़ने-भिड़ने का काम करते थे, अथवा ईश्वर-भजन करना पसन्द करते थे। इसलिए पहले जो साहित्य तैयार होता था वह शृङ्गार रस, वीर रस भक्ति रस का ही अधिक होता था। भारतवर्ष के सम्बन्ध में इन बातों का विचार पाठक खुद ही कर सकते हैं। बाहर का एक उदाहरण आगे दिया जाता है।

श्री० सीताराम जी चतुर्वेदी एम० ए० ने 'साधना' में लिखा है—"कैल्डिया वाले लिक्खाड़ वहाँ की सरकार से पैसा पाते थे। जब वहाँ के राजा चढ़ाई पर जाते थे, तो लिक्खाड़ को भी अपना टंट-घंट बाँध कर साथ जाना पड़ता था। वहाँ वह लिखता जाता था—इतनी बस्तियाँ हथियाईं, इतने बैरी खेत आये इतना माल हाथ लगा, इतने दिन लड़ाई हुई। साथ ही वह राजा की बड़ाई के पुल भी बाँधता जाता था—यों उछले; यों पैतरा मारा; यों तलवार चलाई; यों चमके, यों दमके, और यों जीत गये। धर्म की पोथियाँ लिखनेवाले कैल्डिया के पुजारी लोग भी सरकारी चाकर ही थे। लड़ाई और धर्म की पोथियों के साथ साथ इन खपड़पोथियों में खेती, तारों की चाल और राज्य के चलाने की बातों पर भी लिखा हुआ मिलता है।"

इससे जाहिर है कि उस समय का साहित्यकार थोड़े से आदमियों, धनी-मानियों, या राजा बादशाहों आदि के लिए लिखता था। उसे उनकी रुचि का ध्यान रखना लाजमी था; बहुत दफा तो वह उनकी फरमाइश पर ही लिखता था। इस हालत में वह अपने विचार प्रकट करने में पूरी आजादी से काम नहीं ले सकता था।

अब जनता के लिए अधिक लिखा जाता है—अब वह बात नहीं है। अब लिखनेवाले बहुत हैं, और जिनके लिए लिखा जाता है, उनकी संख्या और भी बढ़ी हुई है, और बढ़ती जाती है। इस समय का लेखक हजारों लाखों पाठकों के लिए, जनसाधारण के लिए, लिखता है। यह उनके सुख-दुख, उनकी आवश्यकताओं, उनकी अभिलाषाओं और भावनाओं की उपेक्षा नहीं कर सकता। उसे इन सब विषयों पर लिखना होता है।

इस जमाने में अच्छा लेखक जनता या समाज का चित्र खींचने वाला तथा उसे रास्ता बतानेवाला होता है। ऐसा ही लेखक प्रगतिशील या प्रगतिवादी कहा जा सकता है। इस समय बहुत से लेखकों के सामने समाज के पुनर्निर्माण का जो रूप है, वह समाजवादी या मार्क्सवादी है। लेकिन प्रगतिवाद को मार्क्सवाद के साथ जोड़ना उसे सीमित और बन्धनयुक्त कर देना है। वास्तव में प्रगतिवाद मार्क्सवाद से पहले भी रहा है, और सभी श्रेष्ठ साहित्य प्रगतिशील है।

हस्तलिखित पुस्तकें—पहले किताबें हाथ से लिखी जाती थीं। आजकल बहुत से बड़े-बड़े पुस्तकालयों और संग्रहालयों में कितनी ही पुरानी हस्तलिखित पुस्तकों तथा लेखों आदि का संग्रह मौजूद है। भारतवर्ष में जहाँ-तहाँ कुछ लोगों के पास निजी तौर से भी हस्तलिखित पुस्तकों के बस्ते बंधे हुए हैं; उन्हें वे अपने पूर्वजों की यादगार के रूप में रखे हुए हैं।

पुस्तकों को हाथ से लिखने में बहुत देर लगती है। अगर कोई अच्छी पुस्तक लिखी जाए तो हाथ से उसकी थोड़ी सी ही कापी हो सकती हैं, और यदि किसी तरह से ये प्रतियाँ नष्ट हो जाएँ तो संसार से उस पुस्तक के विषय का ज्ञान ही लुप्त हो जाए। कहा जाता है कि मिस्र वालों के पास सिकन्द्रिया में एक बड़ा पुस्तकालय था, उसमें हजारों पुस्तकें हाथ से लिखी हुई थीं। एक युद्ध में यह पुस्तकालय जल गया। बहुत सी पुस्तकें ऐसी थीं कि उनकी कहीं भी दूसरी कापी न थी, उन पुस्तकों से मानव जाति वंचित हो गयी।

छापेखाना—छापे का प्रचार हो जाने से अब यह बात नहीं रही। अब एक-एक पुस्तक की हजारों प्रतियाँ छपती हैं। अगर कुछ स्थानों की प्रतियाँ नष्ट हो जाएँ तो दूसरी जगह की प्रतियों से काम चल सकता है; यहाँ तक कि केवल एक ही प्रति रह जाने पर फिर उसकी हजारों प्रतियाँ छप सकती हैं।

छापे की कल का आविष्कार पहले-पहल कहाँ हुआ, इसमें बड़ा मतभेद है। योरपीय देशों में से हालैंड वालों का दावा है कि उनके देशवासी कास्टर ने सन् १४२६ में इसका आविष्कार किया; जर्मनी वालों का कहना है कि सन् १४३८ में गटनवर्ग नामक जर्मन ने पहले-पहल इसकी ईजाद की। यह तो प्रायः सभी स्वीकार करते हैं कि संसार भर में सबसे पहले चीन में छापने का काम शुरू हुआ; हाँ, उसकी उन्नति और प्रचार एक हद तक होकर रुका रह गया। भारतवर्ष में मोहर पर अक्षर खोदकर उसकी छाप लगाने की प्रथा तो काफी पुराने समय से चली आती है। डाक्टर जोगेन्द्रनाथ घोष ने अपने एक लेख में जो १८७० में नेशनल सोसायटी में पढ़ा गया था, इस बात का जिक्र किया है कि सन् १७८० के लगभग बनारस जिले से खुदाई करने पर दो प्रेस निकले थे, जिनमें आजकल की तरह टाइप आदि सब सामान था और टाइप जोड़ने का सिलसिला भी प्रायः आजकल जैसा ही था। पुरातत्ववेत्ता अंगरेजों का मत है कि यह प्रेस कम-से-कम हजार वर्ष पहले का है।

छापेखाने के काम में सुधार—पहले लकड़ी के अक्षरों से, हाथ से छपायी होती थीं, वह बहुत भद्दी और धीरे-धीरे होती थी। अब उस रीति का काम प्रायः बन्द हो गया है। आजकल ज्यादातर ये दो रीतियाँ प्रचलित हैं—पत्थर पर लिखे हुए अक्षरों से छापना और सीसे के ढले हुए अक्षरों को जोड़कर छापना। इन दोनों रीतियों में भी दूसरी ही रीति का चलन अधिक है। हाथ से छापे के अक्षर जोड़ने ('कम्पोज' करने की कठिनाई को दूर करने के लिए अब 'मोनोटाइप' यंत्र बनाया गया है, जिसमें मशीन द्वारा ही टाइप ढलता और कम्पोज होता है। इस दिशा में दूसरा सुधार 'लाइनो-

टाइप' यंत्र का आविष्कार है। इसमें एक-एक अक्षर न निकल कर पूरी लाइन की लाइन एक-साथ ही सीसे के टुकड़े में ढली हुई निकलती है। इसे उठाने और दूसरी लाइनों के साथ जोड़ने में बड़ा सुभीता रहता है।

पहले छपाई का काम हाथ से चलनेवाले छापेखाने ('हैंड प्रेस') में होता था। पीछे भाप से, और बाद में बिजली से होने लगा। छोटे कामों को जल्दी करने के लिए 'ट्रेडल', और अखबार तथा पुस्तकों के लिए 'सिलिंडर' मशीन काम में आने लगी। अब तो 'रोटरी' यंत्र का उपयोग होने लग गया है, जिसमें एक घंटे में हजारों कागज आसानी से छप सकते हैं।

प्रकाशन से लाभ—इस तरह पत्र-पत्रिका और पुस्तक आदि बहुत सस्ती तैयार हो जाती हैं। अब साहित्य इतना सुलभ है कि मामूली हैसियत का आदमी भी कई पुस्तकें आदि खरीद कर अपना ज्ञान बढ़ा सकता है। प्रकाशन से एक लाभ और भी हुआ है। पहले जब किसी पुस्तक की एक या इनी-गिनी प्रतियाँ ही होती थीं, तो उनके पाठ में मिलावट आसानी से हो सकती थीं। एक प्रसिद्ध आचार्य या नीतिकार कोई बात लिखता तो दूसरे आदमी पीछे उसकी रचना की नकल में कुछ बातें अपने पक्ष की मिला देते। और, क्योंकि जनता की, मूल रचना करनेवाले आचार्य या नीतिकार में बहुत श्रद्धा होती, इसलिए उसके नाम पर बहुत सी बेमेल और परस्पर विरोधी तथा हानिकारक बातें प्रचलित हो जातीं। भारतीय पाठक जानते हैं कि रामायण और मनुस्मृति आदि का शुद्ध पाठ मालूम करने के लिए यहाँ विद्वानों को कितना परिश्रम करना पड़ा है, फिर भी उनकी कुछ बातों के सम्बन्ध में, मतभेद है। आधुनिक रचनाओं में, उनकी हजारों प्रतियाँ छप जाने के कारण, कोई मिलावट होने की आशंका नहीं रही।

किसी-किसी पुस्तक की तो आजकल लाखों प्रतियाँ छपती हैं, और याता-यात के साधनों की उन्नति के कारण देश से बाहर भी काफी संख्या में जाती हैं। एक देश के आदमियों का दूसरे देश वालों से विचारों का आदान-प्रदान बढ़ता जा रहा है। पढ़े-लिखे आदमी दुनियाँ भर की विचार-धाराएँ,

आविष्कार और अनुसंधान आदि जानते रहते हैं। उनके विचारों का थोड़ा-बहुत प्रभाव उनके पास के अनपढ़ आदमियों पर भी पड़ता है। इस तरह किसी देश के आदमियों का जीवन सर्वथा एकांगी नहीं रहता। अच्छे ऊँचे साहित्यकार के सामने विश्व और उसकी समस्याएँ रहती हैं, और, वह उन पर गम्भीरता पूर्वक विचार करता है। इस तरह अब प्रेस तथा दूसरे आधुनिक आविष्कारों के कारण विश्व-साहित्य अधिकाधिक तैयार होता है, और पढ़ा जा रहा है।

दूसरा पहलू—साहित्य के प्रकाशन का एक दूसरा भी पहलू है। प्राचीन काल में कोई विद्वान किसी ऐसे विषय की ही पुस्तक की रचना या उसकी नकल करता था, जो बहुत ही उपयोगी होती थी। साहित्य आदर और मान की वस्तु थी। साहित्यकार पूजा और प्रतिष्ठा का अधिकारी होता था, ग्रन्थ-रचना से उसका नाम अमर हो जाता था। वह भी अपनी जिम्मेवारी समझता था, और अकसर अच्छी-अच्छी कृतियों से समाज की सेवा करता था। शुरू-शुरू में जब पुस्तकें छपीं तो सर्वसाधारण को छपी हुई बात पर बड़ा विश्वास होता था; लोगों की यह धारणा थी कि जो भी बात छपी है, वह सोलहों आने सच्ची है, उसमें शंका की कोई गुंजाइश नहीं। पर अब क्या दशा है? पुस्तक, ट्रैक्ट या पत्रक आदि छपाना आसान और कम खर्च का काम होने से, लेखक और प्रकाशक के निजी लोभ के कारण, आएदिन ऐसी अनेक बातें छपती रहती हैं, जिन पर विचारवान आदमी विश्वास नहीं करते, और जिनसे भोले-भाले पाठक खूब ठगे जाते हैं। खंडन-मंडन, गाली-गलोच, और झूठी निन्दा-स्तुति से भरा अश्लील कुरुचिपूर्ण साहित्य बहुत बड़े परिमाण में नित्य प्रकाशित होता रहता है। पाठकों के मन और हृदय पर उसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। उन्हें सतर्क और सावधान रहने की आवश्यकता है कि किस चीज को पढ़ें और किसे न पढ़ें।

छापेखाने आदि के आविष्कार से पहले, जब साहित्य का प्रकाशन कम होता था और वह सुलभ भी न था, आदमी पुस्तकों को बहुत ध्यान से

पढ़ते थे और उस पर खूब विचार और मनन करते थे। पर अब तो कितने ही पाठक कोई पुस्तक खरीद कर उसे पढ़ने की खास फिक्र नहीं करते। अधिकांश आदमी अपने पढ़े पर विचार नहीं करते; वे शांति और गम्भीरता से यह नहीं सोचते कि हमें इन बातों पर कहाँ तक अमल करना चाहिए। उनके पढ़ने से उनके जीवन, रहन-सहन या आचार-विचार पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। आवश्यकता है, आदमी साहित्य की प्रगति करने के साथ, उससे यथेष्ट लाभ भी उठाते रहें।

अठारहवाँ अध्याय

संवाद

पशु-पक्षियों का संवाद भेजना—कुछ समय हुआ, मैं दूसरी मंजिल के अपने कमरे में बैठा लिख रहा था। अचानक बहुत से तोतों की कुछ अजीब और कर्कश आवाज सुनी। आवाज कुछ देर आती रही। मेरा ध्यान उस ओर आकर्षित हुआ। बाहर आकर देखता हूँ तो नीम के पेड़ से तोते आ-आकर मंडरा रहे हैं, और चिल्ला रहे हैं। इधर-उधर देखने से मालूम हुआ कि नीम के पास वाली छत पर एक नेवला घूम रहा है। अब समझ में आया कि तोते उस हिंसक प्राणी से अपने सब साथियों को सावधान करने के लिए यह शोर मचा रहे हैं। मैंने देखा, तोतों जैसे कमजोर पक्षियों की भी उस कर्कश आवाज का यह प्रभाव हुआ कि नेवले को दुम दबाकर भागते ही बना।

यह घटना कुछ निराली नहीं है। संवाद भेजने और समाचार जानने की इच्छा थोड़ी-बहुत सभी प्राणियों में होती है। पशु-पक्षियों को जब किसी खतरे की आशंका होती है तो वे एक खास प्रकार की आवाज़ करते हैं। इस आवाज को सुनकर उस जाति के सब प्राणी इकट्ठे हो जाते हैं और खतरे को दूर करने की कोशिश करते हैं। इस तरह समाचार भेजने में उनकी सुरक्षा

की भावना होती है। पर उनकी इस प्रवृत्ति का विकास नहीं हुआ; जैसे वे इस कार्य को जैसे हजारों वर्ष पहले करते थे, उसी तरह अब भी करते हैं। पर आदमी इसमें धीरे-धीरे विकास करता रहा है।

आदमी की समाचार जानने की प्रवृत्ति—जब आदमी पशुपालन और खेती का काम करने लगे और उनमें धनवान या सम्पत्तिवान होने की भावना होने लगी तो उनमें एक-दूसरे का माल असबाब छीनने की भी प्रवृति हो गयी। उस समय से आदमी को यह जरूरत अधिक होने लगी कि वह अपने पास के दूसरे आदमियों की गति-विधि का समाचार जानते रहे। उस समय बहुत दूर-दूर के आदमियों का आपस में सम्पर्क नहीं था। वह छोटे-छोटे दलों या समूहों का जमाना था, इसलिए बहुत दूर के लोगों के समाचार जानने की आवश्यकता न थी।*

राज्य का निर्माण होने पर और धीरे-धीरे उसका क्षेत्र बढ़ने पर राज्य के भीतरी समाचारों का महत्व बढ़ने लगा। नागरिकों की यह इच्छा रहती है कि उन्हें शासकों के विचारों और कार्यों का पता लगता रहे, क्योंकि उनका उनसे बहुत सम्बन्ध रहता है। इसी तरह शासक भी यह कोशिश करते हैं कि उन्हें जासूसों आदि के द्वारा यह मालूम होता रहे कि जनता का अपने शासकों के प्रति क्या रुख है जिससे वे समय पर आवश्यक कार्यवाही कर सकें।

ज्यों-ज्यों मनुष्य का ज्ञान बढ़ता गया और उसका दूर-दूर के आदमियों से सम्बन्ध होता गया, वह उनके समाचार जानने को उत्सुक रहने लगा। व्यापारी अपना माल दूर-दूर लेजाकर बेचता है, उसका बहुत से आदमियों से मेलजोल हो जाता है, वह उन आदमियों के कुशल-क्षेम तथा वहाँ के बाजार-भाव आदि के अलावा यह भी जानना चाहता है कि वहाँ की राजनैतिक स्थिति कैसी है, कोई अशान्ति या उपद्रव आदि की बात तो नहीं है, अथवा वहाँ कोई बीमारी तो फैली हुई नहीं है। सैनिक भावना वाले आदमी यह जानना चाहते हैं कि किस राज्य में ऐसी कमजोरी या अव्यवस्था

*यही कारण है कि प्राचीन ग्रन्थों में संसार के विविध देशों की लम्बाई-चौड़ाई आदि का ठीक-ठीक ब्योरा दिया हुआ नहीं मिलता।

है, जिसका लाभ उठाया जा सकता है, यानी किस राज्य को आसानी से जीता जा सकता है। धर्म-प्रचार की भावना से भी आदमी दूर-दूर के आदमियों के विचार और उनकी सामाजिक स्थिति आदि जानने को उत्सुक रहता है। फिर, जब लोगों की रिश्तेदारी या मित्रता दूर-दूर के स्थानों में होने लगती है तो वे उनका हाल जानना चाहते हैं। इसके अलावा, आदमी में नये-नये समाचार जानने की जिज्ञासा या कौतूहल भी होता है, इससे उनका मनोरञ्जन या मानसिक तृप्ति होती है। इस तरह कई कारणों से आदमी में अपने पास तथा दूर-दूर के समाचार जानने की प्रवृत्ति होती है।

समाचार भेजने के साधन—कुछ जंगली जातियों में ऐसी प्रथा है कि जब किसी पंचायती सभा आदि की सूचना देनी होती है तो किसी पेड़ का पत्ता उनके प्रदेश के प्रमुख स्थानों में घुमा दिया जाता है। इस तरह यह पत्ता समाचार पहुँचाने का साधन है। अन्य साधनों का विकास समय-समय पर देश-काल के अनुसार होता रहा है। कुछ मुख्य बातें आगे दी जाती हैं। जब भाषा का विकास नहीं हुआ था, उस समय आदमी दूसरे प्राणियों की तरह अपने दल वालों को आने वाले खतरे की सूचना एक खास तरह की आवाज से देता था। लेकिन आदमी की आवाज बहुत थोड़ी दूर ही जा सकती है। दूर-दूर तक आवाज पहुँचाने की तरकीबें सोची गयीं, तुरही या नगारा उनके ही विकसित रूप हैं। अब तो भोंपू (साइरन) का उपयोग होता है।

भाषा और लिपि से सुविधा—ऐसी आवाज से हमें परिस्थिति का संकेत तो मिलता है, पर पूरी बात मालूम नहीं होती। भाषा का विकास होने से पहले आदमी के पास उसका कुछ उपाय भी न था। और, जब आदमी बातचीत करके अपना विचार जाहिर करने लगा तो भी एक बाधा सामने रही। आदमी की बात उसके साथी थोड़ी दूर तक ही सुन सकते हैं; वह एक फरलांग या इससे ज्यादा दूर के आदमियों को अपनी बात नहीं सुना सकता। पुराने जमाने में अगर हमें किसी ऐसे आदमी से बातचीत करनी होती जो एक-दो मील या ज्यादा दूर पर हो, और जिसके पास हमारा खुद का जाना न हो सके, तो

उसका उपाय यही था कि हम अपनी बात एक दूसरे आदमी को कहते, वह वहाँ जाकर हमारी बात उससे कहता; और उसके जवाब में जो कुछ उसे कहा जाता, उस बात को वह हमारे पास आकर हमसे कहता। इसके बाद अगर फिर हमें कुछ कहलाने की जरूरत होती तो उसी क्रिया को दोहराना पड़ता। किसी मध्यस्थ या बीच के, आदमी द्वारा दूर के आदमी से विचार-विनिमय करना कितना कठिन है, और कितना अपूर्ण रहता है, यह सहज ही समझा जा सकता है। जो बात जिन शब्दों में हमने कही है, उसे दूसरा आदमी उन्हीं शब्दों में, या ठीक उसी अर्थवाले शब्दों में कहे, यह कुछ आसान काम नहीं है। लिपि के आविष्कार ने इस कठिनाई को हटा दिया। इसके उपयोग से आदमी में अपनी बात अपने शब्दों में लिखकर दूसरे के पास भेजने की योग्यता हो गयी।

जब एक राज्य को दूसरे राज्य से समाचारों का आदान-प्रदान करना होता था, तो यह कार्य उनके दूतों द्वारा किया जाता था। अकसर उनके साथ ऐसी वस्तुएँ भी भेजी जाती थी जो युद्ध या संधि सूचक मानी जाती थीं। मिसाल के तौर पर तलवार प्राचीन काल से युद्ध का, और सफेद झंडा युद्ध-समाप्ति या शान्ति का, निशान माना गया है।

पुराने जमाने में व्यापारी भी एक देश से दूसरे देश में दूर-दूर तक समाचार पहुँचाने का साधन रहे हैं। ये लोग दूसरे देशों की सभ्यता, रहन-सहन खानपान, वेषभूषा और विविध घटनाओं का मनोरंजक समाचार सुनाया करते थे। व्यापारियों के द्वारा ही भारत की सुख-समृद्धि का समाचार फारिस, अरब, यूनान आदि देशों तक गया और वहाँ वाले उस समाचार को सुनकर यहाँ आने और आक्रमण करने लगे।

समाचार भोजपत्र, ताड़पत्र, ताम्रपत्र आदि पर लिख कर एक स्थान से दूसरे स्थान को पहुँचाया जाता था। राज्यादेशों का ज्ञान जनता को शिलालेखों से होता था। चमड़े का उपयोग भी प्राचीन काल से अब तक कुछ हेर-फेर के साथ महत्वपूर्ण कार्यों में किया जाता रहा है। मिस्र में मिट्टी के पात्रों पर चित्र अंकित करके समाचारों का आदान-प्रदान होता था। कबूतर और

घुड़सवार भी समाचार भेजने के पुराने साधन हैं; कबूतरों से अब तक युद्ध-स्थलों में समाचार पहुँचाने का काम लिया जाता है। डाक द्वारा समाचार भेजने की प्रथा भारत में चन्द्रगुप्त के समय में भी सुनी जाती है, उसके बाद मुगलों के समय में तो इसकी अच्छी व्यवस्था थी ही।

पत्र-पत्रिकाएँ—समाचारों के आदान-प्रदान में विशेष परिवर्तन पत्र-पत्रिकाओं से हुआ है। इनका प्रचार मुद्रण-कला का आविष्कार होने से पहले भी था। मिसाल के तौर पर रोम में जूलीयस सीजर के समय, यानी ईसा से पूर्व 'ऐक्टा ड्यूर्ना' (दैनिक घटनाएँ) नाम से समाचारों का संग्रह खास-खास जगह चिपकाया जाता था, और साम्राज्य के दूसरे प्रान्तों में भी भेजा जाता था। तथापि समाचारपत्रों का विशेष प्रचार छापेखाने का आविष्कार होने पर हुआ। धीरे-धीरे इनके आकार-प्रकार, सामग्री आदि की उन्नति होती रही। रेल, तार, जहाज, टेलीफोन, हवाई जहाज और रेडियो आदि से इनके काम में बहुत सहायता मिली। इनके आविष्कार के बारे में दूसरी जगह लिखा गया है। अब हमें ताजे समाचार पढ़ने का ऐसा शौक हो गया है कि अगर किसी देश में आज कोई महत्व-पूर्ण घटना होती है, और हमें अगले दिन सवेरे के समाचारपत्र में उसकी खबर नहीं मिलती तो हम झुँझलाते हैं और समाचारपत्र की व्यवस्था की निन्दा करते हैं; अच्छे समाचारपत्र इस बात का काफी ध्यान रखते हैं, और अपने पाठकों को ताजी से ताजी खबरें देते रहते हैं। समाचारों के अलावा वे तरह-तरह की दूसरी ज्ञान बढ़ाने वाली या मनोरंजक सामग्री भी देते हैं।

पत्र-पत्रिकाओं के सुलभ और सस्ते होने से, इनके पाठक बराबर बढ़ते जा रहे हैं। कितने ही आदमी तो एक-एक दैनिक पत्र से संतुष्ट न होकर कई-कई पत्रों को खरीदते हैं। बात यह है कि यद्यपि मुख्य-मुख्य समाचार तो किसी भी एक पत्र से मिल जाते हैं, फिर भी कुछ बातें हर पत्र में जुदा-जुदा होती है। इसके अलावा सम्पादकीय और दूसरे लेख हरेक के अलग-अलग होते हैं; और पाठक इन लेखों में प्रगट किये हुए विचार जानना चाहते हैं।

साधारण हैसियत के आदमी दैनिक पत्रों का खर्च न सह सकने के कारण किसी ऐसे साप्ताहिक से ही संतोष कर लेते हैं, जिसमें एक हफ्ते के समाचारों का संकलन हो। साप्ताहिक पत्रों में कविता, कहानी, विविध विषयों के लेख आदि भी मिल जाते हैं। मासिक पत्रों में ऐसी सामग्री और भी अधिक होती है. उनमें साहित्य के यथा-सम्भव सभी अंगों का समावेश रहता है। कुछ मासिक पत्र किसी खास विषय के होते हैं, जैसे भूगोल, शिक्षा अर्थशास्त्र, कृषि या विज्ञान आदि के। और कुछ मासिक पत्र खास तौर से बालकों, लड़कियों, या स्त्रियों आदि के लिए ही निकाले जाते हैं। कुछ पत्र अर्द्ध-पाक्षिक, या त्रैमासिक आदि भी होते हैं; लेकिन ज्यादातर दैनिक, साप्ताहिक या मासिक का ही प्रचार है। अमरीका इंगलैंड आदि देशों में पत्र-पत्रिकाओं का प्रचार इतना बढ़ा हुआ है कि साधारण पाठक को उसका कुछ ठीक अनुमान नहीं हो सकता। इसके मुकाबले में भारतवर्ष आदि कितने ही देशों में पत्रों का प्रकाशन कम है; लेकिन यह धीरे-धीरे बढ़ रहा है।

विशेष वक्तव्य—शिक्षा की वृद्धि होने पर सभी देशों में पत्रों का प्रचार खूब बढ़ने वाला है। यही नहीं, वैज्ञानिक उन्नति के कारण इसी सदी में ऐसी प्रगति हो जायगी कि सब महत्वपूर्ण समाचार तो लोगों को घर बैठे रेडियो द्वारा ही मिल जाया करेंगे। उनके लिए समाचारपत्रों की जरूरत न रह जायगी। पत्र-पत्रिकाएँ तो आदमी सिर्फ इस लिए देखेंगे कि उनसे सामयिक घटनाओं तथा अन्य विषयों पर विद्वानों, नेताओं या राजनीतिज्ञों के विचार मालूम होंगे, यद्यपि यह काम भी कुछ अंश में रेडियो द्वारा हो जाया करेगा। जो हो, इस समय पत्र-पत्रिकाओं का मानव प्रगति के साधन के रूप में महत्वपूर्ण स्थान है।

———

पहला भाग

विषय-प्रवेश

उन्तीसवाँ अध्याय

शिक्षा

—:o:—

मानवीय जीवन की प्रगति शिक्षा पर ही निर्भर है। शिक्षा जीवन के विकास के लिए परमावश्यक है। मस्तिष्क को परिष्कृत कर जीवन को पूर्णता और परिपक्वता की ओर ले जाने में शिक्षा का प्रधान हाथ रहता है। —श्रीमती कुसुम मेहता

आदमी की बुद्धि का विकास उसकी उम्र के साथ होता जाता है, लेकिन एक ही पीढ़ी में ज्ञान की चरम सीमा या आखरी हद नहीं आ जाती। हर पीढ़ी में आदमी अपने बड़ों से बहुत सी बातें सीखता है, और खुद बड़ा होकर अपने छोटों को सिखाता है। यह सीखने और सिखाने का क्रम एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में चलता रहता है; और, मनुष्य जाति की उन्नति या प्रगति का प्रधान कारण है।

शिक्षा देनेवाली सब से पहली संस्था परिवार है—आदमी को सब से पहले ज्ञान देनेवाले उसके माता-पिता आदि ही होते हैं: बात यह है कि आदमी अपने बचपन में, जबकि उस पर बाहरी बातों का बहुत अधिक प्रभाव पड़ सकता है, अपने परिवार में रहता है। बच्चे अपने मा-बाप को बहुत से काम करते देखते हैं, और उनकी नकल करके बहुत सी बातें सहज ही सीख लेते हैं। आदमी की जिन्दगी में भाषा का कितना महत्व है, यह जाहिर ही है। और, भाषा हमें कौन सिखाता है? हमारे मात ापिता भाई बहिन बचपन में हमें पालने में हिलाते हुए, या गोद में खेलाते हुए हमें अपनी हरकतों की नकल करने की प्रेरणा करते हैं; हम उनकी आवाज को; और पीछे उनके शब्दों को, धीरे-धीरे उच्चारण करने की कोशिश करते हैं।

यह काम बहुत धीमी गति से होता है, पर इतनी मजबूती से हो जाता है कि पीछे स्थायी सा ही हो जाता है।

इसके अलावा परिवार में हम उठने-बैठने और चलने का ढङ्ग, खाने पीने का ढङ्ग, और घर के धंधे करने के ढङ्ग सीखते हैं। यहाँ तक कि हमारी रुचि और विचार, इच्छाएँ, आकांक्षाएँ और आदर्श आदि भी हमारे परिवार-वालों से बहुत कुछ मिलते-जुलते होते हैं। परिवार में हम माँ बाप भाई बहिन आदि के साथ जो समय बिताते हैं, उसमें जो बात देखते हैं, सुनते हैं, और स्वयं भी करते हैं, उन सब का हमारे मन पर गहरा असर हुए बिना नहीं रहता। जो परिवार जितना अधिक उन्नत, सभ्य और ज्ञानवान होगा, उतना ही उसके बालकों को अधिक लाभ पहुँचेगा।

शिक्षा संस्थाएँ—ऊपर कहा जा चुका है कि बालकों को शिक्षा देने में पहिले परिवार महत्वपूर्ण भाग लेता था। पीछे लोगों का रहनसहन जटिल होने पर इस बात में अन्तर आता गया। शिक्षा-संस्थाओं की आवश्यकता बढ़ती गयी। अलग-अलग देशों में शिक्षा-संस्थाएँ जुदा-जुदा ढंग की रही हैं। भारतवर्ष में पहले यह परिपाटी थी कि बालक सात-आठ वर्ष का होने पर गुरुकुल में भेज दिया जाता था। वहाँ सब विद्यार्थियों से समान व्यवहार होता था। ऊँच नीच, गरीब अमीर का कोई भेद-भाव न था। गुरू सब विद्यार्थियों को अपने पुत्र के समान मानता था। शिक्षा सब निश्शुल्क थी। गुरुकुलों के खर्च की व्यवस्था सामाजिक दान-धर्म, भिक्षा या सरकारी सहायता से हो जाती थी, उन्हें इस विषय की कोई चिन्ता नहीं करनी पड़ती थी। विद्यार्थियों की शिक्षा में धार्मिक शिक्षा का खास स्थान था, उनके स्वास्थ्य और चरित्र की ओर पूरा ध्यान दिया जाता था। ब्रह्मचर्य-पालन पर बहुत जोर दिया जाता था; और विद्यार्थियों को सब प्रकार के राग-रंग से दूर रखते हुए उन्हें सादे जीवन का अभ्यास कराया जाता था। विद्यार्थी पच्चीस वर्ष के होने पर गुरु-कुल से निकलते थे, तब वे अपनी रुचि के अनुसार काम धंधा करते, और गृहस्थी का भार संभालते थे।

बौद्ध, ईसाई और मुसलिम समाज में पहले शिक्षा का बहुत-कुछ काम

मठ, गिरजा और मसजिदों आदि में होता था। ये अन्य शिक्षा के साथ धार्मिक शिक्षा पर खास ध्यान देती थीं। पुरानी यादगार के रूप में इस तरह की कुछ संस्थाएँ जहाँ-तहाँ अब भी मिलती हैं। अब ज्यादातर संस्थाएँ सार्वजनिक है, उनमें धार्मिक शिक्षा या तो बिलकुल ही नहीं दी जाती, या बराये-नाम दी जाती हैं।

शिक्षा का स्थान—शुरू में विद्यार्थियों की शिक्षा के लिए बड़ी-बड़ी इमारतें न थी। अकसर उन्हें खुली हवा में, पेड़ों के नीचे ही शिक्षा दी जाती थीं। रहनसहन सादा होने से उसमें खास तकलीफ नहीं मालूम होती थी। पीछे आदमी प्रकृति से दूर होता गया; 'सभ्यता' बढ़ती गयी। धूप और बारिश आदि से बचने का भी विचार होने लगा। निदान, शिक्षा-संस्था के लिए मकान बनाये जाने लगे। पहले एक ही इमारत में सब काम चला लिया जाता था। बीच में एक बड़ा 'हाल' (कमरा) और उससे मिले हुए कुछ दूसरे कमरे होते थे। पीछे रोशनी, हवा, और शान्ति के विचार से जुदा-जुदा कमरे 'हाल' से अलग, कुछ फासले पर बनाये जाने लगे। उनके बनाने में इस बात का ध्यान रखा जाने लगा कि जहाँ तक हो सके विद्यार्थियों को दायीं ओर से रोशनी मिले, हवा इस तरह आए कि झोंके न मालूम पड़ें, आवाज कमरे में गूंज न जाए। जैसे-जैसे शिक्षा में लकड़ी और धातु का काम, सिलाई का काम, भोजन बनाने का काम आदि विषय बढ़ते गये, इनके लिए खास ढंग के कमरे बढ़ाये जाने लगे। 'हाल' पहले सब विद्यार्थियों को इकट्ठा करने के ही काम आता था, वह धीरे-धीरे सांस्कृतिक जीवन का केन्द्र बनने लगा; उसमें उत्सव, संगीत और नाटक तथा वादविवाद ('डिबेट') का काम होने लगा। अब शिक्षा-संस्थाओं में खेलने की जमीन, व्यायामशाला, वाचनालय, पुस्तकालय, जलपान (नाश्ता) करने की जगह, और उद्यान (पार्क) आदि की भी व्यवस्था आवश्यक समझी जाती है।

शिक्षा के विषय—पहले शिक्षा का अर्थ खासकर पढ़ना और लिखना माना जाता था। साहित्य और भाषा पर बहुत जोर दिया जाता था। उसकी यादगार बहुत से देशों में अब भी बनी हुई है। भारतवर्ष में कितने ही विद्यार्थी

केवल व्याकरण का विषय लेकर आचार्य बनते हैं। साहित्य ('लिटरेचर') के विशारद, रत्न या आचार्य आदि की अधिकता बहुत से देशों में पायी जाती है। लेकिन अब धीरे-धीरे दूसरे विषयों (विज्ञानों) की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा है। इसी तरह जहाँ पहले संस्कृत, फारसी, अर्बी, लेटिन और यूनानी आदि पुरानी भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिए बहुत सा समय और शक्ति लगायी जाती थी, अब लोगों की यह धारणा बढ़ती जा रही है कि इन भाषाओं को एक खास हद तक ही सीखना उपयोगी है, और वह भी सबके लिए नहीं। अब आधुनिक भाषाओं का प्रचार बढ़ता जाता है, और उनके ही द्वारा विविध विषयों को सीखा और सिखाया जाता है।

शिक्षा के विषयों में अब भाषा, गणित, भूगोल, इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र, नागरिकशास्त्र, कानून, दर्शन, (पदार्थ) विज्ञान, मनोविज्ञान, कृषि, व्यापार आदि कितने ही विषय हैं। इनके अलावा चित्रकारी, संगीत और नृत्यकला आदि की भी शिक्षा दी जाती है।

व्यायाम और मनोरंजन भी शिक्षा के अंग—अब शारीरिक व्यायाम और मनोरंजन की ओर अधिकाधिक ध्यान दिया जाता है। बहुत सी संस्थाओं में तरह-तरह की क़सरत और तैरना सिखाया जाता है। कहीं-कहीं तो विद्यार्थियों को समय-समय पर बाहर घुमाने और वहाँ ही भोजन कराने की व्यवस्था की जाती है। कुछ संस्थाएँ साल में एक बार विद्यार्थियों की टोली को अपने स्थान से काफी दूर ले जाकर प्राकृतिक या ऐतिहासिक दृश्य आदि दिखाने का इन्तजाम करती हैं। इसी तरह पहले बालकों की शिक्षा में ताड़ना या दंड का स्थान था, अब इसे गंवारू असभ्य और पुराने युग की बात समझा जाता है और मनोविनोद के साथ शिक्षा दी जाती है।

शिक्षा-पद्धतियाँ—बालकों को शिक्षा देने की पद्धति के बारे में नये-नये प्रयोग होते रहे हैं। इस समय जो पद्धतियाँ प्रचलित हैं, उनमें से कुछ ये हैं :—

'मांटेसरी' शिक्षापद्धति। इसका मुख्य अंग बच्चों की ज्ञानेन्द्रियों का

वैज्ञानिक ढङ्ग से ट्रेनिंग करना है। मिसाल के तौर पर रेत लगे कागज (सैंड पेपर) के कुछ टुकड़े होते हैं, उनमें से एक बहुत खुरदरा होता है दूसरा उससे कम, तीसरा उससे कम। इस तरह वे क्रम से कम खुरदरे होते हैं। बालक उन पर हाथ फेर कर उन्हें अधिक और कम खुरदरेपन के हिसाब से लगाता है। वह धीमी और तेज आवाज की घंटियों या सीटियों आदि को उनकी आवाज के क्रम से रखता हैं। इसी तरह बच्चे को अनेक प्रकार के रंगों और आकारों का ज्ञान हो जाता है।

'डालटन' शिक्षापद्धति। इसके अनुसार चलने वाले स्कूलों में न तो अलग-अलग क्लासों के लिए जुदा-जुदा कमरे ही होते हैं और न अलग-अलग विषयों के लिए जुदा-जुदा घंटे। हरेक विषय का ज्ञान पाने के लिए एक अलग प्रयोगशाला (लेबोरेटरी) होती है, जिसमें उस विषय की सब पुस्तकें, चार्ट, नक्शे और यन्त्र आदि रहते हैं विद्यार्थियों को बता दिया जाता है कि उन्हें इस विषय में एक हफ्ते में, और एक महीने में इतना कार्य करके, साल भर में इतना कार्य पूरा करना है। विद्यार्थी इस विषय में स्वतन्त्र होता है कि वह पहले किस विषय का कार्य पूरा करे, अथवा एक विषय के लिए एक दिन में कितना समय दे। जिस विषय का कार्य उसे करना होता है, उसी विषय की प्रयोगशाला में वह चला जाता है। वहाँ उस विषय को खास तौर से जानने वाला अध्यापक रहता है; यदि विद्यार्थी को किसी तरह की कोई कठिनाई हो तो वह उसे हल कर देता है। यह साफ जाहिर ही है कि इस पद्धति का उपयोग बहुत छोटे विद्यार्थियों के लिए नहीं हो सकता।

'किंडर गार्टन' शिक्षा पद्धति। इसमें शिक्षा का कार्य बच्चों को दिये हुए उपहारों और तरह-तरह के खेलों के द्वारा होता है। 'किंडर गार्टन' का अर्थ हैं, बालकों का बगीचा, अर्थात् ऐसा बगीचा जहाँ फूलों के स्थान पर बच्चे विकसित होते हैं।*

बुनियादी शिक्षा-पद्धति। भारत में बुनियादी (बेसिक) शिक्षा-पद्धति सन् १९३७ से अमल में आने लगी। इसकी मुख्य बातें ये हैं—सात साल

*श्री० व्रजमोहन गुप्त एम० ए० के लेख के आधार पर। 956

से लेकर चौदह साल की उम्र तक विद्यार्थियों को बुनियादी शिक्षा दी जाय, जिसमें किसी दस्तकारी को आधार माना जाय, ऐसे बालक-बालिकाएँ तैयार हों जो स्वावलम्बी जीवन बिता सकें, और राष्ट्र तथा समाज के प्रति अपना कर्तव्य-पालन करें। सन् १९४४ से देशवासियों की समग्र-शिक्षा यानी पूरी तालीम का विचार किया जा रहा है—सात वर्ष की उम्र से पहले की पूर्व बुनियादी शिक्षा, सात वर्ष से चौदह वर्ष तक की बुनियादी शिक्षा, चौदह वर्ष से बाद की उत्तर बुनियादी शिक्षा, और इन तीनों के अलावा दूसरे नागरिकों के लिए प्रौढ़ शिक्षा। भारतवर्ष की शिक्षा-सम्बन्धी प्रगति के विषय में कुछ खुलासा तौर से, हमारी 'भारतीय जागृति' में लिखा गया है।

शिक्षा का उद्देश्य; वह कहां तक पूरा होता है ?—पुराने जमाने के मुकाबले अब शिक्षा का स्वरूप बहुत बदल गया है। उसका क्षेत्र अब कहीं बढ़ा हुआ है। आधुनिक संस्थाओं में व्यवसाय-धंधे का भी ज्ञान कराया जाता है, विद्यार्थियों को नागरिक कर्तव्य और अधिकार बताये जाते हैं, स्वास्थ्य-रक्षा के उपाय सिखाये जाते हैं, और देश की तथा कुछ अंश में संसार की अर्थनीति और राजनीति से परिचित कराया जाता है। मतलब यह कि समाज में अच्छी तरह जीवन बिताने के लिए आदमी की अच्छा-से-अच्छी तैयारी कराना शिक्षा सस्थाओं का उद्देश्य होता है।

अभी संसार की कितनी ही आबादी ऐसी है, जिसकी स्कूल और कालिजों में बिल्कुल ही पहुँच नहीं है। और, अच्छी-से अच्छी शिक्षा-संस्थाएँ भी आदमी की आयन्दा की जिन्दगी के लिए बहुत अधूरी सी तैयारी कर पाती हैं। उदाहरण के तौर पर भारतवर्ष की यूनीवर्सिटियों से हर साल हजारों ग्रेजुएट या स्नातक निकलते हैं। उनकी शिक्षा में कितना धन, समय और शक्ति खर्च होती है! तो भी वह शिक्षा उनके जीवन की समस्याओं को हल नहीं करती। जब तक विद्यार्थी पढ़ते रहते हैं, वे एक कल्पित स्वर्ग में रहते हैं, अपना 'रहन-सहन का दर्जा' खूब ऊँचा रखते हैं जिसमें बहुत अधिक खर्च होता है। सादगी और संयम की शिक्षा इन्हें मिलती नहीं। इनके शिक्षक अधिकतर ऐसे होते हैं, जो त्याग और सेवा का आदर्श न रख कर केवल रोजगार के लिए पढ़ाने या

उपदेश का काम करते हैं। फिर, विद्यार्थियों के मन पर अच्छा संस्कार ही कैसे पड़े।

विशेष वक्तव्य—वास्तव में शिक्षित व्यक्ति वह है, जो अपने आपको सुखी बनाने के अतिरिक्त समाज को सुख-समृद्धि में योग दे, और दूसरों की सेवा और सहायता करना अपना कर्त्तव्य समझे। उन्नत कहे जाने वाले देशों में भी फी सैकड़ा या फी हजार कितने आदमी इस कसौटी से शिक्षित कहे जाने योग्य हैं? यदि उनकी संख्या काफी हो तो यह संसार लूट-खसोट, मार-काट और विनाशकारी घटनाओं का क्षेत्र न होकर, प्रेम और विश्वबन्धुत्व का दृश्य उपस्थित करनेवाला बन जाए। निदान, मनुष्य जाति की शिक्षा सम्बन्धी प्रगति उसी समय संतोषप्रद मानी जायगी, जब हर देश के आदमी 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' या 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का पाठ पढ़ेंगे और उसे जीवन में परिणत करेंगे।

तीसवाँ अध्याय

कला

मनुष्य जो भी काम करे, उसमें सौन्दर्य और कला की भावना भरी होनी चाहिए। यह सोचना गलत है कि कलाकारों का एक पृथक् वर्ग है। हर व्यक्ति जो भी काम करता है, उसका वह अवश्य ही कलाकार है।

—डा० राधाकृष्णन

सौन्दर्य या कला का प्रेम—नदी, पहाड़, झरना, फूल, पत्ते, जंगल और हरी-हरी घास आदि अच्छे-अच्छे प्राकृतिक दृश्यों को देख कर हमें कितना आनन्द आता है, पक्षियों की चहचहाहट सुन कर कैसी खुशी होती है, रात

को कितनी ही बार हम चन्द्रमा और तारों को बहुत देर तक देखते रहते हैं। सुन्दर वस्तुओं को देखकर, तथा मधुर स्वर को सुनकर अनेक बार हम अनायास ही अपनी प्रसन्नता प्रकट करने लगते हैं; हम कहते हैं, "सुन्दर! बहुत सुन्दर! वाह वाह!" आदि। हम ताली बजाते हैं, कभी-कभी अपने मन ही मन उन चीजों की प्रसंशा करते हैं। यह सब हमारे सौन्दर्य और माधुर्य प्रेम का लक्षण है।

हम चाहते हैं कि हम सुन्दर हों, हमारा वस्त्र सुन्दर हो, हमारी भाषा सुन्दर हो, हमारा मकान सुन्दर हो। अनेक बार जब हम अकेले होते हैं तो भी हम इस सौन्दर्य का आनन्द ले सकते हैं। पर साधारणतया हमारी यह इच्छा होती है कि दूसरे हमारे सौन्दर्य को देखें और उसे सराहें। इसलिए हम अपने शरीर तथा अपने वातावरण को अधिक-से-अधिक सुन्दर बनाने के लिए प्रयत्न करते रहते हैं।

जङ्गली आदमियों की अपने शरीर को सजाने की तरह तरह की मिसालें मिलती हैं। कितने ही आदमी अपने शरीर को गोदते हैं; अब गोदने में ज्यादा तकलीफ नहीं होती, पर पहले तो इसके लिए बहुत तकलीफ सहनी पड़ती थी। आदमी को जब यह विश्वास हो जाता है कि किसी बात से वह सुन्दर या खूबसूरत दिखलायी देने लगेगा तो वह उसे करने के लिए क्या-क्या कष्ट नहीं उठाता! सौन्दर्य बढ़ाने के खयाल से कहीं सिर को चपटा किया जाता है; नाक होंठ और कानों में छेद किये जाते हैं, उन छेदों को बढ़ाया जाता है, और उनमें बालियाँ पहनी जाती हैं। चीन में कुछ समय पहले स्त्रियाँ लोहे के सख्त जूते पहन कर अपने पैरों छोटा बनाये रखती थीं और योरप अमरीका की स्त्रियाँ कमर में पेटी कस कर बाँधती थीं, जिससे कमर पतली रहे! भारतवर्ष में अनेक स्त्रियाँ हाथ में कोहनी तक चूड़ियाँ, और फिर कोहनी से ऊपर चूड़ियाँ, गले में हँसली और मालाएँ, पैरों में भारी कड़ी या दूसरे जेवर, और हाथों और पैरों की अगुलियों में अंगुठियाँ या छल्ले पहिनती हैं। इन सब जेवरों के कारण काम करना तो दूर, चलने-फिरने में भी तकलीफ होती है। पर आदमी खूबसूरती के लिए असुविधा और कष्ट

सब कुछ सहता है ! जो हो, इन सब बातों से जाहिर है कि आदमी सौन्दर्य-प्रेमी या कला-प्रेमी है।

कला के विविध रूप—कला के अनेक रूप हैं—साहित्य, सङ्गीत, चित्र, नृत्य और वस्तुकला या निर्माण-कला आदि। इन कलाओं के व्यक्त करने के मुख्य साधन लेखनी वाणी, तूलिका (कूंची), अंग-संचालन और पत्थर (या ईंट चूना) आदि हैं। कुछ आदमी कलाओं के दो भेद करते हैं—(१) ऐसी कलाएँ, जिनमें गति होती है, जिनमें शरीर के अङ्गों का ऐसा संचालन होता है, जो सुन्दर मालूम हो। मिसाल के तौर पर नाचना, गाना, नाटक आदि (२) ऐसा मनोहर या आकर्षक कार्य जो आदमी एक जगह बैठे-बैठे कर लेता है; जैसे भवन-निर्माण, संगतराशी या पच्चीकारी, चित्रकारी, बेल बूटे या नक्शे बनाना। इसी तरह कलाओं के दो भेद और भी किये जाते हैं (क) ललित कलाएँ, जिनमें सौंदर्य के विचार की प्रधानता हो, जैसे संगीत, काव्य, चित्र और मूर्ति-कला आदि; और (ख) उपयोगी कलाएँ; जिनमें उपयोगिता के विचार की प्रधानता हो; इनमें रोजमर्रा की आवश्यकताओं के विविध कार्य सम्मिलित हैं। असल में ये वर्गीकरण पूर्ण रूप से ठीक नहीं; केवल कामचलाऊ और कृत्रिम हैं। हाँ,कला का प्राण सौन्दर्य है और सच्चा सौन्दर्य मानव जीवन के लिए उपयोगी होता ही है।

सौन्दर्य-प्रेम, आदमी की प्रारम्भिक अवस्था में—आदमी में सौन्दर्य-प्रेम की भावना शुरू से ही है। जब कि वह जङ्गली हालत में था, और उसे अपने लिए भोजन तलाश करने की भी बड़ी समस्या थी, उस समय भी मौका मिलने पर वह अपने शरीर को सजाने से नहीं चूकता था। यह पहले बताया ही जा चुका है कि शुरू-शुरू में आदमी ने कपड़ा पहनने का विचार खासकर अपना शरीर सजाने के उद्देश्य से ही किया था। जब आदमी के पास सिर्फ पत्थर के ही नोकदार औजार थे, उस समय वह उन औजारों से ही गुफाओं की दीवारों पर पशु पक्षी आदि की तसवीरें बनाया करता था। जब आदमी ने किसी दस्तकारी में उन्नति की तो उसके साथ उसने अपने कला-प्रेम का भी परिचय दिया। जङ्गली हालत में आदमी ने टोकरी,

या वर्तन आदि बनाये या मिट्टी, पत्थर लकड़ी या सींग आदि की दूसरी चीजें बनायीं तो उसने कई बार सिर्फ इस बात का ही ध्यान नहीं रखा कि इन चीजों से उसका काम चल जाय, बल्कि उसने इन्हें यथा-सम्भव ऐसा बनाया कि वे अच्छी दिखायी दें। ज्यों-ज्यों आदमी उन्नति करता गया, वह अपने व्यवहार की चीजों के रूप, रंग, आकार (डिजाइन) आदि की ओर अधिक ध्यान देने लगा।

खेती का आविष्कार होने पर—यह कहा जा सकता है कि शिकारी का जीवन बिताते हुए आदमी को अपने सौंदर्य-प्रेम की भावना व्यक्त करने के लिए विशेष अवसर नहीं मिलता था। खेती का आविष्कार होने पर जब कुछ बलवान लोगों ने जमीन अपने अधीन करली और लोगों को गुलाम बना कर उनसे तरह-तरह की मेहनत मजदूरी का काम लेना शुरू कर दिया, तब गुलामों के या जमीन के मालिकों को खूब फुरसत मिलने लगी। इस फुरसत का उपयोग बहुत-कुछ कलाओं के विकास या वृद्धि में हुआ। फुरसत वाले आदमियों की बुद्धि और कल्पना को नये-नये क्षेत्रों में अपना जौहर दिखाने का अवसर मिलने लगा और वे अपने मनोरञ्जन या दिल-बहलाव के लिए नये-नये उपाय सोचने लगे।

श्री यशपाल जी अपने एक लेख में लिखा है—'पहिले अपने हाथ से काम करके जरूरत पूरी होती थी। अब अगर आपके पास गुलाम हैं तो मस-नद पर बैठिए; गुलाम आपका सब काम करेंगे। पहिले आदमी में जितनी शक्ति थी, उससे वह अपना पेट भर पाल कर थक जाता था। अब उसके थकने का सवाल नहीं रहा। इसलिए उसे पहाड़ खोदने और दरिया पाटने की सूझने लगी। मीलों से सुन्दर पत्थर ढो-ढोकर ईरान, रोम, मिस्र और भारत में भव्य इमारतें खड़ी होने लगीं, और गुलामों के मालिक दूसरा जरूरी काम न होने से आकाश में बुद्धि के घोड़े दौड़ाने लगे। तारों की चाल के हिसाब लगाने लगे। समय काटने के लिए बांस में तार बाँध कर वीणा बनी और उस दास स्त्री को जो जमीन खोद और पत्थर तोड़ कर उतने आनन्द की सृष्टि न कर सकती थी, जितनी कि वह स्वामि के सामने कमर में बल देकर और

संस्कृति की अविच्छिन्न धारा प्राचीन काल से आज तक निर्बाध चली आ रही है। बीच-बीच में उस पर पर्दा पड़ता रहा है। परंतु दीपक बुझा नहीं। एक देश में उसका तिरोभाव हुआ तो दूसरे देश में पहिले से और ऊँचे स्तर पर उदय हुआ।

—सम्पूर्णानन्द

दुःख एवं विपत्तियों के समुद्र को पार करता हुआ और भूल भ्रांतियों के बीच से होकर मनुष्य ने धैर्य और साहस के साथ अपने यात्रापथ का अतिक्रम किया है। मानव जाति की सभ्यता के इतिहास में हम मनुष्य को पीछे की ओर लौटते हुए नहीं पाते हैं। आदिम युग में उसकी जो जय-यात्रा आरम्भ हुई थी, वह अब तक अविराम रूप से चल रही है।

—जगन्नाथप्रसाद मिश्र

ठुमक-ठुमक कर उसकी आँखों को रिझा सकती थी, हुक्म हुआ-'तुम नाचो'। उस सुन्दरी के हावभाव की ताल पर संगीत चला, जिसने मालिक के कानों को अमृत से भर दिया। उस संगीत में न केवल कानों को तृप्त करने वाले परन्तु हृदय को गुदगुदाने वाले वर्णन, व्याख्या और संकेत पैदा हुए। ऐसे विलक्षण या चतुर आदमी को, जो किसी भी स्थूल पदार्थ के बिना शब्दों से ही मोहक चित्र बना दे, महाकवि, और पंडित की उपाधि दी गयी। समाज में कला और विद्या का प्रसार हुआ।'

धनी कला-संरक्षक और स्वतंत्र कलाकार—पहले कहा गया है कि गुलामी की प्रथा ने कलाओं का विकास और वृद्धि की। गुलामों के मालिकों को अपनी साधारण जरूरतों को पूरा करने की फिक्र न रही, उन्होंने अपना फुरसत का समय तरह-तरह की कलाओं की कल्पना में लगाया। पीछे उनका स्थान जमींदार, जागीरदार और पूँजीपतियों ने लिया। इस तरह कलाएँ प्रायः धनवानों या सत्ताधारियों के आश्रित रही हैं। लेकिन समय-समय पर ऐसे भी कलाकार होते रहे हैं, जिन्होंने दूसरों की अधीनता स्वीकार न कर अपने स्वाभिमान और स्वाधीनता के भावों का परिचय दिया है। यह ठीक है कि इन्हें अकसर बहुत सी आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है, पर इन्होंने धीरज रख कर सब तरह की मुसीबतों को सहा और कलाओं का गौरव बढ़ाया। ऐसे ही महानुभावों के उद्योग और कष्ट-सहन से समाज की प्रगति ठीक दिशा में होने में सहायता मिली है।

कला के नियम आदि बदलते रहते हैं—कला का मानव जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध है, वह जीवन की अभिव्यक्ति ही है। इसलिए जीवन की तरह कला की भी प्रगति होती रहती है, वह एक ही प्रकार की रूढ़ि या शैली में नहीं बंधी रह सकती। जैसा कि श्री० शान्तिप्रिय जी द्विवेदी ने लिखा है—"किसी सीधे सादे युग में मनुष्य से सिर्फ यही कह देना पर्याप्त रहा होगा कि सच बोलो' और मनुष्य ने सच अपना लिया। परन्तु सत्यवादी हो कर अप्रियवादी भी हो गया, तब उससे कहना पड़ा-'अप्रिय सत्य मत बोलो।' मनुष्य ने इस पाठ को भी ग्रहण कर लिया। परन्तु किसी युग का शिशु की

तरह सुबोध आज्ञाकारी मानव-समुदाय चिरकाल सहज नहीं रह सका, उसमें जीवन की कठिनता भी आ गयी। तब साहित्यकारों को उससे काव्य के सूत्ररूप में ही नहीं, बल्कि विशद कथारूप में भी आत्मीयता जोड़ने की आवश्यकता जान पड़ी। परन्तु मनुष्य की चेतना कानों में ही नहीं, आँखों में भी समाई हुई है। अतएव मनुष्य सदैव से जो सुनता आया है, उसका आँखों द्वारा भी समाधान चाहने लगा। उसकी इस इच्छा की पूर्ति नाटकों द्वारा हुई। इसी प्रकार वाणी ने समाज के भीतर साहित्य द्वारा क्रमशः नाना भांति से प्रवेश किया। आज काव्य, कथा, उपन्यास, नाटक इत्यादि विविध उपहारों को लेकर साहित्य मानव समाज के साथ अपनापन बढ़ा रहा है। यदि कोई आज यह कहे कि 'तुम आत सूत्रों में ही बातचीत करो, वाणी का इतना विस्तार करने की आवश्यकता नहीं' तो जिस प्रकार यह आदेश निरर्थक हो सकता है, उसी प्रकार यह परामर्श भी अनावश्यक होगा कि किसी समय में काव्यों और अन्यान्य कथाओं के लिए जो अमुक-अमुक नियम थे, आज भी उन्हीं पर चलो।"

यह स्पष्ट है कि, कला के नियम विधान आदि देश-काल के अनुसार बदलते रहते हैं। एक समय के नियम उस समय के लिए बहुत उपयुक्त रहे होंगे, उन्हीं नियमों का हमेशा के लिए बन्धन बना रहना बहुत हानिकारक हो सकता है। इसी विचार से यह कहा जा सकता है कि 'कला, कला के लिये' है, यानी वह स्वावलम्बी है वह किसी खास समय की रूढ़ियों में बंधी नहीं रह सकती। इसके खिलाफ, अगर कोई आदमी 'कला, कला के लिए' का अर्थ यह लेता है कि उसे जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है, उसकी उपयोगिता के विचार की आवश्यकता नहीं, तो यह बात बेमानी है, इसमें कोई तत्व नहीं।

कला का विकास और प्रचार—किस-किस देश में कब किस-किस मंजिल को पार करके एक-एक कला का विकास हुआ, यह बहुत विस्तार का विषय है। साहित्य के विषय में कुछ मोटी-मोटी बातें अलग अध्याय में कही गयी है। इसी तरह संगीत के बारे में मनोरंजन के अध्याय में लिखा गया है। यह तो स्पष्ट ही है कि कलाओं का जन्म और प्रारम्भिक विकास भारतवर्ष

में बहुत पुराने जमाने में होने का काफी प्रमाण मिलता है। और, अब भी यहाँ का संगीत आदि बहुत ऊँचे दर्जे का माना जाता है। हाथ के कते सूत से कपड़ा और कालीन आदि बुनने की कला में भी भारतवर्ष का स्थान प्रमुख रहा है।

अब आदमी यंत्र-युग में रह रहा है। हाथ की कारीगरी का उपयोग कम हो गया है। हर तरह की चीज मशीन से बड़े पैमाने पर बनाने की कोशिश की जाती है। गाने-बजाने के नये-नये यंत्र तैयार होते जा रहे हैं। टाकी, रेडियो और टेलिविजन ने पुराने समय के नाटकों, चित्रों, नृत्य और संगीत-सम्मेलनों को पीछे हटा दिया है। यों भी कहा जा सकता है कि यंत्रों के सहारे कलाओं का आनन्द सिर्फ स्थानीय आदमियों के लिए परिमित न रह कर हजारों मील दूर रहनेवालों को भी मिल सकता है।

कला से मनुष्य की प्रगति में सहायता—कलाओं का प्रचार और विकास मनुष्य की प्रगति का लक्षण ही नहीं, उसका बड़ा भारी सहायक भी है। सौन्दर्य सबको प्यारा लगता है, वह सबको प्रसन्न करता है। वह जाति-भेद रंग-भेद और सम्प्रदाय-भेद आदि नहीं मानता। वह जुदा-जुदा जाति वालों को इकट्ठा करता है उनमें मेल और सद्भावना बढ़ाता है। ताजमहल जैसी इमारत का आंगन एक ऐसा प्लेटफार्म है, जहाँ रूसी; चीनी, जापानी, जर्मन, अँगरेज और अमरीकी सभी बराबरी के नाते से खड़े हो सकते हैं, अमीर और गरीब का वहाँ कोई भेद नहीं रहता अशिक्षित आदमी भी शिक्षितों की कतार में खड़े हो सकते हैं, ऊँच-नीच आदि की वहाँ कोई कल्पना ही नहीं रहती। इस समय मनुष्य जाति जुदा-जुदा, और अकसर एक-दूसरे से ईर्षा-द्वेप रखनेवाले ही नहीं, कुछ दशाओं में तो एक दूसरे के खून के प्यासे बहुत से टुकड़ों में बँटी हुई है इसका एक उपाय यह है कि ऊँचे दर्जे के कलाकार काफी संख्या में कार्यक्षेत्र में आएँ, और अपनी सुन्दर कृतियों से दूर-दूर की जनता को इतना मुग्ध करदें कि सब लोग आपसी भेदभावों को पूरी तरह भुला दें।

महान कलाकारों की आवश्यकता—इसमें कोई शक नहीं कि ऐसी कृतियाँ वे ही कलाकार प्रदान कर सकते हैं, जिनका हृदय प्रेम और एकता, अन्तर्राष्ट्रीयता और विश्व-बन्धुत्व के भावों से भरा हो। साहित्यिक कलाकारों का ऐसा एक उदाहरण फ्रांस के प्रसिद्ध रोमा रोलां थे। उन्होंने यूरोपीय और एशियाई का भेदभाव नहीं माना, बल्कि शान्ति की खोज के लिए अपने यूरोपीय भाइयों को यह परामर्श दिया कि वे भारतवर्ष की आश्चर्यजनक आध्यात्मिकता का स्वाद लें। उन्होंने महात्मा गांधी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द का चरित्र श्रद्धा और भक्तिभाव से मनन किया। भारतवर्ष के प्रति अपनी भावनाएँ प्रकट करते हुए उन्होंने लिखा है—"मैं फ्रांसीसी हूँ, और ऐसे परिवार में पैदा हुआ हूँ, जो सदियों से फ्रांस की जमीन में फला-फूला। जब मैं सिर्फ बीस वर्ष का था और मुझे भारत के धर्म और दर्शन के सम्बन्ध में कोई निश्चित ज्ञान न था, तभी से मुझे भारत के प्रति एक अगाध प्रेम हो गया।......इसका कारण मैं यह समझता हूँ कि मेरे अन्दर पश्चिमी आर्य और पूर्वी आर्य का कोई घनिष्ठ एकीकरण है। मुझे पूरा विश्वास है कि मैं हिमालय से उतरते हुए विजेता आर्यों का वंशज हूँ, और मेरी रंगों में उनका रक्त बह रहा है।"

मनुष्य जाति की यथेष्ट प्रगति के लिए महान कलाकारों की कितनी जरूरत है!

———

इक्कीसवाँ अध्याय

विज्ञान

व्यवहार के जितने अंग हैं—क्या व्यापार, क्या कृषि, क्या शिल्प, [क्य]ा चिकित्सा—सब में विज्ञान द्वारा अपूर्व उन्नति हुई है। प्रकृति का [अ]धिक ज्ञान होने से, अब हम जगत के रहस्यों पर पहले से कहीं अधिक [ठ]ीक विचार कर सकते हैं।

—हेकल

वैज्ञानिक शोध की आत्मा यह मांगती है कि उससे जो भी ज्ञान प्राप्त किया जाए, उसे विनाशात्मक शक्तियों के हाथों में न सौंप दिया जाए, जिससे उसका दुरुपयोग हो सके।

—डा० राधाकृष्णन्

आदमी में सोचने-विचारने की आदत है। अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए वह कोई न कोई उपाय सोचता है, उसके मार्ग में जो बाधा आती है, उससे वह बचकर ही नहीं निकलता, उस पर विजय पाने की भी वह कोशिश करता है। उसकी सोचने-विचारने की शक्ति ने ही विज्ञान को जन्म दिया। आदमी में यह शक्ति शुरू से है, वह बहुत पुराने जमाने से कुछ-न कुछ आविष्कार या ईजाद करता रहा है। ज्यों-ज्यों आदमी की बुद्धि बढ़ी, उसने नये-नये आविष्कार किये। यही विज्ञान की उन्नति का इतिहास है।

शक्ति का उपयोग—उद्योग-धन्धों के बारे में पहले लिखा जा चुका है। उन्हें चलाने के लिए शक्ति या ताकत की जरूरत होती है। पहले आदमी केवल अपनी ही ताकत का उपयोग करना जानता था। पीछे उसने पशुओं से काम लेना सीखा। उसके बाद उसे कुदरती शक्तियों को इस्तेमाल करने का ज्ञान प्राप्त हुआ—उसने धीरे-धीरे पानी, हवा, भाप और बिजली आदि का उपयोग किया।

पानी की शक्ति—पहले पानी की शक्ति के उपयोग का विचार करें। नदी या दरिया के पास रहने वालों ने देखा कि पानी में लकड़ी आदि बहुत सी चीजें वह जाती हैं, पानी आदमी को भी बहा ले जाता है। इस तरह आदमी को, बहा कर लेजाने वाली ताकत का ज्ञान हुआ। उसने नदी में नाव या किश्ती चलाना शुरू कर दिया। पीछे धीरे-धीरे इस काम में तरक्की होती रही। आदमी अपनी किश्ती चला ही रहा था; इसी बीच में उसने अनुभव किया कि पहियों के सहयोग से गाड़ी अच्छी चलती है। अब पानी और पहिये दोनों से एक साथ काम लेने की युक्ति उसके ध्यान में आ गयी। उसने देखा कि चट्टान आदि की ऊँचाई से पानी गिरता हो तो उससे पहिया घूम सकता है। यह ध्यान में रखते हुए उसने पहिये में एक बड़ा पत्थर बाँध दिया और ऐसी योजना की कि पहिया पानी के जोर से घूमता रहे। इस तरह पहिये के साथ पत्थर घूमने लगा और अपने नीचे रखे हुए अनाज को पीसने लगा। पनचक्की का आविष्कार हो गया।

हवा की शक्ति—इसी प्रकार आदमी ने देखा कि हवा से पेड़ों के पत्ते हिलते हैं, और हवा पत्तों या घास-फूस आदि को उड़ा ले जाती है। उसने किश्ती के एक सिरे पर दोनों तरफ दो डंडे खड़े किये और उनमें कपड़ा या चटाई बाँध दी। जब दूसरी दिशा से हवा चली तो वह किश्ती को आगे-आगे बढ़ा ले चली। आदमी को पाल या बादबान का उपयोग मालूम हो गया, और वह इनके सहारे किश्तियों और जहाजों को दूर-दूर बहुत आसानी से ले जाने लगा। पीछे हवा के जोर से आटा पीसने की चक्की और पानी का नल आदि भी चलने लगा।

भाप की शक्ति—इसी बीच में आदमी भाप की ताकत मालूम करके उसका भी उपयोग करने लग गया। अपने खाने पीने की चीजों को उबालते हुए उसने देखा कि डेगची या पतीली के ऊपर का ढकना भाप के जोर से उठता है। उसने इस ताकत से लाभ उठाने का विचार किया। सोलहवीं-सतरहवीं सदी में किये हुए प्रयोगों में सफल न होने पर भी उसकी कोशिश जारी रही। अठारहवीं सदी में उसके दिमाग में यह बात आयी कि अगर भाप

को एक सिलिंडर या मोटे नल में इकट्ठा कर लिया जाय तो उससे पहिया घुमाने या चीजों को चलाने का काम लिया जा सकता है। आखिर, सन् १८६५ के लगभग खान से कोयला निकालने के लिए स्टीम एंजिन यानी भाप से चलने वाला यन्त्र बनाया गया। धीरे-धीरे इसमें सुधार और उन्नति हुई। फिर ऐसे भी एंजिन बनने लगे, जो कोयलें आदि को न सिर्फ गहरी खान से ऊपर निकालते हैं, बल्कि एक जगह से दूसरी जगह भी पहुँचाते हैं। अब एक-एक एंजिन में हजारों घोड़ों तक की ताकत होती है; एक घोड़े की ताकत (हार्सपावर)* का मतलब होता है, लगभग बीस आदमियों की ताकत। हम नित्य देखते ही हैं कि रेलगाड़ी में लगा हुआ एंजिन कितनी सवारियों या कितने वजनी माल को तेजी से ले जाता है। वह महीनों की यात्रा दिनों में और दिनों की यात्रा घंटों में तय कर डालता है।

रेल के एंजिन के बाद, भाप के जोर से पानी पर चलनेवाला जहाज (स्टीम शिप) बनाया गया। इसने किश्तियों और दूसरे जहाजों को पुराने जमाने की चीज बना दिया। धीरे-धीरे तरह-तरह के यंत्रों को चलाने के लिए भाप की शक्ति का उपयोग होने लगा। नित्य नयी चीजों को, ज्यादा-ज्यादा परिमाण में बनानेवाले कल-कारखाने खुलते गये, और उनमें तरक्की होती गयी।

कोयले की गैस और पेट्रोल—कोयले से पानी की भाप बनाने और भाप से शक्ति का काम लेने के बजाय पीछे खुद कोयले की गैस बनायी जाने लगी, जिससे रोशनी करने के अलावा चालक शक्ति का काम लिया जाता है। आदमी और आगे बढ़ा। तेल (पेट्रोल) के एंजिन का आविष्कार हुआ। उसके सिलिंडर में तेल और हवा भरी जाती है। इस एंजिन का उपयोग स्टीम एंजिन से बहुत सस्ता पड़ता है, और हल्का तो होता ही है। इसलिए इसका क्षेत्र बढ़ता जाता है। मोटर और हवाई जहाजों में यही काम देता है।

---

*'एक घोड़े की ताकत'—एक पारिभाषिक शब्द है। इसका अर्थ है, इतनी ताकत; जिससे ५५० पौंड वजन एक सेकिण्ड में एक फुट ऊपर उठाया जा सके।

बिजली की शक्ति—आदमी आगे चला ही जा रहा है। अब रेल के एंजिन की बात भी पुरानी पड़ती जा रही है। कुछ प्रयोग करने पर आदमी को यह ज्ञान प्राप्त हो गया कि बिजली बहुत उपयोगी है, वह पानी से बहुत सस्ती तैयार की जा सकती है, और उसे तार के द्वारा सैकड़ों मील ले जाया जा सकता है। बस, आदमी बिजली से काम लेने लग गया। अब अनेक सवारियाँ, मशीनें और कल-कारखाने इसकी शक्ति से चलते हैं। बिजली तार, बेतार के तार, रेडियो, समुद्री तार, टेलीफोन आदि में भी काम आती है, और, बात-की-बात में सैकड़ों, हजारों मील का समाचार ला देती हैं। इसका प्रचार बढ़ता जा रहा है। अब मानो बिजली का ही युग है। शहरों में बिजली की रोशनी ने तेल से जलने वाले लेम्पों को हटा दिया है। बिजली द्वारा डाक्टर कई बीमारियों का इलाज करते हैं। बिजली के चूल्हों से खाना पकाने का काम लिया जाने लगा है। बिजली से खेती के सम्बन्ध में कैसे-कैसे परिवर्तन हो रहे हैं, और होने की आशा है, यह खेती के अध्याय में बताया जा चुका है। बिजली का एक खास उपयोग सर्दी के मौसम में गर्मी पैदा करके, और गर्मी में हवा से ठंडक पहुँचा करके, सर्दी गर्मी पर ऐसा नियंत्रण करना है कि औसत दर्जे की हरारत (टेम्परेचर) रहे, न बहुत कम और न बहुत ज्यादा। कुछ रेलों और ट्रामों आदि में इस तरह की व्यवस्था की जाती है, योरप में मकान और होटल आदि में भी ऐसा किया जाता है। इसका अधिक प्रचार होने पर, जलवायु का बहुत कुछ नियन्त्रण हो जाएगा। जो लोग बहुत ठंडे देशों में सर्दी से परेशान रहते हैं, या गर्म देशों में गर्मी के कारण आलस्य का जीवन बिताने को मजबूर होते हैं, उन्हें भविष्य में ऐसा करने की जरूरत न रहेगी। वे अपने समय और शक्ति का कहीं अधिक उपयोग कर सकेंगे।

सूर्य-शक्ति—आदमी शक्ति की खोज में लगा रहा। उसने सोचा कि सूर्य अनंत शक्ति का भंडार है। गर्म देशों में सूर्य की धूप से तपने वाले हज़ारों एकड़ जमीन के मैदान मौजूद हैं। अगर इनमें से थोड़े से हिस्सों की ही गर्मी को नियन्त्रित करके उसका मनचाहा उपयोग हो सके तो क्या ही

अच्छा हो। आदमी ने सूर्य की गर्मी से पानी की भाप बनाकर उससे काम लेने का विचार किया, और इस तरह के एँजिन भी बनाये।

अणु एटम) शक्ति—आदमी के ये प्रयोग चल ही रहे थे कि उसे शक्ति प्राप्त करने का एक नया तरीका मालूम हो गया, जिसके मुकाबले में और सब उपाय कम-से-कम इस समय तो तुच्छ ही जान पड़ते हैं। उसका नया आविष्कार अणु-शक्ति है। यहाँ इसके सम्बन्ध में कुछ मोटी-मोटी बातें बतायी जाती हैं। पहले वैज्ञानिक यह मानते थे कि इस जगत का हरेक पदार्थ कुछ छोटे-छोटे अणुओं का बना हुआ है और जुदा-जुदा पदार्थों के अणु एक-दूसरे से अलग तरह के होते हैं। पीछे मालूम हुआ कि ये परमाणु बिजली रूपी शक्ति के कणों के बने हुए हैं। इस प्रकार हरेक पदार्थ शक्ति मात्र है, वह उसका दबा हुआ और जमा हुआ रूप है. और उसके बनाने में प्रकृति ने अपरिमित बल खर्च किया है। किसी पदार्थ के अणुओं को तोड़ने के लिए बहुत बल की आवश्यकता है, और अगर किसी तरह वे टूट सकें तो जितनी शक्ति उसमें भरी है, वह सब हमें वापस मिल जाए। बहुत से प्रयत्नों के बाद यूरेनियम की धातु ऐसी मिली, जिसके अणुओं को (हाइड्रोजन गैस से निकले हुए बिजली के कणों की टक्कर से) कुछ हद तक तोड़ा जा सकता है। उनके टूटने से अपार शक्ति एक दम फूट पड़ती है—ऐसी किरणें निकलती हैं, जो कई-कई मीलों तक सब वस्तुओं को पार कर जाती हैं।

अमरीका का अणु-बम परीक्षा के लिए मेक्सिको के निर्जन रेगिस्तान में छोड़ा गया था, उसकी गर्मी से वहाँ की बालू रेत पिघल गयी, वह नीले रँग की सुन्दर कांच बन गयी।) पीछे दो अणु-बमों ने दूसरे महायुद्ध के अवसर पर जो भयंकर विनाश-कार्य १९४५ में जापान में किया है, उसे सब जानते हैं। उसका आतंक मनुष्य मात्र पर छाया हुआ है। क्या उनका प्रयोग औद्योगिक और रचनात्मक कार्यों में नहीं हो सकता?

वैज्ञानिकों को विश्वास है कि वे ऐसी तरकीबें निकाल लेंगे, जिनसे अणुओं की अपरिमित बेलगाम शक्ति को काबू में लाकर धीरे-धीरे जरूरत के मुताबिक मनुष्य-हित के कामों में लगाया जा सके। सुना है, अमरीका में परमाणु शक्ति

से चलनेवाला एँजिन बनाने में कुछ सफलता मिली है। यदि इतनी बड़ी शक्ति का ठीक सदुपयोग हो सके तो उससे होनेवाले लाभ का क्या ठिकाना! कुछ वैज्ञानिक लोग अणु-शक्ति के कारखाने में बैठे-बैठे बटन दबा-दबा कर सारे काम पूरे कर दिया करेंगे। जल में थल, और थल में जल पैदा कर देना; रेगिस्तान को नखलिस्तान, और पहाड़ों को मैदान बना देना; गर्मी को सर्दी और सर्दी में गर्मी पैदा कर देना; यह पृथ्वी तो क्या, आकाश के ग्रह-नक्षत्रों तक की सैर के उपाय निकाल लेना—ये सब बातें सम्भव हो जायँगी *

विज्ञान का आदमी की विचार-धारा पर प्रभाव—विज्ञान-युग का आदमी किसी घटना के बारे में यही नहीं सोचता कि वह किस तरह होती है, बल्कि वह यह भी विचार करता है कि वह घटना क्यों होती है। आदमी कारण और कार्य का सम्बन्ध देखता है। वह अपनी बुद्धि का उपयोग करता है। इससे सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक—सभी दिशाओं में तर्क और विवेक का स्थान बढ़ता जाता है। मिसाल के तौर पर इस जमाने का आदमी किसी रीति रिवाज को आँख मीच कर मानने को तैयार नहीं है, वह उसे उपयोगिता की कसौटी पर कसना चाहता है धार्मिक विषयों में अंध-विश्वासों के बने रहने की गुञ्जाइश नहीं है। कोई बात केवल इसलिए स्वीकार नहीं की जा सकती कि वह किसी धर्म-ग्रन्थ में लिखी हुई है। राजनैतिक विषयों में अब राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि नहीं माना जा सकता। राजा का पद रहे या न रहे, और यदि रहे, तो राजा के कर्तव्य और उत्तरादायित्व क्या हों—यह खुले-आम चर्चा की बात है। इस तरह सब क्षेत्रों में श्रद्धा, भावना विश्वास आदि कम हो रहा है, और तर्क, विवेक या दलील बढ़ रही है। आदमी अपने कार्यों में ही नहीं, विचारों में भी अधिकाधिक वैज्ञानिक हो रहा है।

विज्ञान का भविष्य—इस सिलसिले में एक सवाल पर विचार करना जरूरी है—विज्ञान ने पिछले जमाने में, खासकर पिछले सौ वर्ष में बहुत तरक्की की है, क्या यह इसी तरह आगे तरक्की करता जाएगा, या इसकी

* श्री० चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय बी० एस०-सी० के लेख से।

पहला अध्याय

दो दृष्टिकोण



संसार परिवर्तनशील है—संसार में परिवर्तन होता रहता है। सवेरा होता है, दोपहर होती है, शाम होती है, और रात होती है। कभी थोड़ा-थोड़ा उजाला होता है, कभी खूब तेज रोशनी, और कभी घोर अंधकार। किसी समय बारिश होती है, कभी ओले पड़ते हैं, और कभी आसमान बिलकुल साफ होता है। आदमी की हालत भी बदलती रहती है—बचपन होता है, जवानी आती है, पीछे बुढ़ापा आ घेरता है। ये परिवर्तन धीरे-धीरे होते रहते हैं, यहाँ तक कि कभी-कभी कई महीनों तक कुछ भी परिवर्तन मालूम नहीं होता। तो भी हम इस बात का अनुमान कर सकते हैं कि थोड़ा बहुत परिवर्तन हर समय होता रहता है। जैसे एक आदमी की बात है, उसी तरह आदमियों के समूहों की बात है। माँ बाप यह देखते हैं कि जिस समय वे बालक थे, लोगों का रहनसहन, व्यवहार कुछ दूसरी तरह का था, अब कई बातों में बहुत फरक हो गया है। इतिहास बताता है कि हम जितने ज्यादा पुराने जमाने की बात लेते हैं, उतना ही इस समय के मुकाबले आदमियों की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक हालत में ज्यादा फरक मिलता है।

इससे यह स्पष्ट है कि मनुष्य जाति की हालत में धीरे-धीरे परिवर्तन हो रहा है। परिवर्तन कई तरह का हो सकता है, और यह जरूरी नहीं कि सभी तरह के परिवर्तन एक-साथ हों, या सब तरह के परिवर्तनों की रफ्तार एकसी ही हो। कभी एक तरह का परिवर्तन विशेष रूप से होता है, कभी दूसरी तरह का। फिर, संसार के कितने ही हिस्से एक-दूसरे से जुदा और बहुत दूर हैं, एक हिस्से में एक तरह का परिवर्तन बहुत ज्यादा होता है, दूसरे हिस्से में बहुत कम। हाँ, अब

तरक्की बन्द हो जाएगी ? भारतवर्ष में विमान और भवन-निर्माण की,*
और चीन में छापेखाने आदि की, बहुत पहले उन्नति होकर भी पीछे विशेष प्रगति नहीं हुई। पुराने मिस्र में विज्ञान ने कुछ समय खूब तरक्की की, पर पीछे उसका ह्रास हो गया। पुराने यूनान में विज्ञान तीन सौ वर्ष तरक्की करके रह गया ! सिकन्द्रिया में सौ साल तक इसका प्रचार रहा, फिर बन्द हो गया। अरबों में भी इसकी तरक्की के बाद ह्रास हो आया। क्या हमारे साथ भी इतिहास इसी तरह अपने आप को दोहराएगा ?

ऐसा होना असम्भव तो नहीं है पर ऐसी आशा नहीं है। अनुमान से यही मालूम होता है कि विज्ञान आगे बढ़ता रहेगा। इसका एक कारण यह है कि पहले की अपेक्षा अब विज्ञान बहुत फैला हुआ है। पहले विज्ञान संसार के एकाध हिस्से में ही था, और उस हिस्से का दूसरे हिस्सों से विशेष सम्बन्ध न था। किसी कारण से जब एक हिस्से की अवनति हो गयी, तो उसके विज्ञान का अन्त हो गया। अब यह बात नहीं है। अब युद्ध या अन्य दुर्घटना के प्रभाव से यदि एक हिस्से में विज्ञान को कुछ धक्का लगे तो दूसरे हिस्सों में वह बना रहेगा, और वहाँ से फिर सब जगह फैल सकेगा।

इसके अलावा अब विज्ञान कुछ इने-गिने आदमियों तक ही परिमित नहीं है। यूनिवर्सिटी और विद्यापीठों में विज्ञान की शिक्षा पानेवालों की संख्या खासी बड़ी है, और बढ़ती जा रही है। अब किसी एक पीढी में जितने वैज्ञानिक मौजूद होते हैं, उतने पहले कई-कई पीढ़ियों में भी नहीं हुए। हर देश में कितने ही आदमी विज्ञान की धुन में लगे रहते हैं, और इसके लिए बड़ी-से-बड़ी कुर्बानी करने को तैयार रहते हैं। फिर, छापेखाने की बदौलत विज्ञान सम्बन्धी साहित्य घर-घर पहुँच रहा है। कोई आविष्कार बहुत समय

---

* विमानों और समुद्र में पुल बनाने का जिक्र रामायण जैसे प्राचीन ग्रन्थ में है। महाभारत से मालूम होता है कि उस महायुद्ध के समय भवन-निर्माण की विद्या यहाँ इतनी उन्नत थी कि दुर्योधन को पानी की जगह खुश्की, और स्थल की जगह जल होने का अनुमान हो गया था।

तक रहस्य नहीं रहता; कोई संस्था, जाति, या देश अपने आपको हमेशा के लिए उसका एकाधिकारी नहीं कह सकता । इससे जाहिर है कि भविष्य में विज्ञान के ह्रास की आशंका नहीं है; इसकी उन्नति ही होते रहने की आशा है । और, इसमें कोई संदेह नहीं कि यद्यपि आदमी ने विज्ञान में बहुत प्रगति की है, इसकी वृद्धि और प्रचार के लिए अभी अनन्त क्षेत्र पड़ा है । विज्ञान ने मनुष्य जाति को बहुत सुख और सुविधाएँ दी हैं; पर अभी उसे और भी बहुत काम करना है ।

विशेष वक्तव्य—मौजूदा हालत में विज्ञान से जो सुविधाएँ मिली हैं, उनका लाभ थोड़े से ही आदमियों को मिलता है, ज्यादातर समाज तो उस लाभ से वंचित ही है । इसके अलावा अनेक बार विज्ञान का उपयोग लड़ाई आदि के विनाशकारी कामों में होता है । विज्ञान के इस दुरुपयोग का कारण यह है कि आदमी में स्वार्थ और लोभ अभी बहुत है, उसका दृष्टिकोण संकुचित, और उसका मन अनुदार है; समाज का राजनैतिक और आर्थिक संगठन ठीक नहीं है । इन बातों में सुधार होने की आवश्यकता है; कुछ सुधार हो रहा है । इस विषय में खुलासा आगे लिखा जाएगा ।

———

सातवाँ भाग

राजनैतिक व्यवस्था

राज्य की सत्ता के विना मनुष्य अपूर्ण और अविकसित रहता और अपनी रक्षा में असमर्थ होता। इसका परिणाम यह होता कि या तो मनुष्य जाति नष्ट हो जाती, या मनुष्य मनुष्य न वन पाता, और शेर-भालू की भाँति जङ्गली पशु मात्र रह जाता।

—सम्पूर्णानन्द

देश की सरकार किसी भी दल की क्यों न हो, उसके हाथों में कम से कम शक्ति होनी चाहिए। जनता का जीवन, रहनसहन, खाना-पीना जितना भी सरकारी कंट्रोल (नियंत्रण) से आजाद हो, उतना ही देश अधिक खुशहाल होगा और फूले-फलेगा।

—सुन्दरलाल

बत्तीसवाँ अध्याय

राज्य

"हम जंगल के कानूनों से बहुत आगे बढ़ गये हैं तथा अब राज्य के कानूनों से शासित होने की स्थिति में पहुँच गये हैं। हम इसी स्थिति पर विश्राम नहीं ले सकते; हमें तो विश्व-सरकार की स्थापना तक बढ़ते ही रहना है।" —अज्ञान

पहले कहा जा चुका है कि सामूहिक जीवन में आदमियों को कुछ नियमों या आपसी समझौते की आवश्यकता हुई। अगर किसी तरह का नियंत्रण न होता, हरेक आदमी अपनी मनमानी कर सकता, 'जिसकी लाठी, उसकी भैंस' की बात या 'जंगल का कानून' होता तो लोगों की रक्षा कठिन हो जाती। इसलिए कुछ नियम बनाये गये कि सब उनका पालन करें, और जो कोई उनका पालन न करे, उसे दंड दिया जाय। नियम, नियंत्रण या समझौते—ये ही राज्य की स्थापना में पृष्ठ-भूमि का काम देते हैं।

राज की उत्पत्ति के सिद्धान्त—जब से समाज है, तभी से किसी न किसी रूप में राजसत्ता भी है; इस तरह राज्य इतना ही पुराना कहा जा सकता है, जितना समाज। भारतवर्ष के वेद, जो संसार का सबसे पुराना साहित्य है, राज्य सम्बन्धी अनेक बातों से भरे हुए हैं। राज्य की उत्पत्ति के खास-खास सिद्धान्त ये माने जाते हैं—(१) दैवी सिद्धान्त, (२) आर्थिक सिद्धान्त, (३) शक्ति सिद्धान्त, (४) सामाजिक इकरार सिद्धान्त, और (५) विकास सिद्धान्त।

दैवी सिद्धान्त—(क) मनुष्य जाति के प्रारम्भिक जीवन में, लोगों का दैवी शक्तियों में बहुत विश्वास था। पुराने जमाने के आदमी राजसत्ता को ईश्वरी सत्ता मानते थे, और राजा को ईश्वर का अवतार, प्रतिनिधि या अंश समझा जाता था। महाभारत में कहा गया है कि, राजा को साधारण आदमी समझ कर कोई उसका अपमान न करे, क्योंकि राजा इस भूमंडल पर मनुष्य

के रूप में देवता है। 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा' कहावत में यही भाव है।

(ख) आर्थिक सिद्धान्त—कुछ राजनीतिज्ञों का मत है कि शुरू में सब आदमियों में आर्थिक समानता थी। कोई अमीर या गरीब न था। जब पशु-पालन और खेती का काम होने लगा तो कुछ आदमियों के पास दूसरों से अधिक जानवर, जमीन, या अनाज आदि होने लगा। अब लोगों में ईर्षा और झगड़ा बढ़ने लगा। बाहर के आदमी भी सम्पत्ति को हथियाने के लिए हमला करने लगे। लोगों में शान्ति रखने, झगड़ा न होने देने तथा बाहर-वालों के हमलों से उनकी रक्षा करने के लिए राज्य का निर्माण किया गया। राज्य सब के माल-जायदाद आदि की रक्षा करता है, वह नागरिकों को आदेश करता है कि कोई किसी सम्पत्ति आदि का अपहरण न करे। वह ऐसे कार्यों की भी व्यवस्था करता है, जिन्हें नागरिक अलग अलग नहीं कर सकते, या जिनके लिए बहुत बड़ी पूंजी की जरूरत होती है।

(ग) शक्ति सिद्धान्त—कुछ विद्वानों का कथन है कि राज्य का मुख्य आधार शक्ति है। बलवान आदमी कमजोर को दबाता है और उसको अपने अधीन कर लेता है। जो जबरदस्त होता है, उसकी दूसरों पर हुकूमत चलती है। प्रभावशाली और बलवान आदमी समूह का नायक, नेता या सरदार बन जाता है, या बना लिया जाता है। इस तरह पुराने जमाने में एक कबीले की खेती या चरागाह की, दूसरे आदमियों से रक्षा करने के लिए एक सरदार होता था। वह कबीले के आदमियों को आपस में झगड़ा करने से रोकता था, उनके झगड़ों का फैसला करता था, और दूसरे कबीले से लड़ाई होने की दशा में अपने कबीले का नेता होता था। सरदार को उस समय के विचार से, कबीले का राजा कहा जा सकता है।

(घ) सामाजिक इकरार सिद्धान्त—महाभारत के शान्तिपर्व में बतलाया गया है कि पहले 'मत्स्य न्याय' प्रचलित था, यानी जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है, इसी तरह बलवान दुर्बल को सताता था। तब सब लोगों ने मिल कर यह नियम बनाया कि जो कोई किसी से कड़वी बात कहेगा,

किसी को मारेगा या किसी स्त्री अथवा माल को उड़ा ले जायगा, उसको हम सब त्याग देंगे; यह नियम सब के लिए समान रूप से काम में लाया जायगा। कुछ समय बाद इस नियम से भी काम अच्छी तरह नहीं चला, तब प्रजा ब्रह्मा के पास गयी और उससे कहा कि हमें कोई नायक या शासक दो, जो सबसे नियमों का पालन कराए। इस पर ब्रह्मा ने मनु से यह काम करने के लिए कहा। मनु ने कहा, 'मैं पाप-कर्म से डरता हूँ। खोटे काम करनेवालों पर राज्य करने से मैं पाप का हिस्सेदार हूँगा, मुझे पाप लगेगा।' तब लोगों ने मनु से कहा, 'राष्ट्र में जो पाप होगा, वह पाप करनेवाले को लगेगा। तू मत डर। तुझे हम पशुओं का पचासवाँ हिस्सा और अनाज का दसवाँ हिस्सा देंगे। थिहयार और सवारी लिए हुए हमारे सिपाही तेरे साथ रहेंगे। हम जो अच्छे काम करेंगे उनसे होने वाले धर्म का चौथा भाग भी तुझे मिलेगा। तू सुख और आनन्द से राज्य कर।' इन शर्तों को स्वीकार करके मनु राज्य करने लगा।

इस बयान से राज्य की उत्पत्ति के 'इकरार सिद्धाँत' का आभास मिलता है। राजा धर्म के अनुसार राज्य करे, और अपराधियों का दमन करे; प्रजा उसे ठहराया हुआ कर और दूसरी सहायता दे। यह सिद्धान्त योरप के कई बड़े नामी लेखकों न माना है, और इसके बारे में समय-समय पर बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे गये हैं। फ्राँस की राजक्रान्ति पर रूस के 'सोशल कन्ट्राक्ट' (सामाजिक इकरार) नाम के ग्रन्थ का भारी असर पड़ा था। इस ग्रन्थ में यह दिखलाया गया है कि राजा का अधिकार प्रजा की सम्मति पर निर्भर है; प्रजा के मत के विरुद्ध राजा कुछ नहीं कर सकता। असली सत्ता जनता की है, राजा की नहीं; वैसे दोनों प्रतिज्ञा में बंधे हैं। अगर राजा अपना कर्त्तव्य ठीक तरह पालन नहीं करता तो प्रजा को अधिकार है कि राजनियम भंग करे, राजा को हटा दे और उसे दिये अधिकार और सत्ता उससे वापिस ले ले। यह सिद्धाँत योरप में खास तौर से अठारहवीं सदी में प्रचलित रहा।

(च) विकास सिद्धान्त—ऊपर बताये हुए सिद्धान्तों में कुछ सच्चाई हो सकती है, पर उनमें से कोई पूरे तौर से और व्यापक रूप में स्वीकार नहीं

किया जा सकता। बात यह है कि राज्य एक ऐसी संस्था है, जिसका धीरे-धीरे विकास हुआ है। शुरू जमाने में मनुष्य जाति की ऐसी हालत रही होगी, जब उसे राज्य की कल्पना नहीं थी। पीछे कुछ विचारवान लोगों को नियम, कायदे आदि बनाने की बात सूझी; उन्होंने अपने विचार का लोगों में प्रचार किया। इस तरह राज्य का जन्म हुआ। फिर देशकाल के अनुसार इसमें आवश्यक परिवर्तन होता रहा। अब तो जुदा-जुदा देशों में इसके तरह-तरह के जटिल रूप मौजूद हैं। राज्य का विकास सिद्धान्त आम तौर से ठीक जचता है, और आसानी से समझ में आ जाता है। तो भी सामाजिक उन्नति की अलग-अलग मंजिलों को निश्चत करना बहुत मुश्किल है, इसलिए राज्य के विकास की कोई खास पद्धति या कारण निश्चित नहीं किया जा सकता। समय-समय पर जुदा-जुदा बातों का असर पड़ा है।

राज्य और धर्म—राज्य की उत्पत्ति की बात यहीं समाप्त करके अब हम राज्य सम्बन्धी दूसरी बातों का विचार करते हैं। पहले कहीं-कहीं बहुत से आदमियों की पुरोहितों या धर्माचार्यों में बहुत ही श्रद्धा-भक्ति रही है। मिसाल के तौर पर योरप में खासकर चौथी सदी से पन्द्रहवीं सदी तक रोमन केथलिक ईसाई अपने पोप को बादशाह से भी अधिक मानते थे। पोप जिसे चाहता, उसे बादशाह बनाता, और जिसे चाहता उसे राजगद्दी से उतार देता या जाति-बाहर करके खूब परेशान करता था। पोप की इच्छा के विरुद्ध व्यवहार करनेवालों के लिए खास 'न्यायालय' थे, जो जुर्माने, जायदाद-जती और जीते जी जलाये जाने तक की सजा देते थे। धीरे-धीरे इन बातों में कमी हुई।

बहुत से देशों में लोगों की यह भी समझ रही है कि राज्य को अपने क्षेत्र में एक विशेष धर्म मानना और उसका प्रचार करना चाहिए; दूसरे धर्म वालों को बहुत से सरकारी पदों या अधिकारों से वंचित रखना चाहिए। इसके कुछ उदाहरण अब तक भी मिलते हैं। पर पिछली सदियों में ज्यों-ज्यों विज्ञान और तर्क की उन्नति, आमदरफ्त की वृद्धि, शिक्षा का प्रचार हुआ, लोगों के विचार बदलते गये। अब हर राज्य में जुदा-जुदा धर्मों के मानने-वाले आपस में मिलकर, बहुत-कुछ बराबरी के आधार पर रहते हैं; किसी

खास धर्म वालों की वहाँ ज्यादा नहीं चलती। यह जरूरी समझा जाता है कि राज्य को लौकिक विषयों पर ही ध्यान देना चाहिए, और उसे धार्मिक विचारों के प्रभाव से मुक्त रहना चाहिए।

राज्य का कार्य क्षेत्र—पुराने जमाने में राज्य का कार्य यही समझा जाता था कि वह शान्ति बनायी रखे, लोगों के झगड़ों का फैसला करे, उनके जान-माल की रक्षा करे, और, बाहरी हमलों से बचाए। जो राज्य इतना काम करता था, उसका कर्तव्य पूरा हुआ समझा जाता था। यह काम ऐसा ही है जिसे आजकल पुलिस, अदालतें और फौज करती हैं। अन्य कार्य करने में व्यक्ति स्वतन्त्र रहते थे। इस तरह की विचारधारा को व्यक्तिवाद कहा जाता है। इसके सम्बन्ध में खुलासा आगे 'समाजवाद' अध्याय में लिखा जाएगा। यहाँ यही कहना है कि पिछली सदी के पूर्वार्द्ध में इस व्यक्तिवाद सिद्धान्त का बड़ा प्रचार था; सरकारों ने कारखानों के संचालन में किसी तरह का दखल न दिया, मजदूरों के काम के घंटे बहुत अधिक रहे, उनके स्वास्थ्य पर ध्यान नहीं दिया गया, बालकों से भी काम लिया गया, मजदूरी कम दी गयी। इन बातों से मजदूरों की हालत बहुत खराब हो गयी। लोकमत सरकार की, दखल न देने की नीति के विरुद्ध बढ़ता गया। पीछे कई राज्यों में कानून बनाकर कुछ सुधार किये गये।

इस तरह पिछली सदी में धीरे-धीरे राज्य का कार्यक्षेत्र बढ़ा। राज्य शान्ति-स्थापना के अलावा लोगों के सामूहिक हित के ऐसे बहुत से काम करने लगा, जिन्हें आदमी अलग-अलग न करसकें, या जिनके करने में लोगों को आर्थिक या दूसरी तरह की कठिनाइयाँ हों। इन कार्यों से नागरिकों की तरह-तरह की जरूरतें पूरी होती हैं; ये उनकी शारीरिक, मानसिक, या सांस्कृतिक उन्नति के लिए उपयोगी होते हैं; मिसाल के तौर पर शिक्षा-प्रचार, स्वास्थ्य-रक्षा, चिकित्सा, यातायात के साधन, आर्थिक उन्नति, और समाज-सुधार आदि। इनमें से किसी काम का किसी राज्य द्वारा होना वहाँ की सामयिक परिस्थति पर निर्भर रहा है। परन्तु आम तौर से अब राज्य ऐसे कार्य अधिकाधिक करते जाते हैं। रूस में तो सरकार खेती, उद्योगधन्धे आदि

करीब-करीब सभी कार्य कर रही है; दूसरे देशों में भी यह प्रवृत्ति बढ़ रही है।

राज्य अपने नये बढ़ते हुए कामों के अलावा पुराने काम भी करता आ रहा है। उसके पुराने कामों का आकार या स्वरूप बहुत बढ़ गया है। मिसाल के तौर पर उसका न्याय-कार्य अब इतना ही नहीं रहा कि दो विरोधी पक्ष वाले नागरिकों के झगड़े का फैसला करे, या सरकारी कानून भंग करने-वालों को दंड दे; उसे ऐसे मामलों का भी विचार करना होता है, जो नागरिक खुद राज्य के विरुद्ध चलाते हैं। और, अनेक मामलों में न्यायाधीशों का निर्णय यह भी होता है कि राज्य 'अपराधी' है, या राज्य को अमुक कानून बनाने का अधिकार नहीं था, अथवा कानून का अर्थ ऐसा लेना चाहिए था।

राज्य का क्षेत्रफल और आबादी—पहले राज्य का क्षेत्रफल और आबादी बहुत थोड़ी होती थी; यहाँ तक कि दो-चार गाँवों या एक ही नगर का भी राज्य होता था। महाभारत के युद्ध के समय पांडव पांच गाँवों का राज्य लेकर ही संतोष करने को तैयार थे। यूनान में, अब से दो ढाई हजार वर्ष पहले तक नगर-राज्य थे। एक-एक नगर के नागरिक अपना-अपना शासन-प्रबन्ध करते थे। धीरे-धीरे राज्यों का आकार बढ़ा। ज्यों-ज्यों आमदरफ्त और यातायात के साधन बढ़े, एक नगर-राज्य के आदमियों को दूसरे नगर-राज्य वालों से मिलने जुलने और व्यापार आदि करने का प्रसंग बढ़ता गया। कभी एक राज्य ने दूसरे राज्य पर अधिकार करके अपना आकार बढ़ाया; और, कभी दो या अधिक नगर-राज्यों ने मिलकर अपना एक संघ बना लिया, जिसका उद्देश्य यह था कि आपसी युद्धों को रोका जाय और अगर कोई बाहरी राज्य इन पर धावा करे तो अपनी इकट्ठी ताकत से उसका मुकाबला किया जाए। इस तरह कभी युद्ध से, और कभी मित्रता से, नगर-राज्य बढ़ते-बढ़ते अन्त में देश-राज्य बन गये। जिस तरह पहले कुछ नगर-राज्यों के संघ बने, उसी तरह बड़े-बड़े राज्यों के भी समय-समय पर संघ बने। मिसाल के तौर पर संयुक्त राज्य अमरीका के संघ-राज्य में ४८ राज्य शामिल हैं। इसी तरह रूस और स्विटजरलैंड में भी संघ-राज्य कायम हैं।

जैसे-जैसे आमदरफ्त और यातायात की उन्नति और वृद्धि होती जाती है, एक देश में होनेवाले परिवर्तनों का प्रभाव थोड़े-बहुत समय में दूसरे देशों पर पड़े बिना नहीं रहता। अस्तु, मनुष्य जाति के व्यवहार और रहनसहन आदि में परिवर्तन होता रहता है, यह स्पष्ट है।

परिवर्तनों से उन्नति होती है या अवनति?—इस प्रश्न पर विचार करते समय ध्यान रहे कि मनुष्य जाति की उन्नति अवनति का निश्चय करने के लिए पांच-दस वर्ष तो क्या, एक-दो पीढ़ी का हिसाब लगाना भी काफी नहीं है। मनुष्य जाति की उम्र लाखों वर्ष की है। उसकी उम्र में पचास-सौ वर्ष ऐसे ही समझने चाहिएँ, जैसे आदमी की उम्र में एक-दो दिन। हम किसी आदमी की एक-दो दिन की हालत देखकर ठीक-ठीक यह नहीं कह सकते कि वह सुधर रही है या बिगड़ रही है। सम्भव है, जिस समय की हालत का हमने विचार किया है, वह समय असाधारण या विशेष प्रकार का रहा हो। उसके आधार पर कोई व्यापक अनुमान करना भ्रमपूर्ण हो सकता है। इसी तरह मनुष्यों की एक-दो पीढ़ियों की हालत का विचार करके मनुष्य जाति की उन्नति-अवनति का ठीक अनुमार नहीं लगाया जा सकता। खासकर अपने समय के हालत को देखकर तो बहुत ही कम आदमी निष्पक्ष निर्णय देने में समर्थ होते हैं। बात यह है कि हमें अपने समय में अकसर कुछ असुविधाएँ, कुछ असन्तोष और कुछ शिकायतें रहती हैं। हम उनसे प्रभावित होकर मनुष्य जाति की अवनति की बात किया करते हैं। इस तरह हम गम्भीरता-पूर्वक दूर तक की बात नहीं सोच सकते। हाँ, यह भी सम्भव है कि कुछ आदमी अपने समय के आविष्कारों आदि का बड़ा गर्व या अभिमान करें और पूर्वजों को असभ्य और कम-अक्ल मानते हुए अपने आपको बहुत उन्नत समझें। एक अङ्गरेज कवि ने लिखा है—"जैसे-जैसे हममें बुद्धि आती जाती है, हम अपने बुजुर्गों को बेवकूफ समझते हैं। हमारी सन्तान हमसे अधिक बुद्धिमान होगी, और वह हमें निस्सन्देह मूर्ख ख्याल करेगी।"*

* We think our fathers fools, as wise we grow,
No doubt our wiser sons will think us so.

राष्ट्र-राज्य—सोलहवीं सदी से कुछ राज्य राष्ट्रीयता के आधार पर बनने लगे। इन्हें राष्ट्र-राज्य कहा जाता है। योरप में इस समय एक-एक जाति या संस्कृति के आदमियों ने अपना-अपना राज्य बनाना शुरू किया। फ्रांस, जर्मनी, इटली, टर्की आदि राज्य इसी तरह बने। उस समय राष्ट्रीयता की लहर बड़े जोर पर थी। पीछे जाकर वह वैसी प्रबल न रही, या न रह सकी। अब कोई राज्य किसी एक विशेष राष्ट्रीयता के ही आदमियों का नहीं होता, उनमें थोड़े-बहुत आदमी दूसरी राष्ट्रीयता के भी होते हैं।

साम्राज्य—बहुत प्राचीन समय से कुछ राजा अपने-अपने राज्य से संतुष्ट न होकर दूसरे देशों पर अधिकार जमाते रहे हैं। पहले, राजा अपनी धौंस जमाने के लिए या अपने नागरिकों को दूसरे देशवालों से सामाजिक या सांस्कृतिक दृष्टि से मिलाने के लिए दूसरे राज्यों को जीतते और अपना साम्राज्य स्थापित करते थे। वे अधीन देशों के भीतरी शासन-प्रबन्ध में विशेष हस्तक्षेप नहीं करते थे। पिछली सदी में मशीनों और कल कारखानों से माल बहुत अधिक तैयार होने लगा, यहाँ तक कि वह अपने देश में न खप सका। अधिक माल को बेचने के लिए नये-नये बाजारों की खोज होने लगी। कमजोर देशों पर अधिकार जमाने के लिए बड़े-बड़े राष्ट्रों ने भारी कोशिश की। उन्नीसवीं सदी के पिछले हिस्से में पूँजीवाद की लहर खास तौर से बढ़ी। बड़-बड़े साम्राज्यवादी राष्ट्र अपने अधीन देशों से कच्चा माल सस्ते भाव से लेकर और उन्हें अपना तैयार माल मंहगे भाव बेचकर उनका खूब शोषण करने लगे। आधुनिक साम्राज्यवाद का जन्म इसी समय से माना जाता है।

विशेष वक्तव्य—पहले छोटे-छोटे राज्य बने, पीछे आदमियों ने नगर-राज्यों से काम चलाया, फिर कुछ-कुछ नगर-राज्यों को मिलाकर उनके संघ बनाये, या एक राज्य ने दूसरों को जीतकर अपना विस्तार किया। राज्यों का आकार बढ़ा; राष्ट्र-राज्य या देश-राज्यों का निर्माण हुआ। फिर इन राज्यों में से भी कुछ के संघ बने, और किसी ने साम्राज्य का स्वरूप धारण किया। इस तरह ऐसे राज्य के बनने की दिशा में प्रगति हो रही है, जिसमें ज़्यादा-

ज्यादा भूमि हो, और ज्यादा-ज्यादा जनता का राजनैतिक और आर्थिक संगठन हो; यहाँ तक कि संसार भर में एक राज्य हो। मनुष्य जाति की राजनैतिक प्रगति का लक्ष्य विश्व-संघ बनाना है।

तेतीसवाँ अध्याय

शासनपद्धति

विविध शासनपद्धतियाँ—प्राचीन यूनान के मशहूर राजनीतिज्ञ अरस्तू (एरिस्टाटल) का कथन है कि शुरू में राजा का शासन हुआ; कारण, उस समय राज्य छोटे-छोटे, एक-एक नगर के ही थे, और उन राज्यों में गुणवान् आदमी कम थे। धीरे-धीरे गुणवानों की संख्या बढ़ी। इन्हें एक आदमी की हकूमत सहन न हुई। इन्होंने अपना समूह बनाया और राज्य करने लगे। पीछे ये जनता के धन से धनवान् होने लगे। धन से जनता में आदर मान होने लगा। इस तरह धनवानों का शासन शुरू हुआ। पीछे धन की तृष्णा से इनका पतन हुआ और इनकी जगह एक स्वेच्छाचारी आदमी की हकूमत आयी। इससे जनता को जोर मिला और उसने शासन का अधिकार हासिल किया। यह आखिर में झुंड-तन्त्र में बदल गया।

अरस्तू के इस मत का आधार बहुत कुछ यूनान के नगर-राज्यों का इतिहास है। दूसरे लेखकों के, इस विषय में अपने-अपने विचार हैं। इसके अलावा, कुछ शासनपद्धतियाँ ऐसी भी रही हैं, और अब तो बहुत ज्यादा हैं, जिन्हें न तो शुद्ध राजतन्त्र ही कहा जा सकता है, न शुद्ध उच्च जनतन्त्र या कुलीन तन्त्र और न शुद्ध लोकतन्त्र ही। उनमें इन भेदों में से दो-दो के, और किसी-किसी में तो तीनों के ही कुछ-कुछ लक्षण मिलते हैं। ये शासनपद्धतियाँ 'मिश्रित' हैं।"

राजा के अधिकार—यह कहा जा सकता है कि शुरू में जो शासनपद्धति प्रचलित हुई, उसमें राज्य की बागडोर अकसर एक ही आदमी (राजा) के

हाथ में थी, सब कर्मचारी उसके अधीन होते थे। वह अपने सलाहकारों की मदद से, पुराने रिवाजों के अनुसार शासन करता था। उसकी शक्ति ज्यादातर शारीरिक या सैनिक होती थी—भाले, तीर तलवार आदि की। पीछे उसे धर्म का भी सहारा मिलने लगा। लोगों को यह धारणा होने लगी कि राजा तो ईश्वर का प्रतिनिधि है। समय-समय पर बहुत से धर्माचार्यों ने ऐसे विचारों का प्रचार किया। इस तरह धर्म का सहारा पाकर राजा की गद्दी और भी सुरक्षित होने लगी। धीरे-धीरे राजाओं के अधिकार बढ़ गये। वे फिजूल-खर्ची. अन्याय या अत्याचार करते तो कोई उनका विरोध न करता; आदमी ज्यादातर श्रद्धालु या विश्वासी थे। वे स्वतन्त्र विचार नहीं करते थे। हाँ, राजा भी अकसर जनता के हित में ही अपना हित मानते थे। फिर, उन्हें यह भी आशंका रहती थी कि सताये जाने पर आदमी कहीं विद्रोह या बगावत न कर बैठें।

राजतन्त्र; अवैध और वैध—पहले जुदा-जुदा कबीलों में लड़ाई होती रहती थी, और लूटमार का बड़ा डर रहता था। राज्य की स्थापना होने पर लोगों का जानमाल पहले से अधिक सुरक्षित होने लगा। कितने ही राजा तो अपनी प्रजा की उन्नति के लिए खुद तकलीफ उठाने के लिए तैयार रहते थे। भारतवर्ष में राजा रामचन्द्र का शासन इतना बढ़िया रहा कि रामराज्य. का अर्थ ही अच्छा, आदर्श राज्य हो गया। यहाँ और दूसरे देशों में अच्छे-अच्छे राजाओं की कितनी ही मिसालें मिलती हैं। तो भी इतिहास में अकसर यही देखने में आया है कि हजारों या लाखों आदमियों पर निरंकुश हकूमत करने वालों में विरले ही ऐसे होते हैं, जो स्वार्थी और अत्याचारी या भोग-विलास में फंसने वाले न हों। इसलिए राजाओं पर नियंत्रण रखने की आवश्यकता हुई। बहुत से स्थानों में राजतन्त्र को अवैध न रखकर वैध बनाया गया, अर्थात् राजा को निर्धारित नियमों के अनुसार काम करने वाला ठहराया गया।

भारतवर्ष में राजतन्त्र बहुत पुराने जमाने से प्रचलित रहा है। लेकिन शास्त्रों में यह साफ तौर से बताया गया है कि कैसे गुणों वाला आदमी राजा

बनना चाहिए। राजा बनने से पहले उसकी शिक्षा-दीक्षा किस तरह की हो; किस प्रकार शुरू से ही उसमें अच्छे संस्कार डाले जाएँ, जिससे वह विचारशील, संयमी, दूरदर्शी, उत्साही, धन को ठीक तरह से खर्च करने वाला, और काम-क्रोध-लोभ-मोह से दूर रहनेवाला हो। यहाँ प्राचीन नीतिकारों ने अब से हजारों वर्ष पहले राजा को ऋषियों या विद्वानों के नियंत्रण में रखने की व्यवस्था की थी। उन्होंने यह माना है कि राजा से भी गलती हो सकती है, इस लिए उन्होंने उसके गलती करने पर उसके वास्ते तरह-तरह के दंड ठहराये हैं। आचार्य कौटिल्य ने अयोग्य राजा को गद्दी से उतारने और उसकी जगह दूसरा बैठाने तथा अधर्मी और प्रजा का तिरस्कार करनेवाले राजा के मारे जाने की भी प्रत्यक्ष तथा परोक्ष सूचना दी हैं। इस तरह अब से दो हजार वर्ष से भी पहले भारतवर्ष में राजतन्त्र वैध या नियंत्रित होने की व्यवस्था थी।

इस जमाने में वैध शासक का एक अच्छा उदाहरण इङ्गलैण्ड का बादशाह है। यद्यपि संविधान के अनुसार उसे अपरिमित अधिकार हैं, लेकिन वह कोई भी कार्य, अपनी इच्छा से नहीं कर सकता। हरेक काम का निश्चय प्रधान मन्त्री करता है; और प्रधान मन्त्री और दूसरे मंत्री ब्रिटिश पार्लिमेंट के प्रति उत्तरदायी होते हैं, जिसके सदस्यों का चुनाव जनता करती हैं। यह स्पष्ट है कि वैध राजतन्त्र में राजा की शक्ति बहुत परिमित होती हैं।

राजा निर्वाचित या पैत्रिक—पहले, राजा चुना हुआ होता था; किसी राजा या सरदार आदि के मरने पर, वहाँ के लोगों में जो आदमी सब से अधिक बलवान, और खासकर लड़ने में होशियार होता था, उसे ही राजा बना लिया जाता था। अकसर राजा उसी आदमी को बनाया जाता था, जिसने राजा के पास रह कर उसके काम में मदद दी हो, और जिसे इस काम का अनुभव हो। कभी-कभी राजा अपने जीवनकाल में ही यह तय कर देता था, कि उसके बाद किसे राजा बनाया जाए। राजा की नजर अपने ही आदमियों पर—मित्रों, रिश्तेदारों या लड़कों पर —पड़नी स्वाभाविक थी। धीरे-धीरे कुछ तो राजा की इच्छा से, कुछ राजपुत्रों के स्वाभाविक गुणों से, और कुछ राजा के खुशामदियों आदि के कारण राजा का बड़ा लड़का राज्य का उत्तराधिकारी

होने लगा। आम तौर से गुणकर्म के अनुसार चुना हुआ राजा ही अच्छा रहता है। लेकिन अकसर राजा के रिश्तेदारों का, और उसके मित्रों आदि का ऐसा प्रभाव होता है कि दूसरे खानदान के आदमियों में से राजा का चुनाव करने में बहुत कठिनाई होती है। इसलिए अब इस पद्धति का विशेष प्रचार नहीं है। हाँ, राजा अपनी शक्ति का दुरुपयोग न करे, इसलिए अब ज्यादातर वैध राजतन्त्र की प्रथा प्रचलित है।

कुलीन तन्त्र और लोकतन्त्र—ऊपर राजतन्त्र की बात कही गयी है, इस पद्धति के अलावा संसार के जुदा-जुदा देशों में समय-समय पर कई दूसरी पद्धतियाँ भी जारी रही हैं। इनके मुख्य दो भेद हैं—उच्च जनतन्त्र या कुलीन तन्त्र, और (२) लोकतन्त्र। कुलीनतन्त्र में राजसत्ता या शासन-अधिकार एक आदमी को न होकर ऊंचे घराने के आदमियों को, या धनवानों या पुरोहितों आदि को होता है। इस पद्धति का आधार धन या वंश होता है; इससे उन्नति या विकास का अवसर थोड़े ही आदमियों को मिलता है, सर्वसाधारण जनता को नहीं।

धीरे-धीरे लोगों ने यह अनुभव किया कि सब से अच्छी शासनपद्धति वही है, जिसमें जागृति या विकास का अवसर अधिक-से-अधिक जनता को मिले। लेकिन जनता में किन-किन आदमियों को शामिल किया जाय? पागल या कोढ़ी और नाबालिग आदमियों को तो आम तौर से शासन-कार्य में भाग लेने के योग्य नहीं माना जाता। इनके अलावा पुराने जमाने में स्त्रियों को भी शासन-कार्य से अलग रखा जाता था। प्राचीन यूनान और रोम आदि में दास-प्रथा (गुलामी) बड़े जोर पर थी; कुल आबादी में दासों की खासी संख्या होती थी। वे भी शासन सम्बन्धी कार्यों में हिस्सा नहीं ले सकते थे। इन सबको निकाल देने पर जो आदमी बाकी रहते थे, वे ही प्राचीन यूनान आदि में राजनैतिक विषयों का विचार किया करते थे। तो भी इसे उस समय जन-तन्त्र, लोकतन्त्र या प्रजातन्त्र कहा जाता था।

प्रतिनिधि प्रणाली—जब राज्य छोटे-छोटे थे, नगर-राज्यों का युग था, तो वहाँ के शासन-कार्य और कानून बनाने में सारी जनता (पागल, कोढ़ी,

नाबालिग,स्त्री और गुलामों को छोड़ कर) हिस्सा ले सकती थी। धीरे-धीरे राज्य बड़े होते गये; कानून का काम भी बढ़ता गया। तब सारी जनता का उसमें भाग लेना सम्भव न रहा। कुछ खास-खास आदमियों से ही यह काम चलाया जाने लगा। आहिस्ता-आहिस्ता प्रतिनिधि-प्रणाली का आविष्कार हुआ। आदमी अपनी ओर से कुछ प्रतिनिधि चुनने लगे, जो कानून बनाए, और शासन सम्बन्धी कार्य करें। धीरे-धीरे गुलामी कम हुई, और, आखिर उठ ही गयी। स्त्रियों को भी मताधिकार दिया जाने लगा; कुछ देशों में इनका यह अधिकार अभी काफी नहीं हैं, फिर भी यह बढ़ता जा रहा है।

लोकतन्त्र में विधान या कानून बनानेवाली सभा जनता के प्रतिनिधियों की होती है। प्रबन्धकारिणी सभा के सदस्यों को राष्ट्रपति नियत करता है, और राष्ट्रपति का चुनाव निर्वाचकों द्वारा होता है। इस तरह शासक और विधान मंडल दोनों ही जनता के प्रति जवाबदेह होते हैं। इसका आदर्श मनुष्य जाति से जन्म वंश, जाति या धर्म का भेदभाव दूर कर सबको समान रूप से उन्नति या विकास का अवसर देना है। यह शासनपद्धति दूसरी शासनपद्धतियों से अच्छी समझी जाती है, और अब अधिकांश उन्नत देशों में किसी-न-किसी रूप में यही जारी है।

लोकतंत्र में कमी—लोकतन्त्र जनता का शासन है। इसमें आदमियों के गुणों का ध्यान न रख कर, संख्या को महत्व दिया जाता है। यह माना जाता है कि सब आदमियों में शासन सम्बन्धी बातों का विचार करने की योग्यता है,और यह योग्यता बराबर-बराबर है। लेकिन असल में यह बात नहीं होती। इसका कड़ुआ अनुभव हमें निर्वाचन के अवसर पर खूब होता है। मतदाता अकसर यह जानते हुए भी कि अमुक आदमी अच्छा प्रतिनिधि साबित न होगा, भय, लालच, रिश्तेदारी या दोस्ती आदि के लिहाज से उसके लिए अपना मत दे देते हैं, और पीछे प्रतिनिधियों के अयोग्य होने और खराब कानून बनाये जाने की शिकायत करते हैं। यहाँ तक कि प्रजातन्त्र के असफल या नाकामयाब होने की घोषणा की जाती है; बात यह है कि लोकतन्त्र उसी हालत में सफल हो सकता है, जब वह छोटे-छोटे क्षेत्रों में हो, आदमियों में

में काफी बुद्धि, योग्यता, और अपनी जिम्मेवारी समझने की भावना हो; वे निर्लोभी और निष्पक्ष हों। इस शर्त के पूरी होने में जितनी कमी रहती है, उतने ही अंश में लोकतन्त्र का असफल रहना स्वाभाविक है।

मिसाल के तौर पर इंगलैंड की शासनपद्धति लीजिए। वहाँ शासन में पूँजीपतियों, कल-कारखानों के मालिकों या संचालकों आदि का बड़ा हाथ रहता है। पार्लिमेंट की निचली सभा (कामन्स सभा) के बहुत से सदस्य वे ही आदमी हो सकते हैं; जिन्हें पूँजीपति आदि चाहें। ऊपरली सभा (लार्डसभा) के सदस्य तो खानदानी अमीर जागीरदार पादरी. आदि होते ही हैं। इसके अलावा मन्त्रिमण्डल में भी कम्पनियों या कारखानों से सम्बन्ध रखनेवालों का काफी प्रभाव रहता है। इस तरह असल में, इंगलैंड के शासन को लोकतन्त्री कहना भूल है। वह तो धनिकतन्त्र या पूँजीवादी तन्त्र है। इसे धनसत्तात्मक लोकतन्त्र कहा जा सकता है: पर यह तो लोकतन्त्र का मजाक ही है। यही बात संयुक्तराज्य अमरीका आदि के बारे में कही जा सकती है, जहाँ बादशाह न होने, और सर्वोच्च अधिकारी राष्ट्रपति होने पर भी शासन में ज्यादातर पूँजीपतियों का ही बोलबाला है।

जो हो, मौजूदा राजनैतिक व्यवस्था संतोषप्रद नहीं है। इसमें अभी बहुत सुधार करना है।

संघ राज्य—पिछले अध्याय में संघ-राज्यों का जिक्र किया गया है। उनकी शासनपद्धति की कुछ मुख्य-मुख्य बातें ये हैं—संघ में जो राज्य शामिल होते हैं, उन्हें अपने भीतरी शासन-प्रबन्ध में स्वतन्त्रता होती है। वे अपनी आमदनी का कुछ हिस्सा और अपने कुछ अधिकार संघ-सरकार को दे देते हैं। संघ-सरकार उन राज्यों के आपसी झगड़े मिटाने और उनकी बाहरी हमलों से रक्षा करने के अलावा उनकी सामूहिक उन्नति की व्यवस्था करती है। विधान में यह बात साफ लिखी रहती है कि किन विषयों में संघ-सरकार को अधिकार होगा, और किन विषयों में संघ के जुदा-जुदा राज्यों को। कुछ विषय ऐसे भी हो सकते हैं, जिनके बारे में दोनों को ही अधिकार हो।

अगर कभी शासन सम्बन्धी किसी विषय में संघ-सरकार, और संघ के किसी राज्य की सरकार में मतभेद हो तो उसका निपटारा संघ-न्यायालय करता है।

विशेष वक्तव्य—मनुष्य जाति की राजनैतिक प्रगति का लक्ष्य अलग-अलग राज्यों का आपस में मिलकर सब का एक राज्य, विश्व-राज्य बनना है। उसका शासन संघ-राज्यों के शासन की तरह होगा; यानी उसमें संघ-शासनपद्धति व्यवहार में लायी जायगी। इस विषय की ब्योरेवार बात धीरे-धीरे समय पर तय होंगी। उनके सम्बन्ध में इस समय हमारी क्या कल्पनाएँ हैं, यह हमने अपनी 'विश्व-संघ की ओर' पुस्तक में बताया है।

चौतीसवाँ अध्याय

कानून

कानून-पालन—राज्य के बारे में पहले लिखा जा चुका है। हरेक राज्य के कुछ कानून होते हैं; ये कानून समय-समय पर बनते और बदलते रहते हैं। राज्य के सब आदमियों को अपने समय के कानूनों का पालन करना होता है। जिस आदमी के बारे में यह समझा जाता है कि इसने कोई कानून भंग किया है, उसके सम्बन्ध में राज्य के न्यायालय में विचार होता है और यदि वह आदमी दोषी पाया जाता है तो उसे दण्ड दिया जाता है, या उसके सुधार की व्यवस्था की जाती है।*

प्राचीन काल में कानून-निर्माण और न्याय-कार्य—पुराने जमाने में, राज्यों

---

*आदमी के दंड सम्बन्धी विचारों में धीरे-धीरे परिवर्तन होता रहा है। अब अपराधी को प्रायः एक प्रकार का रोगी समझा जाता है, जिसका इलाज या सुधार होने की जरूरत है। इस विषय में विस्तार से हमारी 'अपराध-चिकित्सा' पुस्तक में लिखा गया है।

में कानून बनाने और फैसला करने का काम कम ही होता था। भारतवर्ष के विषय में तो यह मशहूर ही है कि यहाँ नियमों का या कानूनों का मूल श्रोत धर्मशास्त्र माने जाते थे। धर्मशास्त्र के आदेशों में फेर-बदल करने का अधिकार राजा या किसी सरकारी संस्था को न था। जब कभी किसी नियम को समझने में कुछ कठिनाई होती या उसके अर्थ में कुछ संदेह होता था तो गाँव या नगर के बड़े-बूढ़ों की राय ली जाती थी, जिनमें सभी वर्णों के आदमी होते थे। न्याय सम्बन्धी बहुत सा कार्य भी स्थानीय आदमी, पंच या मुखिया आदि किया करते थे। प्राचीन काल में पंचायतों का बड़ा जोर था, भारतवर्ष में तो वे बहुत ही प्रभावशाली थीं। इनके सदस्य बड़े-बूढ़े और अनुभवी आदमी होते थे। आजकल भी पंचायतों के सदस्यों में प्रौढ़ता या बड़ी उम्र का होना जरूरी माना जाता है।

विधान-मंडल—कुछ देशों में, शुरू में, राजा को ही कानून बनाने का अधिकार रहा। वह कुछ खास-खास तरह के नियमों के विषय में अपने यहाँ के प्रतिष्ठित आदमियों—सरदार, सामन्त, जमींदार, जागीरदार, महन्त, धर्माचार्य, महाजन, सेठ आदि—से सलाह ले लिया करता था। राजा के इन सलाहकारों की सभा का धीरे-धीरे विकास हुआ। इसके सदस्यों की संख्या बढ़ी। कहीं-कहीं तो राज्य के सभी प्रौढ़ आदमियों को सभा में भाग लेने का अधिकार रहा, और कहीं सदस्यों के लिए सम्पत्ति या शिक्षा सम्बन्धी योग्यता निर्धारित की गयी। इस सभा को विधान-मंडल कहा जाने लगा।

दो सभाएँ कानून बनाने वाली या इस काम में राजा को सलाह देने-वाली सभा में पहले जागीरदार, सरदार, धर्माचार्य आदि बड़े-बड़े आदमी ही होते थे। पीछे धीरे-धीरे कानून बनाने में भाग लेने का अधिकार लोक-प्रतिनिधियों को मिला और एक की जगह दो-दो सभाएँ कानून बनाने लगीं।

इन सभाओं में से जिसमें आम लोगों के प्रतिनिधि होते हैं, उसे छोटी सभा या निचली सभा ('लोअर हाउस') कहते हैं; और जिस सभा में धनी-मानी या प्रतिष्ठित सदस्य होते हैं, या (संघ-शासन की हालत में) जिसमें जुदा-जुदा राज्यों के प्रतिनिधि होते हैं, उसे बड़ी सभा या ऊपरली सभा (अपर

हाउस) या दूसरी सभा ('सेकिंड चेम्बर') कहते हैं; यों निचली सभा में सदस्य ज्यादा होते हैं, और खासकर आर्थिक विषयों में उसके अधिकार भी ज्यादा होते हैं। साधारण कानून दोनों सभाओं की मंजूरी से बनते हैं। आम तौर से, आर्थिक विषयों को छोड़कर, दूसरे विषयों में दोनों सभाओं का अधिकार बराबर होता है। लेकिन निचली सभा में आम लोगों के प्रतिनिधि होने से वही जनता का मत जाहिर करने वाली मानी जाती है। अधिकांश राज्यों में ऊपरली सभा का महत्व बहुत कम रह गया है।

दूसरी सभा से यह लाभ समझा जाता है कि कानून बनने में जल्दबाजी नहीं होती, और धनी-मानी आदि लोगों का भी दृष्टिकोण सामने आ जाता है, लेकिन इस सभा से नुकसान भी बहुत है। जब जनता बहुत प्रगतिशील होती है, आदमी क्रान्तिकारी सुधार चाहते हैं तो इस सभा की कार्रवाई से बड़ी बाधा और देरी होती है। फिर पूँजीपति, जमींदार या महन्त आदि अकसर पुराने विचारों के, और सुधार-विरोधी होते हैं। इस तरह दूसरी सभा एक समस्या ही है। इसे हटाना भी कठिन मालूम पड़ता है; और सुधारना भी आसान नहीं है। इङ्गलैंड आदि कई देशों में इस विषय पर विचार हो रहा है।

कानूनों की वृद्धि—समाज में आदमियों के आपसी सम्बन्ध, व्यवहार, रहनसहन आदि जटिल होते रहे हैं। इसलिए उन्हें अब कायदे कानूनों की जरूरत बहुत ज्यादा मालूम होती है। विधान सभाओं को नित्य नये कानून बनाने या पुराने कानूनों को संशोधन करने का काम रहता है। कानून चोरी ठगी, धोखेबाजी, या हत्या आदि का निषेध करता है, लेकिन उसका काम केवल यह ही नहीं होता कि लोगों को यह कहता रहे कि यह काम मत करो, वह काम मत करो। वह तो उसके काम का एक हिस्सा है। कानून असल में समाज की इच्छा को ठीक निश्चित रूप में जाहिर करने की कोशिश करता है। समाज जिस काम को कराना चाहता है, उसमें मदद के लिए कानून का उपयोग करता है। कानून द्वारा देश में शिक्षा, स्वास्थ्य, आमदरफ्त आदि का इन्तजाम

दो विचारधाराएँ; पुरातनवाद—कुछ आदमी विश्वास करते हैं कि भूतकाल बहुत अच्छा था। वह सतयुग था। सब जगह सुख शान्ति थी। किसी को कुछ कमी या कष्ट न था। अब तो अवनति होती जा रही है। लोगों का चरित्र गिर गया। छल कपट, व्यभिचार ईर्षा-द्वेष आदि बढ़ रहा है। शारीरिक शक्ति का ह्रास हो रहा है। आदमी तरह-तरह के दुःख पा रहे हैं। कलियुग ही ठहरा। उपाय ही क्या है! जहाँ तक हो सके, हमें अपने प्राचीन आदर्शों की प्राप्ति का प्रयत्न करते रहना चाहिए, उन्हें पूरी तरह हासिल करना मुमकिन नहीं है, उनसे आगे बढ़ने की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती। ऐसे विचार वाले आदमी थोड़े-बहुत सभी जगह मिल सकते हैं। भारतवर्ष तथा दूसरे पूर्वी देशों में ऐसे ही विचारों की प्रधानता है। ऐसे विचारों से कुछ हद तक निराशा का भाव पैदा होता है। नये काम करने के लिए उत्साह नहीं होता। हमारे एक मित्र, जिनमें अच्छी प्रतिभा थी, कहा करते थे कि अच्छे से अच्छा साहित्य (वेद आदि) तो लिखा जा चुका है, उससे अच्छा कुछ नहीं लिखा जा सकता, और उससे घटिया लिखना व्यर्थ है; इस प्रकार अब साहित्य-कार्य अनावश्यक है। ऐसी धारणा अब कम होती जा रही है। लोगों के विचार बदल रहे हैं। फिर भी अभी काफी आदमी इस तरह का दृष्टिकोण रखते हैं। खास तौर से धार्मिक भावना वालों और प्राचीन ग्रन्थों में श्रद्धा रखनेवालों में से अधिकांश का यही मत है।

हाँ, जब कि कुछ लोग यह मानते हैं कि सतयुग या स्वर्णयुग चला गया और हमेशा के लिए चला गया, बहुत से हिन्दुओं का विचार है कि कालचक्र घूमता रहता है। सतयुग के बाद त्रेता और द्वापर नामवाले युगों के बीतने पर कलियुग आता है। उसके बाद फिर सतयुग आ जाता है। इस तरह सतयुग और कलियुग बारी-बारी आते हैं, अर्थात् पहले उत्थान फिर पतन। इसके बाद फिर उन्नति और फिर अवनति होती रहेगी। इस मत के अनुसार अब अवनति का चक्र चल रहा है और अभी कुछ समय तक यही चलता रहेगा।

प्रगतिवाद—दूसरी विचार-धारा उन लोगों की है, जो भविष्य की ओर देखते हैं। इनके विचार से प्राचीन काल में आदमी बिलकुल जङ्गली हालत में था।

किया जाता है। कानून लोगों को ऐसे नियम बताता है जिनसे वे आपस में मिलजुल कर रह सकें, और अच्छी तरह काम कर सकें।

विशेष वक्तव्य—कानून जितने अच्छे उदार और निस्पक्ष होंगे उतना ही उनसे नागरिकों का रहनसहन और व्यवहार आदि इच्छा होने में अधिक सहायता मिलेगी। इसलिए यह जरूरी है कि वे खूब सोच समझ कर, निस्पक्ष भाव और उदार दृष्टिकोण से बनाये जाएँ। साथ ही यह बात याद रखी जानी चाहिए कि छोटी बड़ी सभी बातों के लिए कानून नहीं बनायें जा सकते। अगर आदमियों की मनोवृत्ति ठीक न हो तो वे कानून से बचने और उसे व्यर्थ सिद्ध करने का कोई न कोई रास्ता निकालने की कोशिश किया करते हैं। चतुर चालाक आदमी विविध अनैतिक मार्गों से अपना स्वार्थ-साधन करते रहकर भी कानून की पकड़ में नहीं आते। आवश्यकता है कि आदमी सिर्फ कानून के शब्दों को ही न देखें. बल्कि उसकी भावना और उद्देश्य का आदर करें, और समाज-हित के लिए उसका अच्छी तरह पालन करें।

पैंतीसवाँ अध्याय

युद्ध

प्रत्येक युद्ध में नये-नये शस्त्रास्त्र बनते चले जाते हैं। पिछला युद्ध समाप्त हुआ था टैंक और हवाई जहाजों के प्रयोग से। यह युद्ध आरम्भ हुआ उन हथियारों से, और समाप्त हुआ नये अणुबम से। अगला युद्ध, आरम्भ होगा अणुबम से, और समाप्त होगा महाप्रलय से।

—डा० कैलाशनाथ काटजू

पहले कहा जा चुका है कि मनुष्य में दो प्रकार की भावनाएँ साथ-साथ हैं— युद्ध की और शान्ति की। इस विषय में क्या प्रगति हुई, इसका विचार करने के लिए पहले युद्ध का विषय लेते हैं।

मनुष्य और युद्ध—आदमी लड़ता है, और पशु भी। इस तरह इस बात में आदमी पशु से मिलता है। हाँ, पशु अब भी लाखों वर्ष पहले की तरह ही लड़ते हैं और आदमी के लड़ने के ढंग में पहले से बहुत फरक हो गया है। आदमी ने लड़ने की शिक्षा पा ली है और धीरे-धीरे युद्ध का भी विज्ञान बना लिया है. जिसमें पिछले वर्षों में बहुत उन्नति हुई है, और अब अधिकाधिक उन्नति होती जा रही है।

युद्ध के कारण; जमीन, जोरू, जर—शुरू में आदमी को अपना भोजन हासिल करने की कोशिश में, या अपनी रक्षा के लिए पशुओं से लड़ना होता था। पीछे एक आदमी दूसरे आदमी से भी लड़ने लग गया। शुरू में वह छोटे-छोटे कबीलों या कुलों में रहता था, जो एक-दूसरे से अलग और दूर-दूर रहा करते थे। उन्हें शिकार के लिए जमीन के बड़े-बड़े टुकड़ों की जरूरत होती थी। जो 'शिकारगाह' अच्छी होती थी, उसे हथियाने के लिए दूसरे कबीले भी कोशिश करते थे। इस लिए कबीलों में आपस में जमीन के लिए, या वहाँ मिलनेवाले सामान के लिए झगड़ा होता था।

कबीलों में लड़ाई की एक और भी वजह होती थी। अकसर आदमी केवल शिकार करता और लड़ता था। काम-धंधा करने का सब भार स्त्री पर था। वह आदमी के लिए बहुत उपयोगी और सुख देनेवाली थी। इसलिए हर कबीले के आदमियों की यह इच्छा रहती थी कि दूसरे कबीले की स्त्रियों को पकड़ लिया जाय, और उनसे काम लिया जाय। इस तरह कबीलों में लड़ाई की एक वज़ह स्त्री भी होती थी।

जब आदमी पशुओं को पालने और खेती करने लगा तो कुछ लोगों के पास जानवर या अनाज आदि के रूप में धन जमा होने लगा। दूसरे आदमियों में इससे ईर्षा या डाह पैदा होने लगी। फिर कुछ आदमी ऐसे भी थे, जिनके पास यह धन उनकी जरूरत से कम था। इनकी यह इच्छा रहती कि किसी तरह से दूसरों का धन हथिया लिया जाय। इस तरह अब धन के कारण भी लोगों में आपस में लड़ाई होने लगी। इससे ज़ाहिर हुआ कि प्राचीन काल में लड़ाई जमीन, स्त्री या धन के लिए होती थी। कहावत प्रसिद्ध

है कि जोरू (स्त्री), जर (सम्पत्ति) और जमीन ही लड़ाई के मुख्य कारण हैं। हाँ, अब व्यवहार में कुछ अन्तर आ गया है। प्राचीन काल में दो कबीलों की स्त्रियों के लिए लड़ाई होने की बात कही गयी है। इसके अलावा कभी-कभी एक राजा अपने राज्य से बाहर की किसी स्त्री को बल-पूर्वक लेना चाहता था, और अगर यह स्त्री राजघराने की होती, या इसके परिवार को राज्य का आश्रय मिल जाता तो दो राज्यों में लड़ाई ठन जाती थी। अब स्त्री के लिए दो कबीलों की लड़ाई बहुत कम होती है, और दो राज्यों की लड़ाई तो प्राय होती ही नहीं। हाँ, दो आदमियों में छोटा-मोटा झगड़ा जरूर हो जाया करता है, पर वह स्थानीय ही होता है और राज्य द्वारा उसका सहज ही दमन कर दिया जाता है।

विविध भेद-भाव—पिछले सवा हजार वर्षों के युद्धों के कारणों का वर्गीकरण कुछ इस प्रकार भी हो सकता है—(१) धार्मिक भेदभाव, (२) जातिगत या राष्ट्रगत भेद-भाव और (३) राजनैतिक-आर्थिक विचारधाराओं की विभिन्नता। मध्ययुग में बहुत से युद्ध धर्म के नाम हुए। सातवीं-आठवीं सदी में कितने ही योद्धाओं ने इसलाम धर्म का प्रचार करने के बहाने दूर-दूर तक के प्रदेशों पर धावा किया। तेरहवीं-चौदहवीं सदी के ईसाइयों और मुसलमानों के युद्ध ('क्रूसेड') तथा सोलहवीं-सतरहवीं सदी के यूरोप के जुदा-जुदा ईसाई वर्गों के आपसी युद्ध 'धर्म-युद्ध' ही कहलाए। जातीयता या राष्ट्रीयता की भावना का विकास होने पर विविध जातिगत या राष्ट्रगत युद्ध हुए। अब संसार में जुदा-जुदा राजनैतिक-आर्थिक मान्यताएँ प्रचलित हैं। इनमें मुख्य हैं—(१) समाजवादी या लोकतंत्री, (२) साम्यवादी और (३) सर्वोदयी। इनमें से सर्वोदयी तो अहिंसावादी है; और अन्य दोनों का संघर्ष चलता रहता है, कभी प्रत्यक्ष और कभी परोक्ष।

युद्ध के साधन—ऐसा अनुमान है कि पहले बहुत मुद्दत तक लकड़ी और पत्थर के ही हथियार बनाये गये थे। इससे भाले और गदा के युद्ध की उत्पत्ति हुई। पीछे आदमी की निगाह लोहे या दूसरी धातुओं पर गयी तो इनसे भाला, कुल्हाड़ी, तलवार और छुरे आदि बनाये जाने लगे। उस समय

धनुष-बाण बहुत उपयोगी साबित हुआ; उससे दुश्मन से बहुत दूर रहते हुए उस पर अचानक हमला किया जा सकता था। आदमी पहले पैदल ही युद्ध करता था; पीछे जब वह जानवरों को पालना और सिखाना जान गया तो उसने उनसे भी लड़ाई के काम में मदद लेनी शुरू की। घुड़सवार सेना तो प्रसिद्ध ही हो गयी। आदमी, घोड़ों के अलावा, हाथी और ऊँट पर सवार होकर या रथ में बैठकर भी लड़ने लगा।

इस सिलसिले में बख्तर या अङ्ग-रक्षक पोशाक का भी कुछ जिक्र कर दिया जाए। शरीर को जङ्गली पशुओं से बचाने के लिए आदमी पहले पेड़ों की छाल का या चमड़े का उपयोग किया करता था। जब आदमी लड़ने लगा तो उसे चमड़े का उपयोग बहुत अच्छा मालूम हुआ पीछे लोहे के तरह-तरह के सुन्दर और मजबूत बख्तर बनाये जाने लगे; सोने और चाँदी आदि कीमती धातुओं का भी खूब उपयोग हुआ। पैदल और घुड़सवार सैनिकों के अलावा घोड़े, हाथी और ऊँटों के लिए भी बख्तर काम में आते रहे हैं। शरीर-रक्षा के लिए बख्तर के अलावा ढाल का भी आविष्कार किया गया। ढाल पहले लकड़ी और पत्थर की बनती थी, पीछे हड्डी (खोपड़ी) और चमड़े की बनायी जाने लगी। उसके बाद जब आदमी धातुओं को काम में लाना सीख गया तो ढाल धातुओं की बनायी जाने लगी।

ऊपर हथियारों की बात कही गयी है। बारूद के आविष्कार से आदमी ने युद्ध के साधनों में और भी वृद्धि की। अब बन्दूक पिस्तौल, रिवाल्वर और तोपों आदि से भी काम लिया जाने लगा। पहले युद्ध जमीन पर ही होते थे। पिछली सदी से समुद्र भी रण-क्षेत्र बन गये हैं। इधर भाप और बिजली की शक्तियों का आविष्कार हो जाने और रेल तार आदि बन जाने से युद्ध के साधनों में और वृद्धि हो गयी। जंगी जहाज, जल-मग्न नौका ('सब-मेरीन'), तारपीडो, बम-शेल मशीनगन आदि ने जन-धन का नाश करने में कमाल कर दिखाया है। हवाई युद्धों ने तो जमीन और समुद्र दोनों के युद्ध को मात करने की घोषणा कर दी है।

पहले-विश्व युद्ध (१६१४-१८) में हवाई जहाज और टैंकों के अलावा जहरीली गैसों का उपयोग किया गया, जिनसे मिली हुई हवा में सांस लेने से ही आदमी मर जाते है। उस युद्ध में बीमारी के कीटाणुओं से भी काम लिया गया, उन्हें पानी या खाद्य पदार्थों में मिला कर शत्रु के प्राण हरण किये गये। दूसरे विश्व-युद्ध १६३६-४५) में युद्ध के और भी नये-नये साधनों ने दर्शन दिये—पैराशूट या हवाई छतरी, समुद्री सुरंग (माइन'), बिना चालक (पाइलट') के अर्थात् रेडियो से ही चलने वाले वायुयान, राकेट, और अणु-बम आदि। अब तो हाइड्रोजन-बम और 'कास्मिक-रेज' आदि का जमाना है। नये-नये आविष्कार इतनी तेजी से हो रहे हैं कि आज का वर्णन कल अधूरा मालूम होगा।

अणु-बम – युद्ध के साधनों के विशेष ब्योरे में न जाकर यहाँ अणु (एटम) बम के विषय में कुछ लिखना जरूरी है। इसका प्रयोग पहली बार सन् १६४५ में अमरीका ने जापान के विरुद्ध किया; इसमें दो सौ करोड़ डालर खर्च होने का अनुमान है। २३ अगस्त को जापानी समाचार एजन्सी ने बतलाया था कि ५०० पौंड वजन के दो एटम बम जो उन्नतिशील जापानी नगरों – हिरोशिमा और नागासाकी—पर गिराये गये थे, उनके परिणाम-स्वरूप २,००,००० जापानी या तो मर गये या घायल हुए। पहला एटम बम हिरोशिमा के समुद्री अड्डे पर गिराया गया था। इसके गिरते ही ६ मील के दूरी के अन्दर सारे मकान या तो जल कर खाक हो गये या नष्ट हो गये। भयानक गर्मी उत्पन्न हुई। इस बम के विस्फोट होते ही ऐसा ज्ञात हुआ कि २० सूर्य एक साथ चमक रहे हों।

उक्त समाचार एजेन्सी का कहना है कि एटम बम की गर्मी के फल-स्वरूप अभी और लोग भी मरते जा रहे हैं। जिनके शरीर पर इस बम की उड़ती हुई चिनगारी लग चुकी है, वे अच्छे नहीं होते, यहाँ तक कि जिनके शरीर पर साधारण जलने के दाग हैं, वे पहिले तो स्वस्थ नजर आते हैं, किन्तु कुछ दिनों के बाद ही वे कमजोर पड़ जाते हैं; उनमें से बहुतों की मृत्यु भी हो चुकी है।

युद्ध का क्षेत्र—पुराने जमाने में लड़ाई दो व्यक्तियों में होती थी, पीछे समूहों या कबीलों में भी होने लगी। राज्य की स्थापना होने पर उसने अपनी सीमा के भीतर होने-वाली लड़ाइयों का यथा-सम्भव दमन किया, और अपने आदमियों की लड़ने की भावना का उपयोग दूसरे राज्यों से टक्कर लेने में किया। कई-कई राज्यों के संघ या साम्राज्य बन जाने पर युद्ध के क्षेत्र में और भी वृद्धि हुई। जब बड़ी-बड़ी शक्तियों के स्वार्थ आपस में टकराते हैं, और उनमें युद्ध होता है तो उसके आकार प्रकार का क्या कहना! पुराने जमाने से ज्यों-ज्यों सभ्यता और संगठन बढ़ा, एक-एक युद्ध में होनेवाले जन धन का संहार बढ़ता गया। अब द्वन्द्व-युद्ध तो प्रायः इतिहास में ही रह गये। छोटी-छोटी लड़ाइयाँ भी पुराने जमाने की चीज होती जा रही हैं। अब तो महायुद्ध ही नहीं, विश्व-युद्धों का युग है।

युद्ध का आदमी के निवास-स्थानों पर प्रभाव—पुराने जमाने में दुश्मन से बचाव करने के लिए मकानों की मजबूती की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। अलग-अलग मकानों की ही नहीं, एक कस्बे या नगर भर के सब मकानों की रक्षा का विचार किया जाता था। इस दृष्टि से बहुत से नगर नदियों के (या जहाँ समुद्र हो वहाँ उसके) किनारे बसाये जाते थे। कस्बे या नगरों के जिस-जिस तरफ नदी आदि नहीं होती थी, उस-उस तरफ, और जिनके किसी तरफ भी नदी न हो, उनके चारों ही तरफ, बहुत मजबूत शहर-पनाह, परकोटा या चारदीवारी बनवायी जाती थी। यह चारदीवारी कहीं-कहीं कच्ची यानी मिट्टी की होते हुए भी इतनी मजबूत होती थी, कि तोप के गोले भी उसे सहज ही तोड़ नहीं सकते थे, वे उसके अन्दर ही धंस कर रह जाते थे। इस चारदीवारी के बाहर की तरफ चारों ओर एक खाई रहती थी, जिसमें पानी भरा रहता था। इस खाई पर खास-खास जगह शहर में जाने-आने के लिए पुल होता था, जिसको जब चाहे हटाया जा सकता था। यह सब व्यवस्था इस लिए की जाती थी कि नगर-निवासी बाहरी या गैर आदमियों के हमले आदि

से सुरक्षित रहें। यह बात ज्यादातर राजधानियों और खासकर किलों के लिए की जाती थी।

पुराने जमाने में कभी-कभी पूरे देश या बड़े-बड़े राज्यों की रक्षा करने के लिए भी चारदीवारी आदि बनवायी जाती थी। मिसाल के तौर पर चीन की उत्तरी सीमा पर, ईसा की तीसरी सदी में एक विशाल दीवार बनवायी गयी थी। पीछे, यह कुछ बढ़ायी गयी। यहाँ तक कि यह लगभग पन्द्रह सौ मील लम्बी हो गया। यह दीवार तीस फुट ऊँची है, इसकी मोटाई नीचे २५ फुट तक और ऊपर १२ फुट तक है। इसके हर दो सौ गज के फासले पर ४० फुट ऊँचा बुर्ज या मीनार है। पहाड़ों, जंगलों, और खंदकों के रास्ते बनी हुई यह दीवार चीन की रक्षा की प्राचीन व्यवस्था की कथा अब तक सुना रही है।

मकान, नगर या देश की रक्षा के लिए ऐसी व्यवस्था अब नहीं की जाती। हवाई जहाजों से बरसाये जाने वाले गोलों (और अणुबम) के सामने ऐसी व्यवस्था बेकार ही है। इस लिए अब चारदीवारी का चलन उठ रहा है। नये ढङ्ग की व्यवस्था सोची जाती है तो कुछ समय बाद उसे असफल करने के उपाय निकाल लिये जाते हैं। फ्रांस ने अपनी सीमा पर जमीन के नीचे ही नीचे स्विटजरलैंड से बेलजियम तक किलों की एक मजबूत 'मेजिनो लाइन' बनवायी थी। और, जर्मनी ने इसके जवाब में अपनी सीमा पर 'सिगफ्रीड लाइन' तैयार की थी। सन् १९३९ में जर्मनी ने फ्रांस की लाइन बेकाम करदी और पीछे इंगलैंड और अमरीका की संयुक्त सेनाओं ने जर्मनी की लाइन को भंग कर दिया।

विशेष वक्तव्य—युद्ध में मनुष्य की तीन भावनाएँ काम करती हैं। जैसा दूसरे अध्याय में कहा गया है, मनुष्य की तीन इच्छाएँ या एषणाएँ रहती हैं-(१) धन की चाह, (२) स्त्री-पुत्र की चाह और (३) ख्याति पाने की चाह। इन इच्छाओं की पूर्ति के विविध प्रयत्न ही युद्ध का रूप धारण करते हैं, जो स्पष्ट ही असामाजिक कार्य है और इस लिए मानव प्रगति में बाधक है। आवश्यकता है कि आदमी अपनी इच्छा और आवश्यकताओं पर नियंत्रण रखे। इसी में उसका कल्याण है, और यही उसकी प्रगति का मार्ग प्रशस्त करने

का साधन है। युद्ध को बन्द करने के लिए, शान्ति बनाये रखने के लिए, आदमी ने क्या-क्या प्रयत्न किये हैं, इसका विचार अगले अध्याय में किया जाएगा।

छत्तीसवाँ अध्याय

शान्ति और अहिंसा

हमारे पूर्वज एक दूसरे को खा जाते थे। बाद में वे शिकार पर गुजारा करने लगे। इसके बाद शिकार पर जिन्दा रहने से भी उन्हें शर्म आयी। इस लिए मनुष्य जमीन में से अनेक प्रकार का भोजन प्राप्त करने लगा। गाँव और शहर बसाये। कौटुम्बिक भावना जागृत हुई, जिसने और आगे बढ़कर सामाजिक भावना का रूप लिया। यह सब उत्तरोत्तर बढ़ती हुई अहिंसा की निशानियां हैं। हिंसा वृत्ति धीरे-धीरे कम होती गयी। अगर ऐसा न होता तो जिस तरह बहुत से निचले दर्जे के प्राणियों की जातियाँ लोप हो गयी हैं, उसी तरह मनुष्य जाति भी आज तक खतम हो गयी होती।

—म० गांधी

पिछले अध्याय में युद्ध के बारे में विचार किया गया है। जब मनुष्यों में लड़ाइयाँ होने लगीं तो यह स्वाभाविक ही था कि शान्ति स्थापित करने के प्रयत्न किये जाते। इस विषय में हमने 'विश्व संघ की ओर' पुस्तक में खुलासा लिखा है। यहाँ कुछ खास-खास बातें दी जाती हैं।

शान्ति के प्रयत्न—बहुत ही पुराने जमाने की बात छोड़दें तो यह तो कहा ही जा सकता है कि अब से ढाई हजार साल पहले यूनान के नगर-राज्यों ने अपना एक संघ बनाया था, जिसका उद्देश्य उनके आपसी युद्धों को रोकना, और यदि युद्ध हो ही जाय तो उस में एक निश्चित आचरण को अमल में

लाना, था। इन यूनानी राज्यों ने एक संधि-पत्र में प्रतिज्ञा की थी कि हम एक दूसरे के नगरों को नष्ट नहीं करेंगे, एक दूसरे के मंदिरों की सम्पत्ति को नुकसान नहीं पहुँचाएँगे; युद्ध हो या शान्ति, हम किसी के पीने के पानी की व्यवस्था में बाधा नहीं डालेंगे; और, जो राज्य इन शर्तों को तोड़ेगा, उसे दूसरे राज्य दंड देंगे।

इसके दो सौ वर्ष बाद भारत का सम्राट् अशोक महान् शान्ति-स्थापक के रूप में हमारे सामने आता है। उसने दूसरे देशों को जबरदस्ती जीतना बन्द कर दिया और राजकीय आज्ञाओं द्वारा सबसे प्रेम और सहिष्णुता के लिए अपील की। पीछे यूरोप में 'मध्य युग' में धार्मिक बंधुत्व की भावना ने कुछ समय शान्ति-स्थापना में अच्छा योग दिया। बाद में राष्ट्रीयता का उदय हो जाने पर भी विचारशील सज्जनों ने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति का प्रचार किया और समय-समय पर विविध संधियाँ समझौते और संगठन होते रहे।

शान्ति के इन प्रयत्नों में क्रमशः प्रगति हुई, और अनेक अवसरों पर सफलता भी मिली, अर्थात् युद्ध होते-होते बच गया। परन्तु आदमियों को प्रायः युद्ध, संघर्ष और शोक आदि की बातें अधिक याद रहती हैं; शान्ति, सहयोग और हर्ष की बातों को वह भूल जाता है। फिर, अधिकतर इतिहास इस प्रकार लिखा जाता है कि उसमें शान्तिमय जीवन की अपेक्षा संघर्ष की घटनाएँ हमारा अधिक ध्यान खींचती है। इस प्रकार हमें शान्ति के प्रयत्नों का यथेष्ट महत्व मालूम नहीं होता। पर इससे वह महत्व कुछ कम नहीं हो जाता।

राष्ट्र-संघ—अस्तु, हम शान्ति के पिछले अनेक प्रयत्नों के ब्योरे में न जाकर यहाँ १९१४-१८ के महायुद्ध के बाद की अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की सबसे बड़ी कोशिश का जिक्र करते हैं। यह कोशिश राष्ट्र-सङ्घ नाम की संस्था द्वारा की गयी, जो सन् १९१९ में कायम हुई। इस संस्था के सदस्य वे राष्ट्र होते थे, जो यह प्रतिज्ञा करते थे कि हम बाहरी हमलों से एक दूसरे की रक्षा करेंगे और आपस में, या दूसरे किसी भी राष्ट्र से, युद्ध नहीं करेंगे, जब तक कि अपने झगड़ों को पञ्चायत के सामने फैसले या जाँच के लिए न रख लें, और तीन महीने तक फैसले की इन्तजार न कर लें। राष्ट्र-सङ्घ ने तय किया कि हर राष्ट्र

की परिस्थिति और भौगोलिक अवस्था की जाँच करके उसके शस्त्रास्त्र अधिक से अधिक घटाने की योजना तैयार की जाय। ऐसी योजनाओं पर, हर दसवें वर्ष फिर विचार किया जाय और उनका संशोधन किया जाय। इस निःशस्त्रीकरण के साथ-साथ बीच-बचाव और सबकी रक्षा के प्रश्न का भी सम्बन्ध था। बीच-बचाव का अर्थ है, शान्ति के उपायों द्वारा आपसी कलह मिटाना, जिससे भविष्य में युद्ध के साधनों की जरूरत ही न रहे। हर राष्ट्र की रक्षा दूसरे राष्ट्रों के शान्तिमय विचारों पर निर्भर होती है, इसलिए राष्ट्र-सङ्घ की यह कोशिश थी कि सब राष्ट्र एक-साथ तय की हुई योजना के अनुसार अपने-अपने शस्त्रास्त्र अधिक-से-अधिक घटा कर रखें। राष्ट्र-सङ्घ की एक परामर्श-समिति इस काम के लिए थी कि जल सेना, स्थल सेना और वायु सेना के सम्बन्ध में जानकारी हासिल करके रिपोर्ट और सलाह दिया करे।

शुरू में राष्ट्र-सङ्घ का अलग-अलग राज्यों पर अच्छा असर पड़ा। उसने उनके कई आपसी झगड़े तय किये, जिनमें पन्द्रह बीस काफी गहरे थे। पर पीछे यह बात न रही। राष्ट्र-सङ्घ के स्थायी सदस्य कूटनीति और स्वार्थ-साधन में लग गये। सङ्घ की शिथिलता ने जर्मनी में हिटलर की शक्ति बढ़ायी। योरप में अनेक उलट-फेर हुए, जिनका आखरी नतीजा दूसरा महायुद्ध (१६३६-४५) हुआ। इस तरह राष्ट्र-सङ्घ की विफलता की जिम्मेवारी उन राष्ट्रों पर है, जिन्होंने अपनी कायरता या खुदगरजी के कारण अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से काम न लिया, और विश्व-शान्ति के लिए अपनी ताकत और अपने असर का उपयोग न किया।

राष्ट्र-सङ्घ का सङ्गठन ही ठीक नहीं था। कहने को तो उसका दरवाजा संसार भर के राज्यों के लिए खुला हुआ था, पर असल में उसकी बागडोर कुछ बड़े-बड़े राज्यों के हाथ में थी, जिन्होंने अनेक भू-भागों को अपने अधीन कर रखा था, और जो पहले महायुद्ध के बाद की संधि से अपना साम्राज्य और प्रभुता खूब अधिक बढ़ा चुके थे। ये राज्य अपने अधीन प्रदेशों को आजाद करने के लिए तैयार न थे। इनमें त्याग की वह भावना ही न थी, जो विश्व-शान्ति की चिन्ता करने वालों में होनी बहुत जरूरी होती है। वे कहीं सभ्यता

उसने धीरे-धीरे उन्नति की। प्रत्येक पीढ़ी के आदमी अपने पूर्वजों से कुछ-न कुछ आगे बढ़ते हैं। विकासवादी यह मानते हैं कि आदमी दूसरे प्राणियों का विकसित स्वरूप है।

वैज्ञानिकों का मत है कि पहले पृथ्वी आग की तरह गरम थी, वह धीरे-धीरे ठंडी हुई। तब उसके चारों ओर की भाप का पानी बन गया, उस पानी से समुद्र बना। पानी में पहले घास की तरह के जीव बने, और उन जीवों से मछलियाँ या घोंघे आदि। फिर इनसे कछुवे मेंढक आदि बने, जो जल में भी रह सकते हैं, और थल यानी खुश्की पर भी। ज्यों-ज्यों जमीन की हालत बदली, त्यों-त्यों उस पर रहने वाले पशु पक्षी भी बदलते गये। ये परिवर्तन धीरे-धीरे लाखों वर्ष में हुए हैं। सबसे आखिरी पशु बन्दर और बन-मानुष हैं, उन्हीं से बदल कर आदमी बना है। आदमी और जानवरों में बड़ा फरक यह है कि आदमी में बुद्धि या तर्क-शक्ति होती है, वह नये-नये आविष्कार करता रहता है।

हिन्दुओं का अवतारवाद—हिन्दुओं के दस अवतारों का क्रम भी विकासवाद से मिलता हुआ ही है। हिन्दू शास्त्रों में कहा गया है कि महाप्रलय के बाद सृष्टि में केवल जल ही जल रह गया था। पहला अवतार 'मत्स्यावतार' मछली के रूप में हुआ, जो जल में रहती है। दूसरा अवतार 'कुर्मावतार' कछुवे के रूप में हुआ, जो कि जल में तो रहता ही है, पर जरूरत होने पर थल भाग में भी रह सकता है। तीसरा अवतार 'वाराहावतार' हुआ, जो जल और थल दोनों में रहता है। इसके बारे में यह कथा है कि इसने जल में डूबी हुई पृथ्वी का उद्धार किया; पीछे धीरे-धीरे पृथ्वी पर लता पेड़ पौधे के साथ जीव की सृष्टि होने लगी। चौथा अवतार 'नरसिंह' का हुआ। इसका आधा रूप आदमी का, और आधा सिंह का था। इसका अर्थ यह है कि अभी आदमी पूर्ण रूप से प्रकट नहीं हुआ, उसका सिर्फ आधा शरीर मनुष्य का हो सका है। शेष आधा तो पशु ही है, इसे धीरे-धीरे मनुष्य के शरीर में बदलना है। पांचवाँ अवतार 'वामन' का है, इसमें जीव पशु-योनि से मानव योनि में आता है। इसमें यह भी भाव है कि छोटे से शरीर वाला मनुष्य अपने मन या बुद्धि की चतुराई के कारण

फैलाने के नाम से, कहीं दूसरों को शासन-कार्य की शिक्षा देने के बहाने से, कहीं निर्बलों या अल्पसंख्यकों की रक्षा करने की आड़ में, असङ्गठित या पिछड़े हुए देशों को अपने अधीन रखकर उनकी पैदावार या सस्ती मजदूरी से लाभ उठाते थे।

निशस्त्रीकरण—अब राष्ट्र-सङ्घ की निशस्त्रीकरण यानी सेना आदि घटाने की नीति का विचार करें। बड़े-बड़े राज्यों ने सिद्धान्त रूप में तो निशस्त्रीकरण को पसन्द कर लिया, पर जब अमल करने की बात आयी तो उन्होंने अपने-अपने यहाँ के शस्त्रास्त्र घटाये नहीं। इसके खिलाफ, न केवल राष्ट्र-सङ्घ के सदस्य-राज्य ही, बल्कि वे राज्य भी जिनका संघ के सङ्गठन में खास हिस्सा था, आत्म-रक्षा या तिजारत आदि के बहाने, या गुप्त रूप से, अपनी-अपनी फौज और हथियार बढ़ाने की चिन्ता करते रहे। निशस्त्रीकरण-सम्मेलनों का कोई नतीजा नहीं निकला। हर साम्राज्यवादी राष्ट्र ने अधिक-से-अधिक सैनिक शक्ति रखना जरूरी समझा। उन्होंने यह कहना शुरू कर दिया कि जब तक रक्षा का पूरा इन्तजाम न हो, निशस्त्रीकरण नहीं हो सकता।

अगर सोचा जाय तो शान्ति कायम करने के लिए असली समस्या निशस्त्रीकरण नहीं है। यह तो रोग का बाहरी उपचार मात्र है, जिसका फल अधूरा और क्षणिक ही हो सकता है। जब तक राष्ट्रों में स्वार्थ-त्याग, और सबके भले को देखने की भावना न हो, तब तक शस्त्रास्त्रों के कम करने से, या ज्यादा घातक शस्त्रों की जगह कम घातक शस्त्र रखने मात्र से, शान्ति कायम नहीं हो सकती। सबसे बड़ी जरूरत है, जनता में शान्ति और प्रेम के भावों के प्रचार की, अन्तर्राष्ट्रीय भाईचारे के सम्बन्ध में लोकमत जाग्रत करने की। जब तक आदमी अपनी युद्ध-मनोवृत्ति पर अंकुश न रखें, वे चाहे जिस हथियार से हिन्सा कर सकते हैं; और यदि कोई भी हथियार न मिले तो घूंसे, मुक्के, दांत और नख आदि से ही अपनी हिंसक भावना का सबूत दे सकते हैं, जैसा कि प्राचीन काल में किया करते थे। जरूरत है कि आदमी अपनी बुद्धि के सदुपयोग की तरफ ध्यान दे, और इसे मानव समाज की सेवा

और सहायता में लगाएँ; स्वार्थ, साम्राज्यवाद और पूँजीवाद का अन्त किया जाए; और, हर देश को पूरी आर्थिक और राजनैतिक आजादी दी जाए।

संयुक्त राष्ट्र-संघ—राष्ट्र-संघ की असफलता ने दूसरा महायुद्ध होने का अवसर आने दिया, जिसमें राष्ट्र-संघ का ह्रास होकर अन्त ही हो गया। पीछे कई योजनाएँ बनी। आखिर २४ अक्तूबर १९४५ को संयुक्त राष्ट्र-संघ (यूनाइटेड नेशन्स आरगेनीजेशन या संक्षेप में यू० एन० ओ०) का नियमानुसार संगठन हुआ। इसके कई विभाग हैं, और बहुत सी संस्थाएँ इससे सम्बन्धित हैं। इसके बारे में हमारी 'विश्वसंघ की ओर' पुस्तक में ब्योरेवार लिखा गया है। इस संस्था का कार्य रचनात्मक तथा रक्षात्मक दोनों प्रकार का है। साधारणतया आदमी रक्षा या शान्ति सम्बन्धी कार्य को ही अधिक महत्व देते हैं परन्तु विचार कर देखें तो संसार की आर्थिक या सामाजिक बुराइयों या सांस्कृतिक कमियों को दूर करने से ही युद्ध की सम्भावना घट सकती है। अस्तु, संयुक्त राष्ट्र-संघ के सामने कई जटिल समस्याएँ आयीं; कुछ तो जल्दी या देर में सुलझ गयीं, कुछ अधूरी रह गयीं और कुछ में तो बिल्कुल असफलता ही मालूम हुई। इससे इस संस्था की कमी या दोष स्पष्ट हैं।

सुधार की आवश्यकता—संयुक्त राष्ट्र-संघ की त्रुटियों को दूर करके इसका संगठन उदार और व्यापक आधार पर किया जाना चाहिए। जो राज्य इसमें शामिल होना चाहें, उन्हें इसका सदस्य बनाया जाना चाहिए। प्रत्येक राज्य का प्रतिनिधित्व उसकी असली सरकार करे, कोई नाममात्र की या फर्जी सरकार न हो। उपनिवेशवाद को समाप्त करने का जोरदार प्रयत्न किया जाए, कोई देश पराधीन न रहने दिया जाए। पराधीन तथा अविकसित देशों को राष्ट्र-संघीय देशों द्वारा यथेष्ट सहायता दी जाए, जिससे राष्ट्र-संघ के आर्थिक प्रभुत्व का सन्देह दूर हो। संसार के सब राज्य यह घोषित करें कि वे आक्रमणकारी युद्ध न करेंगे; युद्ध केवल उसी दशा में किया जाएगा, जब किसी दूसरे राज्य से अपनी रक्षा करनी होगी, और उस दशा में संयुक्त राष्ट्र-संघ के सब सदस्य आक्रान्त या पीड़ित राज्य की सहायता करेंगे।

संयुक्त राष्ट्र-संघ में अभी केवल राज्यों या सरकारों के प्रतिनिधि हैं। इसके

अतिरिक्त संयुक्त जनता संघ जैसे नये संगठन की स्थापना होनी चाहिए, जिस में विविध राष्ट्रों की जनता का प्रतिनिधित्व हो। बहुधा सरकारों में ऐसे आदमियों का बोलबाला होता है जो अपने निजी स्वार्थवश या झूठी महत्वाकांक्षा के कारण युद्ध के समर्थक होते हैं, और जब कि दो राज्य आपस में लड़ते हैं तो उनकी जनता के अनेक आदमी एक-दूसरे से प्रेम और सहानुभूति का परिचय देने वाले होते हैं। वास्तव में सब देशों की जनता शान्ति चाहती है और उसके ही प्रबल अन्तर्राष्ट्रीय संगठन शान्ति स्थापित कर सकते हैं।

अहिंसक प्रयत्नों का महत्व—अभी तक हिन्सा का विरोध अकसर हिन्सा से किया गया। इस प्रयोग को करते-करते आदमी ने कितना समय बिता दिया, कतने आदमियों की कुर्बानी हुई, इसके बहुत थोड़े से हिस्से से भी अहिन्सात्मक उपायों से, मनुष्य-जाति का कितना कल्याण हो जाता ! प्रेममय प्रयत्नों से इस पृथ्वी का नक्शा ही बदल जाता !

व्यक्तिगत सफलता—अहिंसा की व्यक्तिगत सफलता के उदाहरण चिर काल से मिलते रहे हैं। भारत में सत्याग्रह द्वारा भक्त प्रह्लाद की अपने अत्याचारी पिता पर और महर्षि वशिष्ट की अभिमानी विश्वमित्र पर विजय प्राप्त करने की बात कौन नहीं जानता ! हाँ, इसका सम्बन्ध धार्मिक या सामाजिक विषयों से, और कुछ इने-गिने व्यक्तियों से था। भारतवर्ष में सर्वसाधारण जनता में प्रेम और अहिंसा का प्रचार, ढाई हजार वर्ष हुए गौतम बुद्ध और महावीर ने किया। बौद्ध धर्म में दीक्षित होकर सम्राट् अशोक ने बर्मा, श्याम, आसाम और चीन, जापान ही नहीं, मध्य और पश्चिमी एशिया और पूर्वी योरप तक अहिंसा का संदेश भेजा।

गौतम बुद्ध के बाद संसार में अहिंसा के दूसरे महान प्रचारक हजरत ईसा थे। इनके प्यार भरे संदेश से, सेवा-भाव से, और इनके त्यागमय जीवन और अनुपम आत्म-बलिदान से लोगों में अहिंसा का अच्छा प्रचार हुआ।

अहिंसा का सामूहिक उपयोग; राजनैतिक क्षेत्र में—अहिंसा के राजनैतिक स्वरूप के विकास और प्रचार करने का विशेष अवसर भारतवर्ष में मिला है। इसके दो रूप हैं—सत्याग्रह और असहयोग।

धार्मिक सत्याग्रह की बात ऊपर कही जा चुकी है। सामाजिक असहयोग की बात भी यहाँ बहुत पुराने समय से है। दुराचारी आदमी को जाति-बाहर कर दिया जाता है। जाति-बिरादरी के सब आदमी उससे असहयोग कर देते हैं। इससे उसका काम चलना बहुत ही मुश्किल हो जाता है। वह अपनी भूल पर विचार करने, और उसका सुधार करने को मजबूर हो जाता है।

प्रजा के दुखों पर ध्यान न देनेवाले राजा या सरकार से असहयोग करने की बात भी यहाँ पहले से रही। हाँ, इसके प्रयोग के उदाहरण कम ही हैं। जो हो, आधुनिक काल में इसका प्रयोग इसी सदी में महात्मा गाँधी ने किया। बहुत-कुछ उनके प्रयत्न से तीस वर्ष में हो भारतवर्ष ने स्वराज्य प्राप्त कर लिया। यह ठीक है कि स्वाधीनता आन्दोलन में कभी-कभी कुछ हिंसा भी हुई, तथापि कुल मिला कर देखें तो आंदोलन अधिकतर अहिंसात्मक ही रहा; और, स्वाधीनता-प्राप्ति का श्रेय बहुत-कुछ अहिंसा-नीति को ही है। इसी-लिए भारत और इंगलैंड का आपसी सम्बन्ध कटुता या शत्रुता का न होकर मित्रता का है। अस्तु, भारत ने राजनैतिक क्षेत्र में अहिंसा की सफलता का एक महान आदर्श उपस्थित किया है।

विशेष वक्तव्य—अस्तु, अहिंसा की इस सफलता को हम भारत और इंगलैंड के लिए ही नहीं, संसार के लिए एक बड़ा वरदान मानते हैं। प्रत्येक पराधीन पीड़ित और शोषित देश की जनता इससे यथेष्ट शिक्षा ले सकती है। मानव समाज के हितैषियों को चाहिए कि युद्धों का अन्त करने के लिए जहाँ-जहाँ अहिंसात्मक आन्दोलन चले, उसमें तन-मन-धन से सहायता करें, जिससे सब देश आजाद हों, संसार का भविष्य सुधरे और मानव अपने असली मानव पद को प्राप्त करे।

आठवाँ भाग

आर्थिक संगठन

अच्छी आर्थिक व्यवस्था वही है, जो सब के लिए काम और आराम दोनों की समान रूप से व्यवस्था करती है। हमें न केवल काम चाहिए और न केवल आराम काम करने के कारण ही हम आराम के अधिकारी होते हैं। यदि आराम (जो हम आवश्यकताओं की पूर्ति होने पर अनुभव करते हैं) हमारा अधिकार है तो काम करना भी हमारा कर्तव्य है। इन दोनों का सुन्दर समन्वय ही अच्छे आर्थिक संगठन का लक्ष्य हो सकता है।

—प्रेमनारायण माथुर

सैंतीसवाँ अध्याय

प्रारम्भिक आर्थिक स्थिति

——:o:——

मनुष्य की जङ्गली हालत में—शुरू में आदमी जङ्गल में रहते हुए, अपने आप पैदा होनेवाले पेड़ों के फल आदि बटोरता था; या जमीन में से कन्द मूल आदि निकालता था, और उनसे अपना गुजारा करता था। वह जानवरों की खाल या पत्तों आदि से अपना शरीर ढकता था और गुफाओं या खोहों आदि में विश्राम करता था। वह इन चीजों के लिए कोई मेहनत नहीं करता था। उसे इस बात की चिंता नहीं होती थी कि कुदरती तौर पर मिलने वाली खाने-पहनने की चीजों का परिमाण धीरे-धीरे कम होता जाता है, कुछ नयी चीजें पैदा करनी चाहिएँ। जब एक जगह कुदरती पैदावार खर्च होते-होते समाप्त हो जाती तो आदमी उसकी खोज में दूसरी जगह चल देता था। उसके मन में दूसरों के अधिकार या अपने कर्तव्य आदि का विचार नहीं था। वह यह नहीं सोचता था कि जिस चीज को मैं खर्च करके समाप्त कर रहा हूँ, उसकी दूसरों को भी जरूरत होगी, उनका भी कुछ अधिकार और उनका ध्यान रखना मेरा कर्तव्य है। यह अर्थनीति सब से नीची दर्जे है। इसे लूट या अपहरण की नीति कहा जा सकता है। इसमें आदमी बिना मेहनत किये मुफ्त में ही प्रकृति से अपनी जरूरत की चीजें लेता है; वह बदले में मेहनत करके कुछ चीजें पैदा नहीं करता। इसमें कार्य-विभाग नहीं के बराबर था। खाने-पीने का सामान जुटाने में पुरुष और स्त्री मिलकर हाथ बटाते थे।

शिकारी या मछुए की दशा में—शिकारी या मछुए (माहीगिर) की दशा में आदमी ने शिकार करने या मछली पकड़ने के लिए औजार या जाल

बनाये। उसने अपनी शक्ति और योग्यता का उपयोग तो किया, लेकिन सिर्फ अपने लिए। उसने कुदरती तौर से मिलनेवाली चीजों को खर्च किया, उनका परिमाण बढ़ाने की कोशिश नहीं की। इस अवस्था में आदमी अपनी मेहनत से जो चीजें हासिल करता था, उन पर उसके परिवार या गिरोह वालों का अधिकार होता था। परिवार या गिरोह से बाहर के आदमियों के अधिकार या सुविधा की बात नहीं सोची जाती थी।

धीरे-धीरे जनसंख्या बढ़ी; खाने-पीने की अधिक चीजों की जरूरत हुई। एक-एक समूह कई-कई टुकड़ों में बँट गया। नये-नये समूहों का निर्माण हुआ। अपनी जरूरतों को पूरा करने में एक समूह की दूसरे समूहों से लड़ाई हुई। जैसा पहले कहा गया है, लड़ने का काम धीरे-धीरे पुरुषों का रह गया, वे ही पीछे जंगल आदि का अधिकतर काम करने लगे। स्त्री का कार्यक्षेत्र घर ही हो चला। इस तरह कार्य-विभाग बहुत मोटे तौर से आरम्भ हुआ। इस अवस्था की मुख्य बात यह है कि स्त्री घर की मालकिन बनी, और पुरुष बाहरी बातों का अधिकारी हुआ।

चरवाहे या गड़रिये की दशा में—पीछे आदमी चरवाहे, गड़रिये या वनजारे का जीवन विताने लगा। अब उसे अपने परिवार या गिरोह के अलावा अपने जानवरों के लिए भी भोजन और चारे की जरूरत होती थी। जब एक जगह ये चीजें न रहतीं तो वह इनकी तलाश में दूसरी जगह चला जाता। धीरे-धीरे वह घास या चारा पैदा करने लगा। इस प्रकार आदमी प्रकृति की दी हुई सम्पत्ति को खर्च करनेवाला ही न रहकर उत्पत्ति भी करने लगा। अब हर एक आदमी का अपने-अपने पशु पर निजी अधिकार होने लगा। निजी सम्पत्ति या मिलकियत की भावना पैदा हो गयी। जिसके पास अधिक पशु होते, वह उतना ही अधिक धनवान माना जाने लगा। इससे एक ओर तो समाज में गरीब अमीर का भेदभाव शुरू हुआ। दूसरी बात यह हुई कि पशुओं को पालने या रक्षा करने का काम ज्यादातर पुरुष करता था, इसलिए वही सम्पत्ति का स्वामी हुआ। उसे ही पशुओं को खरीदने, बदलने या वेचने आदि का अधिकार होने लगा। इस तरह के मामलों में स्त्री को

अधिकार नहीं होता था। वह भले ही पुरुष को कुछ सलाह दे दे, पर उस सलाह को मानने न मानने में पुरुष स्वतन्त्र था। अकसर पुरुष का रुख देख कर ही स्त्री अपना विचार बना लेती थी। वह पुरुष की दी हुई सम्पत्ति का ही उपयोग करती थी। इस तरह अब आर्थिक दृष्टि से स्त्री का पद पुरुष से हीन दर्जे का हो गया।

किसान की दशा में—खेती का काम शुरू होने पर यह क्रम और आगे बढ़ा। यहाँ इस बात को याद रखना है कि यह जरूरी नहीं है कि खेती करने वाले समूह पहले चरवाहे अवश्य ही रहे हों। कुछ दशाओं में ऐसे भी उदाहरण मिले हैं कि आदमियों ने पहले खेती की, और पीछे उन्हें पशु-पालन की सुविधा अधिक होने पर वे चरवाहे हो गये। इस विषय में कुछ खुलासा तौर पर चौथे अध्याय में लिखा जा चुका है।

विशेष वक्तव्य—शुरू में आदमी अपनी भोजन आदि की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कुदरती तौर से पैदा होनेवाली चीजों के आश्रित था। धीरे-धीरे वह अपने पुरुषार्थ और मेहनत से निर्वाह करनेवाला हो गया। लेकिन अब गरीबी अमीरी का, और पुरुष और स्त्री के अधिकारों का भेद भी बढ़ने लगा। पीछे जाकर कुछ आदमी दूसरे आदमियों को अपने अधीन करके उनकी मेहनत से अपनी जरूरतें पूरी करने लगे, और खुद मौज से, आरामतलबी में रहने लग गये; इसका खुलासा विचार आगे किया जायगा।

अड़तीसवाँ अध्याय

गुलामी

मैं सत्य की तरह रूखा और न्याय की भाँति अटल रहूँगा। इस सम्बन्ध में मैं नरमी के साथ न सोचना चाहता हूँ, न बोलना चाहता हूँ, और न लिखना चाहता हूँ। नहीं, नहीं; तुम चाहो तो उस मनुष्य से

जिसके घर में आग लगी हो, नरमी से शोर करने को कह सकते हो, तुम चाहो तो उस पुरुष से जिसकी पत्नि पर कोई बलात्कार करने जा रहा है, उसको नरमी के साथ छुड़ाने को कह सकते हो; तुम चाहो तो उस माता को जिसका बच्चा आग में गिर पड़ा है, उसे नरमी से निकालने को कह सकते हो, परन्तु इस काम (दासता को बन्द करने) में नरमी के लिए मुझ से मत कहो। मैं दृढ़ हूँ। मैं इधर-उधर की बात नहीं करूँगा, मैं क्षमा नहीं करूँगा। मैं पीछे नहीं हटूँगा। लोगों को मेरी बात सुननी पड़ेगी।
—विलियम लायड गेरीजन

गुलामी का प्रारम्भ—पहले कहा जा चुका है कि पशुपालन से आदमियों में स्वत्व या मिलकियत की भावना पैदा हुई; खेती का काम शुरू हो जाने पर वह विचार बढ़ता गया। अब हरेक आदमी यह चाहने लगा कि जितनी अधिक या जतनी बढ़िया जमीन मेरे अधिकार में रहे, उतना ही अच्छा। उपजाऊ जमीन के लिए लोगों में झगड़ा होने लगा। जो अधिक बलवान हुआ, या जिसे अधिक आदमियों की मदद मिली, उसने जमीन पर कब्जा करने के लिए दूसरों को हराया। खेती का आविष्कार होने से पहले लड़ाई में जो आदमी कैद होते, उन्हें मुफ्त में खिलाने-पिलाने की अपेक्षा जान से मार डाला जाता था, और कभी-कभी उनके मांस से दावत उड़ायी जाती थी। पर अब उनसे खेती का काम लेने की तरकीब निकल आयी। इससे अब कैदियों को जिन्दा रखा जाने लगा, पर स्वतन्त्र रूप में नहीं; उन्हें दास या गुलाम बनाकर उनसे पशु-पालन या खेती करायी जाने लगी। यदि हम दासता के शुरू होने की इस बात का ध्यान रखें, तो हमें मानना होगा कि उस समय के विचार से यह एक तरह का सुधार ही था। यह ठीक है कि गुलामी बहुत बुरी है, पर जिस नर-हत्या या नर-मांस-भक्षण की जगह यह आयी, वह तो इससे भी ज्यादा खराब थी। जो हो, संसार में खेती की उन्नति और उसके द्वारा समाज की उन्नति करने में दासता या गुलामी का बड़ा हिस्सा है।

पृथ्वी, आकाश और पाताल इन तीनों लोकों को अपने अधीन करने की सामर्थ्य रखता है। छठा अवतार 'परशुराम' का है, इसमें क्षात्रबल या शारीरिक शक्ति का महत्व बताया गया है।

वामनावतार को मानव देह का चार अंश वाला अवतार कहा गया है, परशुराम को आठ अंश वाला, और उसके बाद आनेवाले सातवें अवतार 'रामचन्द्र' को बारह कला वाला समझा गया है। रामचन्द्रजी को मर्यादा-पुरुषोत्तम कहा जाता है। इसका आशय यह है कि अब आदमी उच्छृंखल जीवन व्यतीत नहीं करता, वह कुल या वंश की मर्यादा का ध्यान रखता है और अनुशासन-प्रेमी है। आठवां अवतार 'श्रीकृष्णचन्द्र' का है, वह पूरा सोलह कला का माना गया है। इसमें केवल कुल या वंश की बात नहीं, समाज के धर्म की कल्पना यानी कर्त्तव्यों का विचार किया गया है। समाज के ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, और शूद्र इन चार भागों के गुण कर्म ब्योरेवार बताये गये हैं। नवाँ अवतार भगवान 'बुद्धदेव' का हुआ। इनके उपदेश की विशेषता यह है कि अब तक ईश्वर या देवी देवता आदि के नाम से जो हिंसात्मक कर्मकाण्ड होता था, वह बन्द किया जाए; समाज की सारी व्यवस्था का आधार अहिंसा, प्रेम और दया हो, जाति-भेद, रंग-भेद और सम्प्रदाय-भेद आदि का अन्त हो। मानव समाज एक है, और उसकी एकता को मान्य करके सब प्रकार की नीति निर्धारित हो। हिन्दुओं के विचार से दसवाँ अवतार, 'कल्कि अवतार' नाम से होनेवाला है जो इस समय के प्रचलित दोषों को दूर कर मानव समाज का हित साधन करेगा।

अवतारवाद का सार यह है कि आदमी का धीरे-धीरे विकास होता रहता है। इस समय संसार की जो हालत है, वह सृष्टि के शुरू से अब तक की पीढ़ियों के आदमियों की सिलसिलेवार तरक्की का नतीजा है। जब लोगों में यह भावना होती है कि संसार तरक्की कर रहा है और हम उस तरक्की में हिस्सा ले सकते हैं तो उनका काम करने का उत्साह बढ़ता है, उनमें उन्नति करने की उमंग रहती है। नित्य नये-नये आविष्कार किये जाते हैं। उन्नति की कोई सीमा नहीं मानी जाती। सुधार और तरक्की की गुंजायश हमेशा स्वीकार की जाती है। भविष्य उज्ज्वल समझा जाता है। योरोप, अमरीका में ज्यादातर आदमियों की धारणा

गुलामी से सामाजिक परिवर्तन—गुलामी ने उस समय की समाज का स्वरूप ही बदल दिया। धीरे-धीरे आदमी यह सोचने लगा कि धनवान, बलवान या प्रतिष्ठावान बनने का रास्ता यही है कि ज्यादा-से-ज्यादा दास या गुलाम रखे जायँ। पहले एक कबीला दूसरे पर, खाने-पीने की चीजों के लिए, हमला किया करता था; अब एक बस्ती के खास-खास आदमी दूसरी बस्ती के आदमियों पर हमला इसलिए करने लगे कि उन्हें बहुत से गुलाम मिल जायँ जो मेहनत-मशक्कत का सब काम किया करें।

गुलामी; सभ्यताओं का आधार—संसार की बहुत सी सभ्यताओं का आधार गुलामी की प्रथा रही है, भले ही उसका स्वरूप देश-काल के अनुसार अलग-अलग रहा हो। आचार्य कौटिल्य के अर्थशास्त्र के दासता सम्बन्धी अंश से यह साफ जाहिर है कि भारतवर्ष में सवा दो हजार वर्ष पहले कुछ दास अवश्य थे, जिन्हें मुक्त करने या जिनकी हालत सुधारने के लिए आचार्य ने अच्छा प्रयत्न किया।

यूनान में, उसकी सभ्यता के शिखर के दिनों में गुलामी का खूब दौरदौरा रहा। वहाँ विद्वान दार्शनिक अरस्तु का मत था कि गुलामी समाज के लिए स्वाभाविक और जरूरी है। अफलातून भी यह जरूरी समझता था कि यूनान में बहुत से गुलाम रहें; हाँ, वे विदेशी हों, यूनानी नहीं। आर्शिमिडीज जैसे आविष्कारक की भी राय थी कि शारीरिक मेहनत का काम वैज्ञानिकों के करने योग्य नहीं है, वह तो गुलामों को ही करना चाहिए। यूनान में स्वतन्त्र नागरिक अपनी सन्तान को बेच सकते थे, और बेची हुई सन्तान अपने खरीददारों की गुलाम होती थी। इसी तरह कर्जदारों को, ऋण चुकाने के समय तक अपने महाजन का गुलाम होना पड़ता था। गुलामों से खेती के अलावा मजदूरी तथा घरेलू चाकरी आदि का काम लिया जाता था।

रोम साम्राज्य के दिनों में वहाँ के सामाजिक जीवन का आधार भी गुलामी ही था। वहाँ के सम्राट् और सेनापति दूसरे देशों को जीत कर वहाँ से बहुत से आदमियों, स्त्रियों और बच्चों को कैद करके लाया करते थे। इनमें से कुछ को राज्य के कार्यों के लिए रख कर शेष खास-खास बाजारों में

भेड़ बकरियों की तरह बेचे जाते थे। जो गुलाम शिक्षित होते थे, जैसे कि यूनान से आये हुए गुलाम होते थे, वे अपने मालिक या उसके बच्चों को पढ़ाते थे। अनपढ़ गुलाम अपने खरीददारों के घरों में नहलाने-धुलाने या खेती आदि का काम करते थे। कानून की दृष्टि से मालिक को अपने गुलामों पर पूरा अधिकार था; वह चाहे उन्हें मारे पीटे, अपने घर के भीतर कैद करके रखे, या उनकी जान तक लेले; उसके खिलाफ कोई शिकायत नहीं हो सकती थी। गुलामों को कोड़े मारना मामूली बात थी। वे कहीं भाग न जायँ, इस लिए उन पर गरम लोहे के निशान दागे जाते थे। अपने मालिकों के मनो-रञ्जन के लिए गुलाम एक दूसरे से घातक अस्त्रों द्वारा या जंगली जानवरों से निहत्थे लड़ते और अपने प्राण देते थे। कोई-कोई गुलाम बहुत भाग्यवान भी होता था। जब कभी कोई दयालु स्वभाव का आदमी किसी गुलाम को खरी-दता तो वह उससे स्वतन्त्र साथी की तरह प्रेम का व्यवहार करता था। कितने ही धनवान और रईस लोग, निस्सन्तान होने की दशा में, अपने गुलाम को अपनी सन्तान की तरह मानते थे, उसकी शिक्षा और स्वास्थ्य आदि की पूरी व्यवस्था करते थे, उसे अपने घर और जायदाद सम्बन्धी जिम्मेवारी के सब काम सौंप देते थे; यहाँ तक कि वे उसे अपना उत्तराधिकारी बना देते थे। मालिक के मरने पर गुलाम ही उसकी जगह लेता था।* विद्वान और कला-प्रेमी आदमी अपने गुलामों की शिक्षा आदि का आदर करते थे, और उनसे ऐसे ही काम लेते थे, जिनसे उनके गुणों का उपयोग और विकास हो।

इस तरह के सौभाग्यशाली गुलाम थोड़े ही होते थे। अधिकतर गुलामों को खरीदनेवाले तो लोभी-लालची होते थे। ऐसे मालिकों की नजर अपनी आमदनी और नफे पर रहती थी। ये गुलामों से अधिक-से-अधिक काम लेते थे, और अधिक काम कराने के लिए उन पर तरह-तरह की सख्ती और अत्याचार करते थे। वे उन्हें खाने-पीने का सामान देते थे

*भारतीय इतिहास पढ़ने वाले, यहाँ गुलाम खानदान के आदमियों के बादशाह होने की बात, अच्छी तरह जानते ही हैं।

तो इसलिए कि वे जिन्दा रह कर उनका काम करते रहें। अगर कोई गुलाम मर जाता तो मालिक को उसका कुछ रंज या अफसोस न होता; हाँ, वह यह जरूर सोचता कि अब मेरे पास काम करनेवालों में एक की कमी हो गयी, या मेरे काम में कुछ हर्ज होगा। गुलाम जितने सस्ते मिल सकते, उतना ही उनकी फिक्र कम की जाती; मालिक सोचते कि एक मर जायगा तो हम दूसरा खरीद लाएँगे, जो शायद इससे भी अधिक काम करे, और इस तरह अधिक आमदनी का साधन हो।

गुलामों का व्यापार—गुलामी के बारे में जुदा-जुदा देशों की ब्योरेवार बातें देने का यहाँ अवसर नहीं। कुछ मुख्य-मुख्य बातों से ही संतोष करना होगा। योरप के अन्दर बहुत मुद्दत तक रोम का शाही नगर गुलामों की मंडी रहा। दूर-दूर से लाये हुए गुलामों का यहाँ भाग्य-निर्णय होता; कितने ही भोले-भाले बच्चे अपने माता पिता से जुदा होते, स्त्री पति से, और पति स्त्री से अलग होता। यह कहा जाता है कि रोम सभ्यता का केन्द्र था। वह सभ्यता कैसी थी, यह तो अलग ही आलोचना का विषय है, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि रोम के बाजारों में गुलामों की खरीद-बेंच खूब डट कर हुई। यहाँ दूर-दूर के व्यापारी नित्य आते थे, और कुछ आदमी गुलामों को रुपये में बदलते थे, और कुछ आदमी गुलामों के रूप में अपनी जायदाद बढ़ाते थे।

दासोद्धार; इंगलैंड में—सैकड़ों वर्ष तक यह शर्मनाक सौदा योरप में होता रहा। पन्द्रहवीं सदी से योरप में धार्मिक और शिक्षा सम्बन्धी जागृति के कारण लोगों के विचारों में कुछ नवीनता आने लगी थी, परन्तु समाज के पुराने संस्कार एक दम नहीं छूट पाते, खासकर जब कि उनका सम्बन्ध समाज के प्रभावशाली आदमियों के स्थायी स्वार्थ से हो। जो हो, गुलामी के विरुद्ध काफी लोकमत संगठित होने में बहुत समय लगा। मिसाल के तौर पर इंगलैंड में कितने ही सज्जनों की लगातार कोशिश होने पर भी दासोद्धार या गुलामी हटाने का कानून ('इमेंसिपेशन एक्ट') सन् १८३३ में जाकर पास हो सका। इस समय से वहाँ गुलामों को रखना नियम-विरुद्ध ठहराया गया। जिन

लोगों के पास गुलाम थे, उनको दो करोड़ पौंड हर्जाने के तौर पर देना मंजूर किया गया।

अमरीका की बात—सतरहवीं सदी से योरप वालों की, अमरीका में बस्तियाँ बनने लगीं और वहाँ खेती और खानों का काम चमक उठा। धीरे-धीरे वहाँ गुलामों की आयात भी खूब बढ़ चली। जहाज-के-जहाज हबशी गुलामों से भरे हुए वहाँ जाते थे,। गुलामों से ज्यादा-से-ज्यादा सख्ती और बेरहमी से काम लिया जाता था। याद रहे कि संयुक्त-राज्य-अमरीका के उत्तरी हिस्से में उपनिवेशों के अधिकतर आदमी व्यापारी और किसान थे; और दक्षिण में बसनेवाले बड़े-बड़े जमींदार थे, जो गुलामों से खेती कराते थे। इस तरह गुलामी दक्षिण के उपनिवेशों में प्रचलित थी। सन् १७८३ में अमरीका के सब उपनिवेशों ने इंगलैंड से अपनी स्वतन्त्रता की लड़ाई में विजय पा ली थी, तो भी दक्षिण के उपनिवेश अपने यहाँ से गुलामी दूर करने के लिए तैयार न थे। और, क्योंकि उत्तरी उपनिवेश गुलामों की आजादी के पक्ष में थे; इन दोनों पक्षों में विरोध बना रहा, और बढ़ता गया। दक्षिण वाले अपनी अलग सरकार बनाने की सोचने लगे। यहाँ तक कि सन् १८६१ ई० में गृह-युद्ध ('सिविल वार') छिड़ गया। इस समय संयुक्त-राज्य का राष्ट्रपति एब्राहम लिंकन था। उसने बड़े धैर्य और गम्भीरता के सब कठिनाइयों का सामना किया। उसकी सन् १८६२ की घोषणा से अमरीका से गुलामी का मुँह काला हुआ। चालीस लाख गुलामों को आजादी का जीवन मिला। युद्ध १८६५ ई० तक चला, अन्त में उत्तरी उपनिवेशों की विजय हुई; दक्षिण वालों की अलग सरकार न बनकर सब का एक संयुक्त राज्य रहा। गुलामों को आजाद करनेवाला, और संयुक्त-राज्य की एकता बनायें रखनेवाला वीर लिंकन दुबारा राष्ट्रपति चुना गया। पर दुष्टों ने अपनी दुष्टता से ही उसका सत्कार किया; एक रात को थियेटर में उसे गोली का शिकार बनाया गया।

अकसर प्रगति करनेवालों के साथ प्रगति-विरोधियों की ओर से ऐसा ही व्यवहार किया जाता है। लेकिन इससे प्रगति का कार्य रुकता नहीं। हर देश

में समय-समय पर लिंकनों की जरूरत रहती है; वे आते हैं, और समाज और राज्य के दोषों को दूर करके उनकी गाड़ी आगे बढ़ाते हैं।

गुलामी हटने का आर्थिक कारण—गुलाम लोग खेती की पैदावार बढ़ाने में विशेष दिलचस्पी नहीं लेते थे। पैदावार कम हो या ज्यादा, इसमें उनकी हानि या लाभ नहीं था। उनके द्वारा होने वाली पैदावार को बढ़ाने के लिए यह जरूरी था कि उसमें उनका भी स्वार्थ रहे। धीरे-धीरे कुछ लोगों के मन में यह विचार आया कि गुलाम जमीन पर जो पैदा करें, उसमें से कुछ हिस्सा खुद उन्हें अपने लिए मिल जाय; शेष पर मालिक का अधिकार रहे। पहले गुलामों के पास अपनी किसी तरह की सम्पत्ति नहीं होती थी। नयी व्यवस्था से उनके पास कुछ धन-धान्य हो सकता था, इसे वे अपने खाने-पीने के काम में लाते, और अगर कुछ बच जाय तो उसे वे पीछे के लिए जोड़कर रख सकते थे। वे जितना अधिक पैदा करते, उतना ही उन्हें भी अधिक मिलता। इस तरह जमीन की पैदावार बढ़ाना उनके लिए भी लाभकारी होता और मालिकों के लिए भी। धीरे-धीरे कुछ गुलामों के पास सम्पत्ति इतनी होने लगी, कि वे अपने निर्वाह के लिए मालिक के मोहताज न रहे। इससे गुलामी दूर होने में मदद मिली।

विशेष वक्तव्य—जिन जगहों में गुलामी रही, वहाँ कभी-कभी एक आदमी के पास सैकड़ों गुलाम रहे तो भी बहुत से आदमी ऐसे रहे, जो न गुलाम थे, और न गुलामों के मालिक ही। वे अपना साधारण जीवन बिताते थे। गुलामी हट जाने का इन पर कुछ प्रभाव न पड़ा; हाँ, जिन लोगों में पहले गुलाम और मालिक का सम्बन्ध था, अब उनमें वह सम्बन्ध न रहा। अस्तु, आखिर गुलामी हट गयी। पर क्या मनुष्य जाति पर उसकी छाया किसी-न-किसी रूप में अब भी पड़ी हुई नहीं है? कहीं किसानों पर जमीदारों की ज्यादतियाँ हैं, और कहीं मजदूरों का पूँजीपतियों द्वारा शोषण है। मालूम होता है कि गुलामी ने इस जमाने में नया चोला पहन रखा है। जो हो, मनुष्य जाति को अभी बहुत प्रगति करनी है।

उन्तालिसवाँ अध्याय

जागीरदारी और जमींदारी

गुलामी के जमाने में, समाज में आर्थिक दृष्टि से दो वर्ग मुख्य रहे—मालिक और गुलाम। जब गुलामी उठ गयी तो दूसरे दो वर्गों की प्रधानता रही। एक ओर कुछ सामन्त या जागीरदार और जमींदार थे, जो जमीन के मालिक या अधिकारी समझे जाते थे; दूसरी ओर जमीन पर काम करनेवाले, अपनी मेहनत से खेती करनेवाले बहुत से खेत-मजदूर या किसान लोग थे, जो एक तरह से गुलामों के नये स्वरूप थे। समाज में इनके अलावा दूसरे भी बहुत से आदमी थे, पर खास वर्ग ये ही थे। पहले हम जागीरदार या सामन्तों की बात लें।

[१] जागीरदारी

जागीरदारों या सामन्तों की उत्पत्ति—जागीरदारी का निर्माण कई प्रकार से हुआ। कुछ जागीरें तो आदमियों ने अपने बल से, जबरदस्ती कायम करलीं। कोई ज्यादा बलवान, हिम्मतवाला और लड़ाकू तबियत का आदमी हुआ; उसने कुछ कमजोर लोगों पर धौंस जमायी या उन्हें हराया, धमकाया, डराया। इस तरह उसने वहाँ उन पर अपना प्रभाव और अधिकार जमा लिया। लोगों ने उसकी प्रभुता स्वीकार करली। वह जागीरदार बन बैठा। यह बात उन्हीं जगहों में हुई, जहाँ राजा या बादशाह कमजोर थे, उनका प्रभाव या नियंत्रण काफी नहीं था। कुछ जागीरें राजाओं ने खास-खास आदमियों को उनकी सैनिक सेवा से प्रसन्न होकर या उनसे भविष्य में सैनिक सेवा प्राप्त करने के लिए दे दीं। कुछ छोटे-छोटे राज्यों के शासकों ने,

अशांति के समय अपनी रक्षा के लिए बड़े राजा का आश्रय लिया, और वे उसके जागीरदार की तरह रहने लगे। कुछ जागीरें राजाओं ने अपने छोटे भाइयों या रिश्तेदारों को दीं। कभी-कभी जागीरें ऐसे बलवान या प्रभावशाली आदमियों को संतुष्ट करने के लिए भी दी गयीं, जिनसे राजा को विरोध की आशंका थी। कुछ जागीरें हाँ-हजूरों, कवियों, पुरोहितों और पुजारियों आदि को भी दी गयीं; ये प्रायःछोटी-छोटी थीं।

बड़े सामन्तों के नीचे छोटे सामन्त, और छोटे सामन्तों के अधीन उनसे छोटे सामन्त रहते थे।

राज्य, सामन्त और छोटे सामन्तों का आपसी सम्बन्ध—जहाँ सामन्तवाद या जागीरदारी प्रथा का जोर था, वहाँ राजा का अधिकांश सेना से सीधा सम्बन्ध नहीं रहता था। जरूरत होने पर राजा अपने सामन्तों को आज्ञा देता था कि अमुक दिन अमुक स्थान पर इतनी सेना तैयार मिलनी चाहिए। इस पर बड़े सामन्त अपने अधीन सामन्तों को इसी प्रकार की आज्ञा देते थे। इस तरह छोटे-से-छोटे सामन्त तक यह आज्ञा पहुँच जाती थी। यह जाहिर ही है कि छोटे-बड़े अनेक सामन्तों द्वारा तैयार की हुई सेना में वह व्यवस्था, या लड़ने का उत्साह नहीं होता था, जो इकट्ठी एक ही ढंग से, एक ही अनुशासन में रहनेवाली स्थायी सेना में होता है। इसलिए बहुधा शासक सिर्फ सामन्तों की सेना पर निर्भर न रह कर कुछ अपनी, वेतन पानेवाली स्थायी सेना भी रखते थे।

राजा को अपने सामन्तों से, और बड़े सामन्तों को अधीन सामन्तों से, सेना की सहायता के अलावा, खासकर त्योहार या विवाह-शादी के अवसर पर कुछ भेंट या उपहार भी मिलता था। अगर कोई सामन्त बिना उत्तराधिकारी छोड़े मर जाता तो उसकी सब सम्पत्ति, उसके ऊपर के सामन्त या राजा की ही जाती थी। एक सामन्त के मरने पर उसका उत्तराधिकारी बननेवाले के लिए यह जरूरी होता था कि वह बड़े सामन्त को या राजा को कुछ धन दे।

सामन्त या जागीरदार अपनी आसामियों से जमीन का लगान तो लेते ही थे; इसके अलावा वे पशुओं, खेत या जंगल की पैदावार आदि पर और

भी कई तरह के टैक्स लेते थे। वे अपने क्षेत्र के न्यायाधीश भी होते थे, और उन्हें अपने आसामियों पर जुर्माना करने का अधिकार होता था। उनका यह अधिकार अकसर उनके लिए एक बड़ी आमदनी का साधन होता था।

यूरोप में सामन्तशाही—सामन्तशाही अपनी चरम सीमा पर यूरोप में पहुँची। नवीं सदी से शासकों के कमजोर होने पर वहाँ अशान्ति और अराजकता फैल गयी थी। शक्तिशाली आदमियों ने बहुत से लोगों की जमीन जायदाद जबरदस्ती अपने कब्जे में कर ली; और कितने ही आदमी अपनी जान माल की रक्षा के लिए खुशी से उनकी शरण में चले गये, इन्होंने अपनी जमीन उन्हें सौंप दी और पीछे कुछ शर्तों पर उनसे ली। इस तरह तेरहवीं सदी में पश्चिमी तथा उत्तरी यूरोप में बहुत कम जमीन ऐसी रह गयी जो किसी छोटे-बड़े सामन्त के अधिकार में न हो। ईसाई धर्म-संघ भी सामन्तशाही की अधीनता से मुक्त न रहा। सामन्तों ने अपने-अपने क्षेत्र में न्याय, शासन और कानून-निर्माण के अधिकार अपने हाथ में ले लिये। राजाओं के अधिकार नाममात्र के रह गये। बड़े सामन्तों की ही चलती थी, उनके नीचे छोटे सामन्त थे, और छोटे सामन्तों की अधीनता में उनसे छोटे सामन्त थे। हर एक को अपने से ऊपर वाले की आज्ञा का पालन करना होता था। वह अपने 'प्रभु' के प्रति बड़ी भक्ति रखने, और जीवन-भर उसका दास या नौकर रहने और सेवा करने की प्रतिज्ञा करता था।

सामन्त का मुख्य कर्तव्य अपने अधीन सामन्तों तथा अन्य व्यक्तियों की सब तरह से रक्षा करना होता था। बड़े सामन्त राजा की सैनिक सेवा करने को तैयार रहते थे। उन दिनों की परिस्थिति में सैनिक सेवा का बड़ा महत्व था। उसकी तुलना में शारीरिक श्रम करना उपहार तथा धन या अनाज आदि देना नीचे दर्जे का समझा जाता था।

सामन्तशाही का ह्रास—सामान्तशाही से आरम्भ में काफी लाभ हुआ। सामन्तों ने बाहरी युद्ध के अवसर पर न केवल सेना जुटाई, बल्कि खुद अपनी जान संकट में डाल कर राज्य की रक्षा की। उन्होंने जनता का भी अच्छा हित-साधन किया; लोगों की शिक्षा, स्वास्थ्य और आजीविका में मदद दी। परन्तु

पीछे धीरे-धीरे यह बात न रही; उनमें आलस्य, विलासिता और लोभ बढ़ता गया। उन्होंने अच्छी सेना रखना कम कर दिया, केवल दिखाने के लिए कुछ सिपाही रखने लगे। लोकहित की उपेक्षा कर वे अपने पद का उपयोग सिर्फ इस बात में करने लगे कि अपनी जागीर के लोगों से ज्यादा-से-ज्यादा धन वसूल करें। उनका व्यवहार बहुत दुखदायी हो गया। इससे जनता उनका विरोध करने लगी। उधर, राजा के लिए उनकी फौजों की उपयोगिता भी कम रह गयी। इसका एक कारण बारूद का आविष्कार भी हुआ। बारूद के उपयोग ने युद्ध की प्रणाली बदल दी। बन्दूकों के सामने तलवार और भाले वाले सिपाही बेकाम हो गये। तोप के गोलों के सामने किले सुरक्षित न रहे। इस तरह राजाओं के लिए सामन्त पहले जैसे उपयोगी न रहे। जनता को भी जागीरदारों का विरोधी पाकर राजाओं ने बहुत से स्थानों में जागीरदारी प्रथा हटाने की कोशिश की।

इस काम में कल कारखानों की स्थाना से भी सहायता मिली। जब लोगों को जागीरदार की अधीनता में रहना असह्य मालूम हुआ तो वे उसकी जागीर से बाहर जाकर कल कारखानेवाले नगरों में रहने लगे, जहाँ मजदूरों की आवश्यकता थी ही। इस तरह जागीरों की आबादी और जागीरदारों का प्रभुत्व घटता गया। अठारहवीं सदी में फ्रांस की राजक्रान्ति होने के बाद यूरोप में इसका बहुत कुछ लोप हो गया।

अब भारत की बात लें। यहाँ नवाब, तालुकेदार और जागीरदार सामन्तशाही के ही फल रहे हैं। अँगरेजों की हकूमत के समय यहाँ देशी राज्यों में जो जागीरें थी, उन्हें 'राज्य के अन्दर राज्य' कहा जा सकता था। प्रत्येक जागीरी क्षेत्र में वहाँ के जागीरदार की भी आज्ञा चलती थी, और राजा की भी। जनता बहुत दुखी थी। उसकी इस शोचनीय स्थिति का अन्त भारत के स्वतंत्र होने पर और देशी राज्यों के भारतीय संघ में मिल जाने पर हुआ।

[२] जमींदारी

जमींदारी प्रथा जागीरदारी से मिलती हुई ही है। हाँ, राजा का जागीरदार से जो सम्बन्ध होता है, वह अधिकतर राज्य की रक्षा की दृष्टि से होता है.

उसे जागीरदारों से सेना की सहायता मिलती है। जमींदारी में यह बात नहीं होती; जमींदार का राजा से सम्बन्ध अधिकतर आर्थिक होता है। जमींदार का काम जनता से मालगुजारी वसूल करने का होता है।

जमींदारी प्रथा का चलन—देशकाल के अनुसार जमींदारी के अनेक रूप रहे हैं। यहाँ उदाहरण के तौर पर भारतवर्ष की बात कही जाती है। प्राचीन काल में यहाँ जिस जमीन को जो आदमी जङ्गल काट कर साफ करता और जोतता-बोता, वह जमीन उसी की मानी जाती थी। राजा को केवल इतना अधिकार होता था कि जनता की रक्षा आदि का खर्च चलाने के लिए दूसरे करों की तरह जमीन की आमदनी वालों से भी कुछ कर ले। पहले, हिन्दू राजा जमीन की पैदावार का प्रायः षड्भाग या छठा हिस्सा कर लेते थे।

मुसलमानों के शासन में भी सरकार का जमीन पर स्वामित्व न था; जमीन की मालिक जनता ही समझी जाती थी। इस समय 'जमींदार' शब्द का प्रयोग आरम्भ हुआ; पर जमींदार बादशाह से वेतन पानेवाला कर्मचारी मात्र था, वह जनता से मालगुजारी वसूल करके सरकार को देता, और बादशाह की जरूरत के लिए कुछ सैनिक भी रखता था। ईस्ट इंडिया कम्पनी के समय में जमींदार का रूप बदला, सन् १७६५ में कम्पनी को बङ्गाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी और इन प्रान्तों की मालगुजारी वसूल करने का अधिकार मिला। अब इन प्रान्तों के हरेक जिले में जो आदमी नीलाम में मालगुजारी की सब से अधिक बोली बोलता, उसे किसानों से एक साल लगान वसूल करने का अधिकार मिलने लगा। अगले साल फिर नये सिरे से नीलाम होता था। इस तरह किसानों से लगान वसूल करने का अधिकार कुछ पैसे वालों के हाथ चला गया, जो 'जमींदार' कहे जाने लगे।

कुछ-कुछ इसी तरह अन्य देशों में जमींदारी प्रथा का चलन आरम्भ हुआ। अकसर जमींदार धीरे-धीरे यह समझने लगे कि किसानों से अधिक-से-अधिक, धन वसूल किया जाय। वे आरामतलबी, और कुछ दशाओं में विलासिता का जीवन बिताने लगे। कुछ तो गाँव छोड़ कर नगरों में आ बसे, जहाँ आमोद-प्रमोद के साधनों की बहुतायत होती है। वे शौकीनी का

इसी प्रकार की है। विज्ञान के प्रचार के साथ-साथ ऐसी भावना वढ़ती जाती है। अव भारतवर्ष में भी वहुत से आदमी इसी तरह के विचार वाले हो रहे हैं।

प्रगतिवाद के पक्ष में—साधारण तौर से यह समझ में नहीं आता कि आदमी को शुरू में एकदम ऐसी वुद्धि, तर्कशक्ति, भाषा आदि हासिल हो गयी कि वह वहुत सोच विचार करने लगा, और पीछे जाकर उसके गुणों का ह्रास हो गया। यह अनुमान होता है कि आदमी का ज्ञान धीरे-धीरे वढ़ता जा रहा है। कुछ वातों में अपवाद मालूम होते हुए भी कुल मिलाकर मनुष्य जाति उन्नति कर रही है, और कई मंजिले तय करके वह अपनी मौजूदा हालत में आयी है।

इस सम्वन्ध में यह याद रखना जरूरी है कि विलकुल शुरू में मनुष्य जाति के सव हिस्सों की हालत एकसी थी, पीछे एक हिस्से ने किसी वात में उन्नति की, दूसरे ने किसी और वात में, और कुछ हिस्सों ने वहुत ही कम उन्नति की। यहाँ तक कि इस समय किसी-किसी देश के आदमी कुछ वातों में ऐसे हैं, जैसे दूसरे देश के आदमी अव से सैकड़ों या हजारों वर्ष पहले थे। वहुधा वोलचाल में कहा जाता है कि अमुक देश विज्ञान की दृष्टि से सतहरवीं या अठाहरवीं सदी में है। इसका मतलव यह है कि वह उन्नत देशों की दो सौ तीन सौ वर्ष पहले की अवस्था में है। इस तरह विज्ञान में सव देशों की उन्नति वरावर न होते हुए, तथा वहुत से देशों के वहुत पिछड़े हुए होने पर भी, यह माना जाता है, कि मनुष्य जाति विज्ञान में उन्नति कर रही है। इसी तरह दूसरे विषयों का विचार किया जा सकता है।

विशेष वक्तव्य—मनुष्य जाति के प्रगति या उन्नति करने का यह अर्थ नहीं है कि संसार के सभी भागों के आदमियों ने उन्नति की है, या सव की उन्नति समान रूप से हुई है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि कोई खास देश पुराने जमाने से वरावर उन्नति ही करता रहा है, या कोई समूह आगे उन्नति ही करता रहेगा। ऐसी भी दशाएँ हो सकती हैं जव मनुष्य जाति का कोई हिस्सा आगे न वढ़ कर पीछे हट जाए। किसी समूह के अकेले पड़ जाने से, समुद्र की भारी वाढ़, विकराल भूकम्प, चारों तरफ रेतीले मैदान के

कीमती सामान खरीदने और तरह-तरह से पैसा बरबाद करने लगे। इसका भार पड़ा बेचारे गरीब किसानों या 'आसामियों' पर।

किसानों पर प्रभाव—जमींदारी प्रथा में अनाज आदि पैदा करने की सब मेहनत किसान करता था, पर पैदावार का खासा बड़ा हिस्सा, 'लगान' के नाम पर, जमींदार ले लेता था। सरकारी मालगुजारी देने के बाद भी जमींदार के पास काफी धन बच रहता था, जिससे वह मौज, शौकीनी या विलासिता का जीवन बिता सकता था; परन्तु बेचारे किसान के पास इतना अनाज या रुपया बाकी नहीं बचता था कि वह अगली फसल आने तक अपनी रोजमर्रा की मामूली जरूरतें भी पूरी कर सके। थोड़े ही दिन में वह महाजन से जिस सूद पर भी उसे कर्ज मिल सकता, लेने को मजबूर होता था। धीरे-धीरे उस पर कर्ज इतना बढ़ जाता था कि वह उसे उतार नहीं सकता था और आखिर वह जमीन से बेदखल हो जाता था। उसके पास मेहनत-मजदूरी करने के सिवा और कोई चारा नहीं रहता था। इससे भी जब उसका काम नहीं चलता तो लाचार कल-कारखानों की ओर दौड़ना उसके लिए स्वाभाविक था।

विशेष वक्तव्य—जागीरदारी और जमींदारी प्रथा में दो जुदा-जुदा वर्ग साफ दिखायी देते थे—शोषण करनेवाले बड़े-बड़े जागीरदार या जमींदार; और, शोषित होनेवाले किसान या जमीन पर काम करनेवाले मजदूर। जब कि जागीरदार लोकहित के कामों में रुपया खर्च नहीं करते थे तो इन कामों का सब उत्तरदायित्व सरकार पर रहता था; उसे इनके लिए जनता पर टैक्स बढ़ाने पड़ते थे। इस तरह की बातों का अनुभव करके जगह-जगह इस प्रथा का विरोध बढ़ता गया। अब बहुत से देशों से यह प्रथा उठ गयी है, भारत में इसे उठाने का काम जल्दी ही पूरा हो जाएगा। अन्य देशों में भी इसके उठने के लक्षण साफ दिखायी दे रहे हैं। यह किसी जमाने में बहुत उपयोगी रही है, पर अब व्यर्थ या निकम्मी है, और, समय के प्रवाह के विरुद्ध कोई चीज बहुत समय तक नहीं बनी रह सकती।

चालीसवाँ अध्याय

सहकारिता

—:o:—

पिछले अध्याय में यह बताया गया है कि जागीरदारी और जमींदारी अपने शुरू के समय में उपयोगी थीं, पर पीछे ये समाज के लिए अनावश्यक और हानिकारक साबित हुई। खासकर कल-कारखानों के बढ़ने से भी उनकी प्रथा बन्द या कम होने में अच्छी सहायता मिली। परन्तु कल-कारखानों से सर्वसाधारण की गरीबी की समस्या हल नहीं हुई, बल्कि पीछे जाकर और भी बढ़ गयी।

गरीबों की रक्षा का उपाय, संगठन—समाज के गरीब सदस्य क्या करें? इनकी रक्षा किस तरह हो? यह सवाल समाज-हितैषियों के सामने चिरकाल से रहा है। बात यह है कि गरीबी-अमीरी का भेद-भाव बहुत पुराने समय से है। हम पहले बता चुके हैं, इस भेद-भाव की उत्पत्ति उसी समय से हो गयी, जब आदमी पशुपालन और खेती करने लगा; और पशु, जमीन या अनाज आदि पर आदमियों का व्यक्तिगत या निजी अधिकार होने लगा; यानी इन चीजों का मालिक कोई व्यक्ति विशेष या समूह विशेष होने लगा। इस तरह गरीबों की रक्षा का सवाल पुराना है। गरीबी की समस्या हल करने के लिए सहयोग या संगठन की व्यवस्था बहुत समय से चली आ रही है। भारतवर्ष में अब से सवा दो हजार वर्ष पहले इसका उपयोग किया जाता था, यह तो आचार्य कौटिल्य के अर्थशास्त्र से ही सिद्ध हो जाता है। कौटिल्य ने किसानों और व्यवसाइयों की श्रेणियों और संघों का उल्लेख किया है। उससे स्पष्ट है कि बढ़ई, लुहार, दर्जी, सुनार आदि संघ बना कर काम करते थे। भारतवर्ष

के अलावा अन्य देशों में भी समय-समय पर आर्थिक आधार पर बने हुए संघों का खूब जोर रहा है।

उन्नीसवीं सदी में, पूँजीवाद और उद्योगवाद बढ़ जाने पर, तथा समाज में आर्थिक विषमता बहुत अधिक हो जाने पर तो लोगों का इस ओर और भी अधिक ध्यान दिया जाना स्वाभाविक था। गरीबों की दशा सुधारने की धुन वाले सज्जनों ने खूब सोच समझ कर निश्चय किया और इस बात का जगह-जगह प्रचार किया कि पूँजीवाद के युग में संगठन ही गरीबों का बल है। पारस्परिक सहयोग का आसरा लेकर, और सहकारी समितियाँ बना कर ही निर्धन आदमी जीवन-संग्राम में ठहर सकते हैं।

सहकारी समितियों की स्थापना—आधुनिक काल में, किसानों और कारीगरों की आर्थिक पराधीनता हटाने का विशेष उद्योग सबसे पहले जर्मनी में हुआ। रेफीसन और शुल्ज दो सज्जनों ने लगभग एक ही समय में इस देश के दो भिन्न-भिन्न भागों में दो प्रकार की सहकारी समितियाँ कायम कीं। रैफीसन सहकारी साख समितियाँ उन स्थानों के लिए उपयुक्त हैं, जहाँ जनसंख्या अधिक न हो, आदमी एक-दूसरे से अच्छी तरह परिचित हों, अपनी बस्ती में स्थायी रूप से रहते हों, और बहुत गरीब हों। ये बातें ज्यादातर गाँव वालों में मिलती है, इसलिए रेफीसन समितियाँ गाँव वालों के लिए अधिक उपयोगी हैं। इसके विरुद्ध, जहाँ आबादी अधिक हो, जिसके कारण आदमी एक-दूसरे को अच्छी तरह न जानते हों, जहाँ आदमी स्थायी रूप से न रहकर नौकरी की खोज में दूसरे स्थानों पर चले जाते हों, वे बहुत गरीब न हों, वहाँ शुल्ज सहकारी साख समितियाँ अधिक अनुकूल होती हैं। ऊपर कही हुई बातें ज्यादातर नगरों में पाई जाती हैं, इसलिए शुल्ज समितियाँ खासकर शहरों में कारीगरों आदि के लिए उपयोगी होती है।

रेफीसन समितियाँ अपरिमित दायित्व वाली होती हैं, यानी उन पर जितना ऋण-भार होता है, वह उनके किसी एक सदस्य से भी वसूल किया जा सकता है। इसलिए उनके सदस्यों का स्थायी रूप से एक स्थान का निवासी होना और एक दूसरे से अच्छी तरह परिचित होना जरूरी

है। इसके विरुद्ध, शुल्ज समितियां परिमित दायित्व वाली होती हैं, उनके किसी सदस्य से समिति के ऋण का उतना ही रुपया वसूल किया जा सकता है, जितना उसके जिम्मे निकलता हो। इसलिए इन समितियों के सदस्यों के लिए एक दूसरे से अच्छी तरह परिचित होना जरूरी नहीं है।

सहकारी समितियों के भेद और उनके उद्देश्य—इन समितियों की देखा-देखी योरप के अन्य देशों में भी सहकारी समितियाँ कायम हुई। दूसरे महाद्वीपों में भी इनका प्रचार हुआ। देश-काल के अनुसार इनके संगठन या नियमों में कुछ-कुछ अन्तर है, और इनके अनेक भेद हो गये हैं। इन भेदों को समझने के लिए यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि आर्थिक दृष्टि से समाज के आदमी तीन समूहों में बांटे जा सकते हैं—(१) उत्पादक, जो किसी प्रकार का कच्चा या तैयार माल पैदा करते हैं, जैसे किसान, मजदूर, कारीगर, कल-कारखाने वाले आदि। (२) उपभोक्ता। इस समूह में समाज में सभी आदमी गिने जाते हैं, क्योंकि सभी आदमी किसी न किसी वस्तु का उपभोग करते हैं। (३) दलाल या व्यापारी, ये चीजों को उत्पादकों से लेकर दूर-दूर तक के उपभोक्ताओं के पास पहुँचाते हैं। ये सस्ते-से-सस्ते दाम पर खरीदते हैं, और मँहगे-से-मँहगे भाव पर बेचते हैं; और इस तरह पहले दोनों समूहों से खूब लाभ उठाते हैं। इस तीसरे समूह में व्यापारी, रेल और जहाज आदि के मालिक, और कमीशन-एजेण्ट शामिल हैं। इनका अकसर बाजार पर अधिकार रहता है, और ये प्रायः पैसे वाले होते हैं। सहकारिता इनकी सहायता नहीं करती, बल्कि इन्हें इनके स्थान से हटाने की कोशिश करती है। वह उत्पादक और उपभोक्ता समूहों के भी सिर्फ उन्हीं आदमियों को मदद पहुँचाती है, जो निर्बल अर्थात निर्धन हो। अस्तु, सहकारी समितियों के मुख्य दो भेद हैं—उत्पादक समितियाँ, और उपभोक्ता समितियाँ।

उत्पादक सहकारी समितियों का उद्देश्य होता है, उत्पादकों को अधिक से अधिक लाभ पहुँचाना। इसके लिए आवश्यक है कि माल कम से कम खर्च में तैयार हो और अच्छे दामों पर बेचा जाय। एक-एक उत्पादक समिति

एक-एक स्थान के एक-एक धन्धे में लगे हुए कारीगरों का सङ्गठन करती है, उन्हें सूद की सस्ती दर पर रुपया उधार देती है, और उन्हें कच्चा माल किफायत से खरीद कर देती है। इस प्रकार वह खर्च की हर एक मद में किफायत करती है। वह कारीगरों को उनके विषय की अच्छी शिक्षा दिलाती है और उनके लिए अच्छे औजारों आदि की व्यवस्था भी करती है, जिससे माल अच्छा तैयार हो। समिति तैयार माल का ठीक बाजार-भाव मालूम करके उसे ऐसे मूल्य पर बेचती है, जिससे किसी प्रकार का धोखा या हानि न हो, और उत्पादकों को यथेष्ट लाभ पहुँचे।

उपभोक्ता सहकारी समितियाँ या उपभोक्ता स्टोर का उद्देश्य यह होता है कि उत्पादकों से अच्छा तैयार माल किफायत से खरीदे और उसे अपने सदस्यों को भरसक सस्ते दाम पर दे। वह यह ध्यान रखती है कि माल शुद्ध, बढ़िया हो, उसमें किसी तरह की मिलावट आदि न हो। इस तरह ये समितियाँ उपभोक्ताओं को मुनाफेखोर व्यापारियों या दलालों के चंगुल से बचाती हैं, और उत्पादक और उपभोक्ता के बीच का अन्तर मिटाने की कोशिश करती हैं।

उत्पादक और उपभोक्ता इन दो तरह की समितियों के अन्तर्गत कई तरह की सहकारी समितियाँ होती हैं, जैसे साख समितियाँ, चकबन्दी समितियाँ, सिंचाई समितियाँ, क्रय (खरीदने वाली) समितियाँ, विक्रय (बेचने वाली) समितियाँ आदि।

सहकारिता का महत्व—विविध सहकारी समितियाँ गरीब आदमियों को पूँजीपतियों या साहूकारों के अत्याचार से बचाने में महत्वपूर्ण भाग ले रही हैं। ये उनको संगठित करके उनमें शक्ति का संचार करती है। सहकारिता में प्रतिस्पर्द्धा और प्रतियोगिता की जगह सेवा का भाव रहता है। लोगों की निजी सम्पत्ति बढ़ाने की जगह यह उनकी सार्वजनिक या सम्मिलित सम्पत्ति बढ़ाती है। यह मुनाफे की रकम मुट्ठी भर आदमियों को न देकर उसे उन सब लोगों में बाँट देती है, जिन्होंने उसे असल में कमाया है। यह मजदूरों का शोषण

रोकती है, और उन्हें उचित मजदूरी देने की व्यवस्था करती है। इस तरह यह समाज का अर्थात् सर्वसाधारण जनता का हित साधन करती है।

विशेष वक्तव्य—सहकारिता का इतना महत्व और उपयोगिता होते हुए भी यह स्वीकार करना होगा कि यह पूँजीपति और मजदूर, या जमींदार और किसान के भेद-भाव को दूर नहीं कर सकी; समाज में ऊँच-नीच की, अमीर-गरीब की भावना में इससे कोई व्यापक और विशेष अन्तर नहीं आया। एक वर्ग के द्वारा दूसरे का शोषण हो रहा है, और अधिकांश जनता की दशा बहुत शोचनीय है। मौजूदा हालत में मूल समस्या सिर्फ आर्थिक ही नहीं है, यह राजनैतिक और सामाजिक भी है। हमें मानव प्रगति पर केवल आर्थिक दृष्टि से विचार न कर, पूरी समाज-व्यवस्था की दृष्टि से विचार करना है। यह काम अगले खण्ड में किया जायगा।

नवाँ भाग

समाज-व्यवस्था

इस छोटी सी जिंदगी में हम कसौटी पर हैं। इस संसार में जो कुछ थोड़े दिन हमें रहना है, उनमें सबकी सेवा तथा सबका प्रेम हासिल करने की कोशिश करनी चाहिए। जिन्होंने इस दुनिया में आकर पैसा कमाया, लेकिन प्रेम गँवाया, उन्होंने कुछ भी नहीं कमाया। जिन्होंने ज्ञान हासिल किया, मगर सबका प्रेम हासिल नहीं किया, उन्होंने कुछ भी हासिल नहीं किया। जिन्होंने शक्ति संपादन की, पर सबका प्रेम संपादन नहीं किया, उन्होंने कुछ भी संपादन नहीं किया। इस लिए, सबसे प्रेम करो और सबका प्रेम हासिल करो, यही सर्वोदय-समाज का संदेश है।

—विनोबा

मनुष्य की अब तक की प्रगति हमको उस नवयुग की रूप-रेखा का संकेत देती है, जिसकी पतीक्षा हम सब कर रहे हैं, जिसमें मनुष्य सचमुच मनुष्य होगा, और जीवन का सूत्र संघर्ष के स्थान में सहयोग होगा।

—सम्पूर्णानन्द

इकतालिसवाँ अध्याय

मानव प्रगति और सुख

हवा और पानी ही नहीं, अणु-परमाणु को भी विज्ञान के सहारे मानव ने अपने संकेतों पर नाचने वाला बना लिया है। आज वह काल को चकित कर रहा है। किन्तु इस तमाम विकास और प्रगति के पीछे स्वार्थपरता की प्रेरणा ही अधिकांशतः सक्रिय है। फलतः महा विनाश की आराधना विशेष रूप से की जा रही है। तब यह कैसा विकास है; कैसी प्रगति है!

—'प्रताप'

समय-समय पर विविध देशों में, और अनेक बार एक ही देश में कई-कई प्रकार की समाज-व्यवस्थाएँ शुरू हुईं, विकसित हुईं, और पीछे आवश्यकतानुसार बदलती रही हैं। इस समय भी कई विचार-धाराएँ हैं। उनका सूत्रपात तथा विकास किस प्रकार हुआ, उनकी मुख्य बातें क्या हैं, तथा उनमें क्या गुण दोष हैं, इनका विचार करने से पहले मानव प्रगति पर एक नजर डाल कर यह देखना जरूरी है कि इस समय मानव समाज कैसी दशा में है, वह कहाँ तक सुखी है।

सभ्यता की वृद्धि—शुरू के जमाने की अपेक्षा अब आदमी के खान-पान, रहन-सहन या जीवन-निर्वाह की पद्धति में कितना अन्तर हो गया है! आदमी की पहले की अवस्था को 'असभ्यता' या जंगलीपन की हालत कहा जाता है। अब आदमी 'सभ्य' हो गया है। मानव जीवन की कथा सभ्यता की वृद्धि का इतिहास है। शुरू में आदमी कन्द मूल, जंगली फल या मांस आदि जो कुछ मिल जाता था, खा लेता था। वह अपनी इच्छा से न फलाहारी हो सकता था, और न मांसाहारी। उसके सामने खाने के पदार्थों की छांट का सवाल न था। उसे तो अपना पेट भरने से मतलब रहता था।

खाने की जो चीज मिल जाती उसी से वह अपनी गुजर करता। जब कोई चीज मिल जाती, तभी वह उसे खा डालने का विचार कर लेता। अगर खाने को काफी नहीं मिलता तो वह भूखा सहता। बहुत मुद्दत के बाद उसने पशुओं को पालना और खेती करना सीखा। अब वह अपनी भूख मिटाने की सामग्री स्वयं पैदा कर सकता है, उसे कुदरती तौर से मिलने वाले पदार्थों से संतोष करने की जरूरत नहीं। यही नहीं, अब तो आदमी ने इतनी उन्नति करली है कि यदि वह अपनी शक्ति का ठीक उपयोग करे तो वह इतना अन्न आदि पैदा कर सकता है जो उसकी आवश्यकता से अधिक हो। सभ्य आदमी को अपने निर्वाह के लिए खाद्य पदार्थों की चिन्ता नहीं, वह तो अपने स्वाद या जायके के आनन्द के लिए तरह-तरह के षटरस पकवान आदि तैयार करता रहता है।

पहनावे की बात लें। आरम्भ में आदमी नंगा रहता था। उसे सर्दी-गर्मी का कष्ट न था। पीछे वह पेड़ों की पत्तियों आदि से शरीर ढकने लगा तो बदन को सजाने की भावना से ही। सर्दी-गर्मी उसे विशेष रूप से पीछे जाकर लगने लगी। उसके भी बाद उसमें लज्जा का भाव पैदा हुआ। पर पहले उसे कपड़ा प्राप्त न था। इसका आविष्कार उसकी 'सभ्य' अवस्था में हुआ और, इस समय तो आदमी की पोशाक खासकर शौकीनी, फैशन या सामाजिक प्रतिष्ठा आदि बढ़ाने के साधन के रूप में काम आ रही है।

निवास-स्थान का विचार करें। आरम्भ में मकान बना कर रहने की बात ही नहीं थी। आदमी खुली जगह में, जंगल में, या गुफा आदि में अपना समय व्यतीत करता था। उसका रहन-सहन प्राकृतिक था, पशुओं से मिलता था। उसने धीरे-धीरे प्रगति की। उसे धूप, सर्दी, गर्मी, वर्षा और ओलों आदि से अपनी रक्षा करने की सूझी। आरम्भ में उसने जो घास फूस की झोपड़ी बनायी उसे आज का सभ्य आदमी जानवरों के भी रहने योग्य नहीं समझता। आधुनिक अवस्था में आने तक आदमी निर्माण कला की अनेक मंजिलें तय कर चुका है। इस समय के कई-कई मंजिलों के ऊँचे, भव्य या

या वढ़ जाने आदि से कभी-कभी कुछ जातियां लुप्त हो गयीं या उनकी उन्नति की असें तक रुक गयी। लेकिन इससे मनुष्य-समाज की प्रगति की बात में अन्तर नहीं आता। अगर गहराई से और व्यापक दृष्टि से विचार किया जाए तो मालूम होगा कि कुछ राष्ट्रों या जातियों की मृत्यु से भी मानव समाज की उन्नति नहीं रुकती। भूतकाल में जो सभ्यताएँ लुप्त हो गयीं, उनके बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वे वेफायदा हुई या व्यर्थ गयीं। दैवी घटनाओं को छोड़ कर, कोई जाति नष्ट इसलिए होती है कि उसमें कुछ विकार होते हैं, या वह देश-काल के अनुसार प्रगति नहीं करती। उसको मैदान से हटा कर, उसकी जगह दूसरी जाति आती है, जिसमें प्रगति करने की योग्यता अधिक होती है, और बहुधा यह जाति उस जाति के गुणों को किसी न किसी रूप में अपना लेती है। इस तरह किसी जाति की योग्यता सर्वथा नष्ट नहीं होती; और समय-समय पर विविध जातियों के लोप होते रहने पर भी मानव समाज धीरे-धीरे, प्रकट या गुप्त रूप से, आगे वढ़ता रहता है।

आलीशान मकानों की जब आदमी पुराने समय की पर्णकुटी से तुलना करता है तो वह यह सोचने लगता है कि मैं कहाँ से कहाँ आ गया।

ऊपर भोजन वस्त्र और मकान की ही बात कही गयी है। यही बात दूसरे विषयों के सम्बन्ध में ठीक उतरती है। मिसाल के तौर पर यात्रा की बात लें। पहले आदमी पैदल चलता था। बाद में उसने घोड़े या ऊँट आदि पर सवार होकर या बैलगाड़ी,या घोड़ा गाड़ी आदि में चलना शुरू किया। पीछे साइकिल, ट्राम, मोटर आदि सवारियों का चलन हुआ रेलों ने दूर-दूर की यात्रा को आसान कर दिया है। समुद्र में अब आदमी नाव या किश्ती की यात्रा से संतोष नहीं करता, अब तो बड़े-बड़े जहाजों की बात है, जो भाप या बिजली से चलते हैं, और हजारों आदमियों को एक-साथ ले जाते हैं और कुछ घण्टों में कहीं-का-कहीं पहुँचाते हैं। जमीन और समुद्र पर प्रगति करते-करते आदमी आकाश में भी घूमने, और वायु को वश में करने लग गया है। हवाई जहाजों द्वारा आदमी और सामान ढोने में लगातार तरक्की हो रही है।

प्रकृति पर विजय—सभ्यता की वृद्धि के लिए आदमी ने प्रकृति पर—भौतिक पदार्थों, पशुओं, जमीन, समुद्र, हवा और आकाश आदि पर—बहुत-कुछ विजय प्राप्त करने की कोशिश की है; समय और दूरी को काबू में किया है; भाप, हवा बिजली आदि की शक्तियों का उपयोग किया है। यह काम अभी चल रहा है। आगे-आगे इसमें और अधिक सफलता मिलने की आशा है। पर क्या यही काफी है?

क्या आदमी सुखी जीवन बिता रहा है?—यह ठीक है कि पुराने जमाने के मुकाबले में अब आदमी की बहुत सी कठिनाई दूर हो गयी है। जिन कामों के लिए पहले बहुत मरना-खपना पड़ता था, और जो फिर भी अच्छी तरह नहीं हो पाते थे, वे अब आसानी से, बहुत थोड़ी मेहनत से, और बहुत जल्दी हो जाते हैं। आदमी को अब फुरसत बहुत मिल सकती है। लेकिन कितने आदमी हैं, जो इस फुरसत के समय का ठीक उपयोग करते हैं! बहुत से आदमी तो इस फुरसत के कारण आलसी और बेकार हो जाते हैं। वे नहीं जानते कि वे क्या काम करें, और किस तरह अपना समय बिताएँ। नित्य नये मनोरञ्जनों का आनन्द लेते हुए भी उनके सामने अपना

समय काटने की समस्या बनी रहती है। हाँ, ये फुरसत वाले आदमी, कुल मनुष्य जाति के विचार से बहुत थोड़े ही तो हैं। अधिकाँश जनता को अब भी अपनी जरूरतें पूरी करने के लिए दिन-रात पसीना बहाना पड़ता है। फिर भी उन्हें अपना गुजारा करने के लिए काफी भोजन-वस्त्र नहीं मिल पाता; दूसरी चीजों का तो जिक्र ही क्या किया जाए!

अकाल, गरीबी, और बेकारी—हमारी आर्थिक या सामाजिक व्यवस्था दूषित होने का प्रबल प्रमाण मौजूद है। अकाल या दुर्भिक्ष अब भी जनता को बहुत सता रहे हैं। बहुत सी उपयोगी चीजों का परिमाण बहुत बढ़ा हुआ है। परन्तु समाज में उनका बँटवारा इस तरह होता है कि कुछ थोड़े से आदमियों के पास तो उनकी जरूरत से कहीं अधिक सामान है, और बहुत से आदमियों के पास उनके गुजारे लायक भी नहीं है। संसार के हर देश में मुट्ठी भर आदमी धनवान या पूँजीपति हैं, कुछ थोड़े से ऐसे हैं, जिनका किसी तरह काम चलता है, और शेष आदमी गरीबी की चक्की में पिसे जा रहे हैं। जबकि अमरीका और इंगलैंड जैसे उन्नत देशों में भी बेकार और गरीब आदमियों की बहुत शिकायतें हैं, तो भारतवर्ष, और अफ्रीका आदि के गरीबों की दुर्दशा का क्या ठिकाना!

शारीरिक दशा असंतोषजनक—लोगों का स्वास्थ्य भी संतोषजनक नहीं है। जिन देशों में चिकित्सा-विज्ञान की बहुत उन्नति हो चुकी है, वहाँ भी कितने ही आदमी पूरे तौर से बहरे, अंधे, और पागल आदि मिलते हैं। अनेक आदमी कल-कारखानों या यात्रा सम्बन्धी दुर्घटनाओं से मरते रहते हैं। और उनकी तादाद तो और भी अधिक है, जो किसी बीमारी के कारण हफ्तों या महीनों तक अपना साधारण रोजमर्रा का काम करने में असमर्थ रहते हैं। डाक्टर वैद्य बढ़ते जा रहे हैं तो रोगों की संख्या और उनका प्रभाव और भी अधिक बढ़ता जा रहा है।

मानव शक्तियों का यथेष्ट विकास नहीं होता—जो आदमी अपने शरीर से समर्थ और तन्दुरुस्त होते हैं, उनमें से बहुत से अपने कार्यों से समाज का जितना चाहिए, उतना हित नहीं करते। बहुतों की शक्तियों का समुचित

विकास नहीं हुआ है, उन्हें आवश्यक शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करने की सुविधा या अवसर नहीं मिला है। संसार के बहुत से देशों में अशिक्षित, अनपढ़, अकुशल आदमी भरे पड़े हैं। इन आदमियों की उपयोगिता कम होनी स्वाभाविक ही है। ठीक-ठीक ऐसा हिसाब लगाना तो बहुत मुश्किल है कि अगर किसी देश में सब आदमी पूरी तरह से शिक्षित, कुशल और समझदार हों तो वहाँ कितना अधिक काम हो सकता है, और मौजूदा हालत में कितनी कमी रहती है; तो भी इसमें कोई शक नहीं कि इस समय न केवल अवनत या पिछड़े हुए कहे जाने वाले देशों में बल्कि उन्नत देशों में भी आदमी की शक्ति या योग्यता के विकास की बहुत गुंजायश है।

प्रगति एकांगी और अधूरी हुई—वर्तमान अवस्था में आदमी कुछ बातों में बहुत उन्नत है, और दूसरी बातों बहुत कम। एक खास बात यह है कि उसने प्रकृति पर जितनी विजय प्राप्त कर ली है, उसकी अपेक्षा उसने स्वयं अपने ऊपर विजय पाने की ओर ध्यान नहीं दिया, या यों कहा जाय कि बहुत कम ध्यान दिया। वह अब भी स्वार्थी है; उसमें काम, क्रोध, लोभ, मोह है; वह अहंकारी है, अपनी इन्द्रियों और वासनाओं का दास है। उसे निजी सुख की चाह है। उसे उन लोगों की फिक्र नहीं है, जिन्हें वह पराया या गैर समझता है। इसलिए जो प्रगति हुई है, उससे थोड़े से ही आदमी लाभ उठा सकते है, अधिकांश आदमी उसके लाभ से वंचित हैं। सारी मनुष्य जाति के विचार से कह सकते है कि ऐसा मालूम होता है, जैसे एक टोली के आदमी यात्रा करने निकले और उनमें से कुछ तो काफी आगे बढ़ गये, इनका समय एक प्रकार सुख से बीतता है, पर बाकी आदमी बहुत पीछे और बिखरे हुए हैं, ये बहुत संकट में हैं, आगे बढ़े हुओं से इनका कोई सम्पर्क नहीं रहा, उन्हें इनकी सुध नहीं हैं। इस तरह चाहे इस टोली की साधन-सम्पत्ति कुल मिलाकर पहले से कहीं अधिक है, लेकिन क्योंकि वह कुछ लोगों के हिस्से में बहुत अधिक है, और दूसरे प्रायः उससे वंचित हैं, इस लिए सारी टोली के विचार से यह प्रगति संतोषप्रद नहीं है, बल्कि अब विषमता बहुत अधिक है और बहुत खटकती है।

सर्वांगीण प्रगति की आवश्यकता—अकसर जो आदमी या जातियाँ भौतिक उन्नति में लगी होती हैं, वे सिर्फ अपने सुख की बात सोचती रहती है, दूसरों के दुख-दर्द दूर करने की ओर वे ध्यान नहीं देतीं। ऐसी दशा में क्या आश्चर्य, यदि ऐसी जाति या राष्ट्र थोड़े समय की चहल-पहल के बाद अपने आप को संकट में फँसा हुआ पाए। यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि जातियों या राष्ट्रों के जीवन में दो-चार पीढ़ियों का समय भी थोड़ा ही माना जाता है। इसलिए अगर कोई जाति भौतिक उन्नति के कारण सौ-दो सौ वर्ष भी खूब धूम-धाम या रौबदौब का जीवन बिताये तो इससे ऊपर कही हुई बात में फरक नहीं आता। आदमियों को इससे धोखे में नही आना चाहिए। मतलब यह कि किसी जाति को अकेली या अधिकांश भौतिक उन्नति में लगे रहने से स्थायी या लम्बे समय तक सुख नहीं मिल सकता। उसे उसके साथ नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति की ओर भी काफी बढ़ते रहना चाहिए। उसे दूसरों के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझना, और उनकी उन्नति में भरसक योग देना चाहिए।

आध्यात्मिक उन्नति को कुछ आदमी बहुत रहस्यमय समझते हैं, वे इसके अजीब अर्थ लगाया करते हैं। इसके नाम पर कितने ही नर नारी अपने समय का बहुत सा हिस्सा पूजा-पाठ और भक्ति में लगते हैं। असल में यह सारी सृष्टि ईश्वर या ब्रह्म का ही स्वरूप है। आदमी को चाहिए ईश्वर या ब्रह्म के इस विशाल स्वरूप से अपनेपन का अनुभव करे। जब वह यह अनुभव करने लगेगा तो अपने-पराये का भेद नहीं रहेगा; गोरे-काले, पूँजीपति और मजदूर, अमरीकी और जापानी, या अँगरेज और भारतीय आदि के भेद-भाव की दीवारें सब नष्ट हो जायँगी। ईसाई, मुसलमान, पार्सी और हिन्दू सब अपने-आपको एक परब्रह्म परमात्मा की संतान समझेंगे, सब का आपस में भाईचारे का व्यवहार होगा; सब यह मानेंगे कि जैसी आत्मा मुझ में है, वैसी ही दूसरे में है; दूसरे को दुख देना स्वयं अपने-आपको दुःख देना है, और दूसरे को प्यार करना खुद अपने आपको प्यार करना है। हम सुख चाहें

तो सब के लिए; यदि सिर्फ हमारे लिए ही सुख के सामान मौजूद हों, और हमारे भाई उनसे वंचित रखे जायँ तो हमें वह सुख भी स्वीकार न हो।

इसका एक सुन्दर दृष्टान्त हमें महाभारत में मिलता है। युधिष्ठिर महाराज को स्वर्ग में ले जाया जाने लगा तो उन्होंने वहाँ उस समय तक जाना स्वीकार न किया जब तक उनके साथ उनके कुत्ते को भी वहाँ जाने की इजाजत न मिली। अपने साथियों से ऐसी सहानुभूति होना जाति-भेद, रंग-भेद, सम्प्रदाय-भेद आदि की भावना को दिल से निकालकर सबकी उन्नति और सेवा करना ही हमारा ध्येय होना चाहिए।

विशेष वक्तव्य—मनुष्य जाति के वास्तविक सुख और अभ्युदय के लिए याद रखना जरूरी है कि विज्ञान तथा पारस्परिक सम्पर्क के साधनों की वृद्धि के कारण इस समय संसार की स्थिति ऐसी है कि उसके कुछ हिस्सों का ही ध्यान रखने से उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता। सुख और शान्ति अब अविभाज्य है। एक भी प्रदेश की अवनति या संकट से सबको क्षति पहुँच सकती है, और पहुँचती है। इसलिए जरूरी है कि मानव प्रगति विश्व-हित की दृष्टि से हो, वह, संसार के किसी विशेष भाग या कुछ भागों में सीमित न रहे। दूसरी विचारणीय बात यह है कि प्रगति का क्षेत्र व्यापक हो, वह केवल किसी खास प्रकार का अर्थात् केवल भौतिक या केवल आध्यात्मिक न हो। यह तभी हो सकता है जब हमारी समाज-व्यवस्था ठीक हो। अगले अध्यायों में इस बात का विचार किया जाएगा कि प्राचीन काल में समाज व्यवस्था सम्बन्धी हमारी धारणा क्या रही है, और अब कौन-कौनसी समाज-व्यवस्थाएँ मुख्य हैं तथा सर्वसाधारण जनता के हित की दृष्टि से वे कहाँ तक उपयोगी हैं।

———

बयालिसवाँ अध्याय

प्राचीन समाज-व्यवस्थाएँ

—:o:—

समाज में रहने वाले आदमियों में आपस में ईर्षा, द्वेष, लड़ाई-झगड़ा, संघर्ष और असन्तोष न हो, सब एक दूसरे के सुख-दुख में भाग लें, सहानुभूति और सहयोग की भावना रहे—इसके लिए कुछ नियम-कायदे बनाने और समाज-व्यवस्था तय करने की जरूरत होती है। जिस देश में सामाजिक जीवन का विकास पहले हुआ, वहाँ ही ऐसी व्यवस्था का विचार पहले हुआ। प्राचीन काल में जुदा-जुदा देशों में समाज-व्यवस्था सम्बन्धी क्या-क्या विचार-धाराएँ रहीं, उनका खुलासा परिचय यहाँ नहीं दिया जा सकता। हम नमूने के तौर पर भारत और यूनान का विषय लेंगे।

[१] भारत की वर्णाश्रम व्यवस्था

समाज का विभाजन और वर्ण व्यवस्था—समाज में आम तौर से चार तरह के कामों की जरूरत होती है। शुरू में कबीलों या खानदानों में जमीन, खाने पीने के सामान, या स्त्री के बहुत झगड़ा रहता था। धीरे-धीरे कुछ आदमी खास तौर से लड़ने के लिए ही योग्य होने लगे; ये सिपाही (क्षत्रिय) कहे जाने लगे। जब कबीले के कुछ आदमी लड़ने के ही काम में लगे रहते थे तो दूसरे आदमियों के लिए एक जरूरी काम यह हो गया कि उनके लिए, खुद अपने लिए और बाकी और सब के लिए खाने और कपड़े आदि का इन्तजाम करें, खेती करें, और पशुओं का पालन करें। ये लोग व्यापारी (वैश्य) आदि कहलाने लगे। कुछ ऐसे आदमी भी आवश्यक मालूम हुए, जो बालकों को शिक्षा दें, पुरानी कथा कहानी सुनाएँ, और तरह-तरह का ज्ञान कराएँ। इसके लिए यह जरूरी हुआ कि ये खुद भी

ज्ञानवान हों । इस तरह इनका काम पढ़ना-पढ़ाना हुआ। कबीले या जाति में कौनसे रिवाज प्रचलित हैं, किस देवी देवता को माना जाता है, और उस देवी देवता को किस तरह खुश रखा जा सकता है—इन बातों का ज्ञान इन्हीं लोगों को होता था। ये लोग पुजारी पुरोहित (ब्राह्मण) आदि कहलाये। इन सब के अलावा बहुत से आदमी ऐसे होते हैं, जो ऊपर बताये हुए काम नहीं कर सकते, वे बहुत होशियार नहीं होते, कुछ मेहनत मजदूरी का मामूली काम करने योग्य ही होते हैं। ये सेवक (शूद्र) कहलाये। इनमें बहुत से आदमी ऐसे भी हो सकते हैं, जो लड़ाई में हारे हों, या दास या गुलाम बनाये गये हों। इनको समाज में सबसे नीचे दर्जे का माना गया।

ऊपर जो चार तरह के काम करनेवाले समूह बताये गये हैं, ये थोड़े-बहुत भेद से सभी जगह होते हैं; और, मोटे तौर से अब भी देखने में आते हैं। इस व्यवस्था को मजबूत और स्थायी बनाने के लिए भारतीय नियम-निर्माताओं ने यह तय किया कि ब्राह्मण दूसरे वर्णों के आदमियों को ठीक रास्ते पर चलानेवाले हों, यहाँ तक कि शासक भी उनकी सलाह को मानें और कोई काम उनकी इच्छा के विरुद्ध न करें। ब्राह्मण विद्वान और निर्लोभी हों। इन्हें रुपये-पैसे या ऐश्वर्य आदि से कुछ मतलब नहीं। ये बहुत सादगी और गरीबी का जीवन बिताएँ, लेकिन इसके साथ समाज में, राज-दरबार में और सभी जगह इनका आदर-मान सबसे अधिक हो। क्षत्रिय वर्ण के आदमी समाज की रक्षा के लिए अपनी जान न्योछावर करने तक को तैयार रहें; शान शौकत से रहें, राज्य में ऊंचे अधिकार और पद पाएँ, लेकिन ब्राह्मणों के नियंत्रण में रहें, स्वेच्छाचारी न बन जाएँ। वैश्य वर्ण धन और सम्पत्ति का उपभोग करे, पर सर्वसाधारण के हित के लिए, बिना किसी प्रकार के अभिमान या अहंकार के। उसका पद भी समाज में प्रथम द्वितीय नहीं, तीसरे दर्जे का था। शूद्रों का काम सेवा करना था। उनके जीवन-निर्वाह की व्यवस्था दूसरे वर्ण करते थे।

गुण-कर्म और जन्म का विचार—वर्ण-व्यवस्था एक तरह का श्रम-विभाग था। इसका उद्देश्य लोगों को उनके गुण कर्म के अनुसार अलग-

अलग पेशों में लगा देना था। वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था का यह उद्देश्य जनता के सामने रहा, आदमियों के वर्ण का चुनाव करते समय गुण कर्म का काफी ध्यान रखा गया।

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, सामाजिक जीवन जटिल होता गया। लोगों की आवश्यकताएँ तथा काम-धन्धे बढ़े। फिर, आदमी के लिए आमतौर से अपना पैत्रिक कार्य करना ज्यादा आसान होता है। इस लिए लोगों में गुण कर्म के साथ जन्म (वंश) का भी ख्याल रखने की परिपाटी शुरू हो गयी। रामायण-काल में कुल, वंश और जाति का महत्व बढ़ना शुरू हो गया और पीछे बढ़ता ही गया।

जाति-भेद--धीरे-धीरे यह हालत हो गयी कि ब्राह्मण के पुत्र को ब्राह्मण माना जाने लगा, चाहे वह क्षत्री, वैश्य या शूद्र का ही काम क्यों न करे। इसी तरह धीरे-धीरे हर सुनार, लुहार, कुम्हार, धोबी, नाई, मेहतर, चमार आदि जितने पेशे हैं, सब की अलग-अलग जाति बन गयी। एक जाति के आदमियों का एक खास काम या पेशा निश्चित हो गया, और उन का विवाह-सम्बन्ध उसी जाति में होने लगा। साथ ही अलग-अलग जातियों में ऊँच-नीच का भाव होने लगा, कुछ जातियाँ बहुत ऊँची मानी जाने लगीं, कुछ बहुत नीची; यहाँ तक कि कितनी ही जातियों के आदमी अस्पृश्य या अछूत समझे जाने लगे और अब तक समझे जाते हैं। ऐसा जाति-भेद समाज के टुकड़े-टुकड़े करनेवाला, और आदमियों के विकास में बाधक है। अब इसमें सुधार हो रहा है।*

आश्रम व्यवस्था—ऊपर वर्णों की बात कही गयी है। भारतीय नियम-निर्माताओं ने आश्रम-पद्धति की भी व्यवस्था की। उन्होंने आदमी की

---

* दूसरे देशों में, खासकर यूरोप अमरीका में इस तरह जन्म के आधार पर जाति-भेद नहीं है; वहाँ प्रायः श्रेणी-भेद पाया जाता है। श्रेणी का आधार बहुधा आर्थिक होता है। धनवान आदमियों की गरीबों से बहुत-कुछ अलग श्रेणी रहती है। इनके आदमियों में आपस में विवाह सम्बन्ध आदि कम होता है।

साधारण उम्र सौ साल की मानकर उसके चार हिस्से किये थे—(१) पच्चीस वर्ष तक आदमी ब्रह्मचारी रहें * और विद्या या ज्ञान प्राप्त करे। छः-सात वर्ष का होने पर बालक गुरुकुल में भेज दिया जाए और वहाँ वह कम-से-कम २५ वर्ष की उम्र तक तरह-तरह की विद्या प्राप्त करके घर लौटे। (२) पच्चीस वर्ष का हो जाने पर आदमी विवाह करे और गृहस्थ आश्रम में दाखिल हो जाए। इस आश्रम में पच्चीस वर्ष रह कर आदमी विविध सांसारिक (सामाजिक) कार्य करे। (३) पचास वर्ष की उम्र होजाने पर आदमी गृहस्थी की मोह माया छोड़कर, स्त्री सहित बन में या विदेशों में रहे; धार्मिक या नैतिक ग्रन्थों को पढ़े और मनन करे। इस तरह पिछत्तर वर्ष की उम्र तक वानप्रस्थ आश्रम में रहे। (४) पिछत्तर वर्ष की उम्र से जीवन के अन्त तक आदमी संन्यास आश्रम में रहे, वह स्थान-स्थान पर दौरा करता रहे, गृहस्थियों को उपदेश दे, उनकी समस्याओं को हल करने के उपाय बतलाए और अपने ज्ञान और अनुभव से समाज को लाभ पहुँचाए। वह जाति, रंग या देश के बन्धनों को तोड़कर निष्काम भाव से लोगों की सेवा करे।

यह नहीं कहा जा सकता कि यह आश्रम-व्यवस्था यहाँ कुल जनता के कितने हिस्से में अमल में आयी। पर जितने भी आदमियों ने इस आदर्श को मानकर इसके अनुसार अपना जीवन बिताया होगा, उन्होंने अपना और समाज का अवश्य ही बहुत हित साधन किया होगा। हजारों वर्ष बीत जाने पर अब भी हिन्दू सिद्धान्त से इस पद्धति को मानते हैं, लेकिन व्यवहार में अब निन्यानवे फी-सदी लोगों के लिए दो ही आश्रम रह गये हैं—ब्रह्मचर्य और गृहस्थ। जिसका जब तक विवाह न हो तब तक वह ब्रह्मचारी मान लिया जाता है, पीछे ज्यादातर आदमियों के लिए मरते दम तक गृहस्थी की चिन्ताओं से छुटकारा नहीं होता।

विशेष वक्तव्य—आजकल के आर्थिक संघर्ष के युग में वानप्रस्थियों और संन्यासियों का स्वाभिमान से रहना और पूरे तौर से निष्काम सेवा

---

* स्त्रियों के लिए ब्रह्मचर्य आश्रम सोलह वर्ष रखा गया था।

करना कुछ आसान काम नहीं रहा । अच्छा हो अगर पचास या पचपन वर्ष की उम्र से आदमी स्वार्थ भाव छोड़कर सिर्फ अपने गुजारे भर को लेकर लोकसेवा के काम में लगे, और गाँवों में शिक्षा, स्वास्थ्य और घरू उद्योग-धंधों की उन्नति के कामों में समय बिताए । इस तरह उन्हें भी अपने जीवन से संतोष हो और साथ हो समाज का भी हित हो ।

[२] अफलातून के सामाजिक विचार

अफलातून के विचारों का महत्व – अब हम यूनान के सुप्रसिद्ध दार्शनिक अफलातून (प्लेटो) के विचारों का परिचय देते हैं । इसका जन्म ईस्वी पूर्व सन् ४२७ में हुआ था और यह महान दार्शनिक सुकरात का शिष्य था । इसकी विचार-धारा भारतीय वर्णव्यवस्था की योजना से कुछ मिलती है और उसका विशेष महत्व इसलिए है कि वह यूनान में बहुत आदर की चीज रही है, और यूनान यूरोप का आदि-गुरू रहा है । रोम ने यूनान से सभ्यता सीखी और वहाँ से उसका प्रचार यूरोप के विविध देशों में हुआ ।

अफलातून का मत; तीन प्रकार के आदमी—अफलातून का मत है कि आदमी के स्वभाव में खासतौर से तीन गुण होते हैं—बुद्धि, तेज और वासना । जिस आदमी में इन गुणों में से जिसकी प्रधानता हो, उसे उसका विकास करके समाज की सेवा और उन्नति में योग देना चाहिए । इस तरह समाज में तीन तरह के आदमी होंगे—(१) बुद्धि-प्रधान—संरक्षक या सलाहकार (गार्जियन्स और कौंसिलर्स), (२) तेज-प्रधान—योद्धा (वारिअर्स और डिफेन्डर्स) (३) वासना-प्रधान—उत्पादक और श्रमजीवी या किसान और कारीगर । इनमें से बुद्धि-प्रधान आदमियों को चाहिए कि समाज के संरक्षण की जिम्मेवारी लें, वे न तो किसी को बहुत धनवान होने दें, और न बहुत गरीब । मजिस्ट्रेट या शासक इस वर्ग में से बनाये जायँ, और वे आदर्श समाज का निर्माण करें । इसके लिए जरूरी है कि इनके शिक्षण की पूरी व्यवस्था हो । इन्हें बचपन

दूसरा अध्याय

मनुष्य और प्रगति



प्रगति : मनुष्य जाति की विशेषता—मनुष्य जाति की प्रगति सम्बन्धी अन्य बातों का विचार करने से पहले यह जान लेना जरूरी है कि (१) सृष्टि के सब प्राणियों में मनुष्य ही ऐसा है, जो लगातार प्रगति करता है, दूसरे जानवरों में सैकड़ों वर्ष में भी कोई परिवर्तन नहीं होता, और अगर कभी कुछ विशेष कारणों से होता भी है तो बहुत कम। (२) मनुष्य का प्रगति करना अनिवार्य है, यदि वह प्रगति न करता रहे, नयी-नयी बातों की खोज न करे, काम करने के नये-नये ढङ्ग न निकाले तो उसकी जीवन-यात्रा बहुत कठिन हो जाए। आदमी हर पीढ़ी में कुछ न कुछ आगे बढ़ता रहता है।

मनुष्य की प्रारम्भिक अवस्था—अनुसन्धान करने वालों का मत है कि एक समय ऐसा रहा है—यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि यह कब की या कितने लाख वर्ष पहले की बात है—जब आदमी पशुओं की तरह जीवन व्यतीत करता था। वह नग्न अवस्था में कन्दराओं या गुफाओं में या पेड़ों की छाया में रहता और कुदरती तौर पर पैदा होने वाले कन्द-मूल, फल या पत्ते आदि खाता था, या छोटे-छोटे कमजोर जानवरों का शिकार करता था। वह भी एक पशु था और उसे अपने भोजन के लिए दूसरे पशुओं से लड़ना-झगड़ना पड़ता था। पुराने जमाने के आदमियों के ढाँचों को देखने से मालूम होता है कि उस समय

से ही ऐसी शिक्षा दी जाए कि इनमें विलासिता या सांसारिक सुखों की ओर प्रवृत्ति न हो। इनके खानपान और रहनसहन आदि का प्रबन्ध राज्य की ओर से हो। ये स्त्री और बच्चों के माया मोह से भी मुक्त रहें। इसलिए किसी संरक्षक का विवाह न हो; राज्य कुछ समय के लिए उसका योग्य स्त्री से सम्बन्ध करे। बालकों की परिवरिश का इन्तजाम राज्य की ओर से हो। इस तरह किसी संरक्षक का कोई खास निजी रिश्तेदार न हो; उसका कोई माल मिलकियत आदि तो होगी ही नहीं।

दूसरा वर्ग तेज गुण प्रधान आदमियों का होगा। इनका यह कर्तव्य होगा कि समाज की बाहरी आपत्तियों से रक्षा करें, और हमेशा बुद्धि-प्रधान लोगों की अधीनता में रहें। उनके सलाह मशविरे बिना ये कोई काम न करें। तीसरे वर्ग में साधारण आदमी—किसान, कारीगर, और मजदूर आदि हों। इनका काम समाज के लिए आवश्यक भोजन वस्त्रादि की सामग्री बनाना और उचित परिमाण में वितरण करने में मदद देना होगा।

राज्य में एकता का भाव बढ़ाने और बनाये रखने के लिए अफलातून का मत था कि किसी के पास न तो कोई निजी मिलकियत हो, और न कोई किसी का रिश्तेदार आदि हो। अच्छी संतान पैदा कराने के लिए राज्य योग्य माता-पिता का चुनाव करे और बच्चों के पालन-पोषण और शिक्षण की पूरी जिम्मेदारी ले। शिक्षा पर मजिस्ट्रेटों का नियन्त्रण रहेगा, और शिक्षा पाने पर हरेक आदमी उचित धंधे का काम करने योग्य हो जायगा। जो आदमी सबसे अधिक योग्य होगा, वह दार्शनिक या शासक होगा। शासक दार्शनिकों में से होंगे। इस तरह अफलातून ने ऐसे व्यक्तियों की योजना की, जिन्हें भारतीय नीतिकारों ने राजर्षि कहा है।

सन्तान सम्बन्धी विचार—विवाह की मनाही या निषेध करने के मूल में अफलातून का यह विचार था कि अगर एक पुरुष का किसी खास स्त्री से विवाह होगा तो यह स्वाभाविक ही है कि वह पुरुष उस स्त्री से इतना प्रेम करेगा, जितना वह किसी दूसरी स्त्री से न करेगा; वह उसको दूसरों से अधिक सुखी रखने की कोशिश करेगा, उसके लिए वह अधिक साधन या सम्पत्ति

जुटाएगा। इसी तरह वह अपनी सन्तान की शिक्षा और स्वास्थ्य की ही नहीं, सुख और वैभव की व्यवस्था भी करना चाहेगा। इन कारणों से उसमें धन जोड़कर रखने की भावना पैदा होगी; और, जब हरेक आदमी धन संग्रह करने लगेगा तो प्रतियोगिता और संघर्ष होगा, ईर्षा-द्वेष बढ़ेगा, अमीरी गरीबी सवाल पैदा होगा। इसे रोका नहीं जा सकेगा। इसलिए अफलातून व्यक्तिगत विवाह की पद्धति को उठा देने के पक्ष में था। उसका कथन था कि सब पुरुष और सब स्त्रियाँ राष्ट्र की सम्पत्ति हैं। सन्तान पैदा करने के लिए एक पुरुष का कुछ परिमित समय के लिए किसी खास स्त्री से सम्बन्ध हो जाए। पीछे उस पुरुष का उस स्त्री से विशेष सम्बन्ध न रहे। जो सन्तान हो, वह राष्ट्र की सम्पत्ति हो, उसका पालन-पोषण राज्य करे, और उस पर राष्ट्र का ही अधिकार हो। पुरुष और स्त्री को पीछे यह पता न रहे कि हम अमुक बच्चें के पिता या माता हैं, बच्चे भी बड़े होकर यह न जानें कि हम किस की सन्तान हैं। इस तरह किसी व्यक्ति का स्नेह एक आदमी या कुछ इने-गिने आदमियों से न हो, सबसे हो; केन्द्रित न होकर राष्ट्रव्यापी हो।

विशेष वक्तव्य—यह पद्धति सरल है, लेकिन इतनी ज्यादा सरल है कि मनुष्य जीवन के लिए, जो कुछ जटिल ही है, यह उपयोगी या व्यावहारिक नहीं है। हाँ, इसका उद्देश्य—पारिवारिक मोह का नियंत्रण—अवश्य ही बहुत उत्तम है। अस्तु, यह समाज-व्यवस्था बहुत कुछ कल्पना की ही चीज रही। अपने समय में यह यूनान में आदर्श भले ही मानी गयी हो, इसके विशेष रूप से अमल में आने का पता नहीं लगता।

———

तैतालिसवाँ अध्याय

आधुनिक समाज-व्यवस्थाओं की विशेषता

हम मानव को मानव, हाड़-मांस का मानव ही देखना चाहते हैं, परन्तु प्रगति और विकास के द्वारा उसे सतत् महामानवता की ओर अग्रसर होता हुआ।

—'प्रताप'

अगले अध्यायों में इस समय प्रचलित विविध समाज-व्यवस्थाओं पर क्रमशः प्रकाश डाला जाएगा। यहाँ संक्षेप में यह विचार किया जाता है कि उनमें पुरानी समाज-व्यवस्थाओं की अपेक्षा क्या विशेषताएँ हैं।

व्यावहारिकता—प्राचीन काल की समाज व्यवस्थाओं पर नजर डालने से पहली बात यह सामने आती है कि वे अधिकतर सैद्धांतिक या विचार-जगत की रहीं, उन्होंने यथेष्ट व्यावहारिक रूप धारण नहीं किया। इसके विपरीत, समाज-व्यवस्था सम्बन्धी आधुनिक विचारधाराओं की पीठ पर उनका प्रयोगात्मक या व्यावहारिक रूप है। उदाहरण के लिए नाजीवाद के सिद्धांतों का ऐसा विस्तृत विवेचन नहीं किया गया, जितना कि हिटलर ने उसे, जर्मनी को नाजी राष्ट्र बना कर, स्थूल रूप से दिखा दिया। इसी प्रकार फैसिज्म का प्रचार किसी सिद्धान्त-ग्रन्थ के अनुसार न होकर इटली के फैसिस्ट रूप से हुआ, जो उसे मुसोलिनी ने दिया। साम्यवाद के परिचय और व्याख्या के लिए हमें रूस के उस रूप का विचार करना होता है जो लेनिन ने मार्क्सवाद के आधार पर स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार उसे दिया। सर्वोदय क्या है, इसकी जानकारी कराने के लिए महात्मा गांधी कोई विशाल ग्रंथ नहीं छोड़ गये, उन्होंने अपने लेखों और भाषणों में समय-समय पर कुछ फुटकर विचार ही प्रकाशित किये हैं। उनका मुख्य कार्य तो रचनात्मक ही

रहा, जो कुछ उन्होंने किया उससे सिद्धान्त बनते गये, या सिद्धान्त बनने का मार्ग प्रशस्त होता गया।

तर्क और विवेक—प्राचीन समाज-व्यवस्थाओं का आधार प्रायः धर्म, श्रद्धा या परम्परा रहती थी। समाज-व्यवस्था का चित्र उपस्थित करने वाला प्रत्येक लेखक पहले अपने कथन के समर्थन या पुष्टि में अपने से पहले के धर्मग्रंथों का सहारा लेता था। वर्तमान काल में यह बात नहीं है। अब धर्म और परम्परा का स्थान विज्ञान और तर्क ने लेलिया। किसी बात का केवल इसलिए प्रतिपादन नहीं किया जाता कि वह प्राचीन ग्रन्थों या धर्मशास्त्रों द्वारा अनुमोदित है। हर बात विवेक और तर्क की कसौटी पर कस कर दिखायी जाती है। फासिस्टवाद हो या समाजवाद अथवा साम्यवाद आदि कोई भी विचारधारा हो, उसे धार्मिक रहस्यवाद से मुक्त रख कर प्रकाश में लाया जाता है। यह ठीक है कि म० गांधी ने राजनीति तथा समाजनीति को धर्म से जुदा नहीं किया, वरन् उसे धर्ममय रखने का आग्रह किया, पर म० गांधी का धर्म कोई रूढ़िवाद या परम्परा की पूजा नहीं है। उनका तो जनता से बारबार यह अनुरोध रहा है कि मेरी बात इसलिए मत मानो कि तुम मुझमें श्रद्धा रखते हो, तुम उसे तभी स्वीकार करो जब वह तुम्हारे विवेक-बुद्धि को सही मालूम हो।

शरीर श्रम की प्रतिष्ठा—प्राचीन समाज-व्यवस्था सम्बन्धी विचार-धाराओं में शरीर-श्रम का सम्मान नहीं किया जाता था; शरीर-श्रम करने वालों को समाज में नीचे दर्जे का माना जाता था। भारत की वर्ण-व्यवस्था में जो वर्ण शरीर-श्रम सबसे कम करता था, वह सबसे ऊँचा था, और जो सबसे अधिक करता था उसका स्थान सबसे नीचा था। इस समय भी सब विचार-धाराओं में शरीर-श्रम को सम्मान नहीं है। पूँजीवाद तो श्रमजीवियों के शोषण पर ही फला-फूला है। तथापि अब शरीर-श्रम पहले की तरह घृणित नहीं माना जाता। समाजवाद और साम्यवाद में उसे यथेष्ट महत्व प्राप्त है। सर्वोदय में तो यह सिद्धान्त रखा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को

जीवन-निर्वाह के लिए खास तौर से शरीर-श्रम करना चाहिए, बुद्धि का उपयोग यथा-सम्भव लोक सेवा या जन-हित के लिए किया जाए।

सार्वभौमिकता—प्राचीन विचारधाराओं का प्रचार प्रायः एकदेशीय होता था। उस समय यातायात और लोक-सम्पर्क के साधनों की कमी होने से ऐसा होना स्वाभाविक ही था। अस्तु, उस जमाने में प्रत्येक विचार धारा अधिकतर अपने उद्गम-स्थान के आस-पास के क्षेत्र में सीमित रहती थी, और वह प्रायः उसी की दृष्टि से चलायी जाती थी। अब जो विचारधाराएँ चल रही हैं, उनका क्षेत्र स्थानीय न होकर व्यापक और सार्वभौमिक रहता है। उनका प्रचार किसी देश विशेष में सीमित न रहकर, वे यथा-सम्भव अन्तर्राष्ट्रीय होती हैं। प्रत्येक विचारधारा की चर्चा, खंडन-मंडन या समर्थन करने वाले थोड़े बहुत सभी देशों में मिलते हैं। फैसिज्म का प्रचार इटली में ही परिमित न रहा, वह इटली के विरुद्ध लड़ने वाले इङ्गलैंड तक में फैला; यहाँ तक कि वहाँ एक फासिस्ट दल का भी निर्माण हो गया। समाजवाद के किसी न किसी रूप के मानने वाले प्रत्येक राज्य में मिलते है। साम्यवादियों का तो उद्देश्य ही संसार भर साम्यवाद का प्रचार करना है। 'सर्वोदय' में का नाम ही यह स्पष्ट करता है कि इसमें रङ्ग, जाति, देश का बन्धन नहीं है, यह विश्व-हितकारी है।

विचारकों की अपेक्षा विचारधाराओं का महत्व—प्राचीन समाज-व्यवस्थाओं में विविध सिद्धान्तों के साथ खास-खास विचारकों का नाम रहता था। जैसे कौटलीय अर्थशास्त्र, वार्हस्पत्य अर्थशास्त्र, मनुस्मृति, याज्ञवल्क स्मृति आदि। अफलातून,, अरस्तु, रूसो, मेक्यावेली, आदि के विचार इन आचार्यों के नाम से ही प्रसिद्ध हुए। अब बात प्रायः और ही है। फेसिज्म और नाजीवाद के साथ तो अवश्य ही मुसेलिनी और हिटलर का नाम जुड़ा हुआ है, पर पूंजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद आदि में विचारधारा का महत्व है, विचारक का नहीं। म० गांधी ने तो बारबार चेतावनी दी कि किसी विचारधारा को मेरे नाम के साथ न जोड़ा जाए; 'गांधीवाद' जैसी कोई चीज न बनायी जाए।

जनता का हित—समाज-व्यवस्था सम्बन्धी प्राचीन विचारधाराओं में शासकों को प्रमुख स्थान दिया जाता था। उन्हीं को लक्ष्य में रख कर विचारधारा को क्रमबद्ध किया जाता था। उनके अधिकारों का खुलासा विवेचन किया जाता था। 'राजा कालस्य कारणम्' माना जाता था। आचार्य कौटल्य ने अपने सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्र में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि उसका ग्रन्थ सम्राट् चन्द्रगुप्त के लिए है। मेक्याविली ने अपने ग्रन्थ का नाम ही 'प्रिंस' रखा है, जिसका अर्थ है राजा, राजकुमार या शासक। प्राचीन तथा मध्यकाल में जनता के हित की विशेष चर्चा करना, शासितों के अधिकारों का विवेचन करना अनावश्यक माना जाता था; विशेषतया शासकों का ही ध्यान रहता था।

अब यह बात गये-गुजरे जमाने की हो गयी। राजनीति हो, या अर्थनीति अथवा समाजनीति—समाजव्यवस्था सम्बन्धी किसी अच्छे ग्रन्थ के लेखक या विचारधारा के प्रतिपादक के लिए अब लोकहित को, जनता के कल्याण को, प्रमुखता देनी होती है। उसका मुख्य विषय शासक न होकर समाज होता है; यहाँ तक साम्राज्यवाद, फैसिज्म और नाजीवाद जैसी अधिनायकवादी या तानाशाही का समर्थन भी समाज-हित के नाम पर किया जाता है।

विशेष वक्तव्य—ऊपर हमने संक्षेप में यह बताया कि पुरानी और आधुनिक समाज-व्यवस्थाओं में क्या भेद है। अगले अध्यायों में हम समाज-व्यवस्था सम्बन्धी आधुनिक विचारधाराओं का परिचय देते हुए यह विचार करेंगे कि उनके अनुसार लोकहित कहां तक होता है, उनमें क्या क्या त्रुटियाँ या कमियाँ हैं और कौनसी समाज-व्यवस्था अपने उद्देश्य को सबसे अधिक पूरा करने वाली है।

चवालिसवाँ अध्याय

पूंजीवाद

जैसे-जैसे मशीनों की शक्ति और महत्व बढ़ा वैसे-वैसे आदमी का मूल्य और महत्व कम होता गया। पहले हर आदमी एक स्वतन्त्र व्यक्ति था; आज के युग में वह समूह-धर्मी हो गया, उसका व्यक्तित्व चला गया।

—विलफ्रेड वेलाक

अधिनायकत्ववादी (फासिस्ट) विचारधारा वर्तमान काल की मुख्य प्रवृत्तियों के प्रतिक्रिया-रूप में प्रकट हुई है। इसलिए यह उन लोगों को बहुत आकर्षक प्रतीत होती है, जो आजकल के निरंतर होने वाले परिवर्तनों से घबरा गये हैं और जिनके स्वार्थों को धक्का पहुँचता है या पहुँचने की सम्भावना है।

—डा० महादेवप्रसाद शर्मा

पूंजीवाद का अर्थ—संक्षेप में 'पूंजीवाद का अर्थ है—अपने मुनाफे के लिए माल तैयार करने की वह उन्नत व्यवस्था जिसमें माल तैयार करने के साधनों पर अधिकार किसी एक या इने-गिने विशेष व्यक्तियों का हो, राज्य का या आम लोगों का नहीं।' पूँजीपति की अपनी जमीन होती है या वह जमीन खरीद लेता है, मशीनों, कल-कारखानों अर्थात् पूँजी पर उसका अधिकार होता ही है, जितने मज़दूरों आदि की ज़रूरत हो, उनको नौकर रखकर वह श्रम पर भी अधिकार पा जाता है। इस तरह उत्पत्ति के तीनों साधनों—भूमि, पूँजी और श्रम—पर उसका स्वामित्व होता है।

पूंजीवाद से पहले की स्थिति—अठारहवीं सदी से पहले भी राजा और जमीदार कभी-कभी मजदूरों से कुछ काम अपने निजी लाभ के लिए

ऐसा कराया करते थे, जिसकी वे उन्हें मजदूरी बहुत कम देते थे, या बिलकुल नहीं देते थे। उस दशा में यह बात उनकी सत्ता के बल पर होती थी, पूँजी के बल पर नहीं। उस जमाने में समाज में एक वर्ग ऐसा हो गया था, जो उत्पत्ति या पैदावार न करके सिर्फ विनिमय का कार्य करता था; यह वर्ग व्यापारी वर्ग कहा जाता था। व्यापारी एक उत्पादक से कोई चीज़ मोल लेता और दूसरे उत्पादक आदि के हाथ बेचता, मिसाल के तौर पर किसान से रुई लेकर उसे कातने वाले को देता, उससे सूत लेकर जुलाहे के हाथ बेचता, और जुलाहे से कपड़ा खरीदकर दर्जी के हाथ बेच देता। दो उत्पादकों के बीच में रहकर व्यापारी दोनों से नफा कमाता। इसके अलावा महाजन सूद पर रुपया उधार देता था। वह भी वास्तव में पैदावार का काम न करके धन कमाता था। लेकिन इन लोगों को पूँजीवादी नहीं कहा जाता था, और कहना ठीक भी न था; कारण, इन्होंने उत्पत्ति के साधनों को अपने अधिकार में नहीं कर रखा था। उस समय जुलाहा अपने करघे आदि का, बढ़ई अपनी कुल्हाड़ी, बसोले, आरे आदि का, और लुहार अपनी भट्टी, हथोड़े, आदि का मालिक होता था। और, ये चीजें इतनी कम कीमत की होती थीं कि साधारण कारीगर भी इनकी व्यवस्था कर सकता था।

उत्पादन की नयी विधि: कल कारखाने—धीरे-धीरे अठारहवीं सदी में उत्पत्ति की नयी विधि निकली। भाप और पीछे बिजली और गैस आदि के आविष्कार ने उद्योग धंधों के बढ़ने में मदद दी। कल कारखानों को चलाने के लिए बहुत से आदमियों की ज़रूरत थी। जागीरदारों और महाजनों की ज्यादतियों के कारण बहुत से आदमी खेती का काम छोड़ने और मज़दूरी करने को मज़बूर हो गये थे। ये जहाँ-तहाँ अपनी मेहनत को बेचने की फिक्र में रहने लगे। कारखाने वालों ने इनकी ऐसी हालत से फायदा उठाया। उन्होंने इनकी ज़मीन खरीद ली। अब इन्हें मज़दूरी करने के सिवाय कोई चारा ही न रहा। इनके अलावा अब कितने ही कारीगर भी कारखानों में आकर नौकरी करने के लिए मज़बूर हो गये, क्योंकि उनका, हाथ से तैयार किया माल मशीनों से बने माल से मंहगा पड़ने के कारण उसकी

मांग न रही थी, या बहुत कम हो गयी थी। इस तरह कारखानों को काफी, और काफी से ज्यादह मज़दूर मिलने लगे, और उनके द्वारा खूब माल बनाया जाने लगा।

पहले माल पैदा करने का उद्देश्य, सामन्तों या सरकार के कर चुकाने के अलावा, यह हुआ करता था कि लोगों की ज़रूरतें पूरी हों, या एक उत्पादक अपनी चीज दूसरे को देकर उसके बदले में अपनी ज़रूरत की चीज उससे ले ले। अब माल इस लिए पैदा किया जाने लगा कि वह बाजारों में बेचा जाए, और उससे खूब नफा कमाया जाए। इस हालत में पैदावार अधिक-से-अधिक परिमाण में, बड़ी मात्रा में, की जाने लगी। कारण, आम तौर से एक हद तक माल जितना अधिक तैयार किया जाता है, उतना ही औसत खर्च कम होता है, चीज सस्ती पड़ती है, नफे की गुंजायश अधिक रहती है।

पूँजीवाद का आरम्भ; औद्योगिक क्रान्ति—पूँजीवादी पद्धति को जन्म देने वाली प्रमुख घटना है, यूरोप की औद्योगिक क्रान्ति, जो सबसे पहले इंग्लैण्ड में शुरू हुई। इसमें विज्ञान से बड़ी सहायता मिली; यंत्रों और मशीनों का आविष्कार हो जाने से कल कारखानों में माल जल्दी और बड़े पैमाने पर बनने लगा। इसमें लागत-खर्च का औसत कम रहता था। इससे चीजें कम दामों में बिकने लगी। उपभोक्ताओं को चीजें सुलभ हो गयीं, पहले उन्हें संख्या या परिमाण में जो आवश्यक चीजें कम मिलती थी; अब अधिक मिलने से उनका कष्ट कम हुआ। यह ठीक है कि लोगों के घरू धंधों का ह्रास होने से उनमें बेकारी आयी परन्तु आरम्भ में उसका निवारण होता गया। बात यह थी कि कल-कारखानों में नित्य नया माल बनाने का और उत्पत्ति बढ़ाने का काम था। जो लोग घरू धंधो से बेकार हुए, उन्हें कल-कारखानों में काम मिलने में विशेष कठिनाई न हुई।

औद्योगिक क्रान्ति से पूंजी वालों को तो लाभ होना ही था; उन्हें अपनी पूंजी का अधिक लाभदायक उपभोग करने का अवसर मिला। कारखानों में बने माल की बिक्री से जो बड़ी आय होती थी, उसका एक छोटा सा हिस्सा

कारखानों के मजदूरों को मिलता था, शेष सब धन मालिकों के पास रहता था। इस प्रकार कल-कारखानों के मालिकों का धन तेजी से बढ़ने लगा। उनके पास लाखों-करोड़ों की सम्पत्ति हो गयी। पूंजीवादी पद्धति से, इसके बचपन में, जनता को भी लाभ हुआ। लोगों को अपने निर्वाह तथा सामाजिक जीवन के लिए तरह-तरह की बहुत सी चीजें काफी और सस्ती मिलने लगीं। उन्हें बड़ी सुविधा हो गयी। उनकी परेशानी या चिन्ता कम हुई। पर ये बातें पूंजीवाद के आरम्भ-काल की ही है; पीछे पूंजीवाद के लाभ भ्रामक सिद्ध हुए, यह आगे बताया जाएगा।

पूंजीवाद का मुख्य लक्षण; उत्पत्ति और वितरण का केन्द्रीकरण—पूंजीवादी पद्धति में जो मुख्य बात पहले सामने आती है, वह है, उत्पत्ति का केन्द्रीकरण। उदाहरण के लिए कपड़े की बात लें। यह मिल में बनता है। इसके वास्ते दूर-दूर के गाँवों से हजारों मन रूई इकट्ठी की जाएगी। वहाँ विविध स्थानों से आये हुए हजारों मजदूर काम करेंगे, और लाखों गज कपड़ा तैयार होगा। मिल या कारखाने का मालिक एक व्यक्ति या कुछ इने-गिने व्यक्तियों की कोई कम्पनी होती है। उसे ही तमाम तैयार माल पर अधिकार होगा; उत्पादक वर्ग अर्थात् श्रमजीवियों को केवल निर्धारित मजदूरी ही मिलेगी।

इस प्रकार एक ही स्थान में एक व्यक्ति या कुछ इने गिने व्यक्तियों की अधीनता में उत्पत्ति का केन्द्रीकरण हो जाता है। इससे जो माल तैयार होता है, वह पहले कुछ खास-खास स्थानों में (और पीछे देश के विविध भागों में) जाता है। इस तरह उत्पत्ति के साथ वितरण केन्द्रित हो जाता है। ये केन्द्रीय स्थान बड़े-बड़े नगर, शहर या कस्बे होते हैं। देश का आर्थिक जीवन खास-खास स्थानों में केवल थोड़े से व्यक्तियों में सीमित्त हो जाता है। यह ऐसा ही अस्वाभाविक है, जैसे शरीर का खून सब अंगों में बटा हुआ न रह कर दो-चार या पाँच-सात जगहों में इकट्ठा हो जाए।

पूंजीवाद के लाभ; भ्रमात्मक और अस्थायी—पूंजीवाद से पूंजीपतियों को लाभ होने की बात पहले कही जा चुकी है। इनकी संख्या हजार पीछे और कुछ दशाओं में तो लाख पीछे एक-दो होती है। इन लोगों के लाभ में

आदमी और वनमानुष की शारीरिक बनावट में खास फरक नहीं था। ऐसा अनुमान किया जाता है कि उस समय आदमी के बड़े-बड़े नाखून थे, और शरीर पर बड़े-बड़े बाल थे। वह जंगलों में पेड़ों पर रहता था। कमजोर होने के कारण वह जङ्गली जानवरों से बहुत डरता था। रीछ, शेर, चीता आदि बड़े-बड़े शिकारी जानवर तो उसे अपना शिकार ही बना लेते थे। जङ्गली गाय, भैंस, घोड़ा आदि भी उसे अनेक बार मार डालते थे। इनके डर के मारे आदमी गुफाओं में घुस जाता था, या पेड़ों पर चढ़ जाता था; अपनी रक्षा करने का उसके पास और कोई उपाय न था। इन जानवरों का मुकाबला करने के लिए उसका पहला काम मिट्टी या पत्थर का डला या लकड़ी की छड़ी उठाना था। यही उसका पहला हथियार था।

पशुओं की अपेक्षा, मनुष्य की विशेषता—आदमी कोई चीज अपने हाथ में इसलिए उठा सकता है कि उसके हाथ की बनावट इस तरह की है कि अँगूठा अँगुलियों के सामने आ सकता है। हाथ की ऐसी बनावट आदमी की एक विशेषता है। [शरीर की बनावट की दृष्टि से आदमी में और भी कुछ विशेषताएँ हैं, मिसाल के तौर पर उसकी पीठ की हड्डी ऐसी है कि बड़ा होने पर वह पाँवों के सहारे बिलकुल सीधा खड़ा होकर चलता है और उसकी निगाह सामने रहती है। पशु प्रायः ऐसा नहीं कर सकते]। यह ठीक है कि बन्दर या वनमानुष भी हाथवाले पशु हैं और वे भी कोई चीज पकड़ने, उठाने या फेंकने का काम कर सकते हैं। परन्तु आदमी और बन्दर में एक फरक है, आदमी में विवेक और बुद्धि भी है। वह लकड़ी के डण्डे पत्थर की मदद से ऐसा कर लेता है कि उसे पकड़ने में सुभीता हो, और उसकी नोक तेज हो जाए या उसका दूसरा सिरा खूब मोटा रहे। इस तरह आदमी अपनी बुद्धि से डंडे को बर्छा आदि का रूप दे सकता है, और उसे अच्छा, अधिक उपयोगी हथियार बना सकता है। बन्दर अपनी कुदरती हालत में (यानी जब तक उसे खास तौर से सिखाया न जाए) यह काम नहीं कर सकता।

आदमी के हाथ का इस्तेमाल शुरू में खास तौर से पेड़ों पर चढ़ने में ही होता था। पेड़ पर चढ़ कर वह जङ्गली जानवरों से सहज ही अपनी रक्षा कर

से कुछ अंश इनके सहायकों आदि को मिल जाता है या मिलने की सम्भावना होती है, जिनमें कुछ उच्च कोटि के वैज्ञानिक, इंजीनियर या अन्य बुद्धिजीवी होते हैं। ये लोग अपने वर्ग के लाभ की आशा से इस पद्धति की प्रशंसा किया करते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ आदमी वैसे भी इसके गुणों की ओर ही अधिक ध्यान देने वाले होते हैं। इस प्रकार पूंजीवाद को कितने ही समर्थक मिल जाते हैं। इनके मतानुसार पूंजीवाद से क्या लाभ हैं, और उसका दूसरा पहलू क्या है, यह संक्षेप में आगे बताया जाता है—

१—कहा जाता है कि इस पद्धति से मुनाफे के रूप में आदमी को स्वार्थ-सिद्धि का यथेष्ट अवसर मिलता है, और क्योंकि आदमी स्वभाव से स्वार्थी होता है, उसे इस पद्धति में उत्पादन-कार्य लगन और परिश्रम से क ने की प्रेरणा मिलती है, जो अन्य प्रकार से नहीं मिलती।

यह ठीक है कि आदमी में पशुपन होने से वह स्वार्थी है। पर इसका क्रमशः ह्रास हो रहा है। आदमी में सेवा, प्रेम और सामाजिकता या सहयोग की भी भावना है, जो उसके विकास के साथ बढ़ती जाती है और जिसे बढ़ाने में ही मनुष्य जाति का कल्याण है। स्वार्थ-सिद्धि की भावना तो आदमी को अत्यन्त लोभी बनाती है। यह समाज के लिए अनिष्टकारी है। इसे प्रोत्साहन नहीं दिया जाना चाहिए।

२—इस अर्थ-व्यवस्था में उत्पादक एक दूसरे से प्रतिस्पर्द्धा करते हुए अपना माल अधिक से अधिक बढ़िया सुन्दर और सस्ता बनाते हैं, इसके लिए वे अच्छे से अच्छे यंत्र का उपयोग करते हैं, और खूब सावधान रहते और किफायत से काम लेते हैं।

प्रतिस्पर्द्धा की भावना का प्रायः दुरुपयोग होता है; सहयोग की बात भुला दी जाती है, जो मानवता तथा सामाजिकता के विकास के लिए आवश्यक है। फिर प्रायः पूंजीपति अपने तत्कालीन-लाभ को ध्यान में रख कर, अपने विपक्षियों से बाजी मार ले जाने के लिए प्राकृतिक साधनों या खनिज पदार्थों आदि के उपयोग में दूरदर्शिता से काम नहीं लेते; वे अगली पीढ़ियों के हित की अवहेलना करते हैं।

३—इस पद्धति से आराम, शौक और सुविधा देनेवाली वस्तुओं की उत्पत्ति होती है, और लोगों का रहनसहन का दर्जा ऊँचा होता है।

कृत्रिम आवश्यकताओं की वृद्धि आदमी के लिए सुखदायी नहीं, वे निरंतर बढ़ती रहती हैं, और मनुष्य के असंतोष ईर्षा और चिन्ता को बढ़ाकर उसके जीवन को दुखमय बना देती हैं।

४—इस पद्धति से देश के विविध भागों का, तथा जुदा-जुदा देशों का एक दूसरे से सम्बन्ध बढ़ता है। जाति, रंग, धर्म या राष्ट्र आदि के भेद-भाव दूर होते है और अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में सहायता मिलती है।

मानव-समाज में लोक-सम्पर्क बढ़ रहा है. और विश्व-संघ की ओर प्रगति हो रही है। इसका श्रेय विज्ञान और यातायात के साधनों की उन्नति की है। पूंजीवाद में एक देश के पूंजीपतियों ने आपस में. अथवा जुदा-जुदा देशों के पूंजीपतियों ने एक दूसरे से जो सम्बन्ध स्थापित किया है, उसके मूल में उनका अपना मुनाफा और जनता का शोषण है, जिसका परिणाम पूंजीप्रति वर्ग में मानवता का ह्रास और सर्वसाधारण का अर्थ-संकट है।

५—इस पद्धति में वस्तुओं का अधिक से उपयोग किया जाता है। मिसाल के तौर पर गन्ने में से रस, तिल में से तेल, और दूध में से मक्खन जितना पहले निकलता था, अब मशीनों से उसकी अपेक्षा बहुत अधिक निकाला जाता है। इसके अलावा यह भी प्रयत्न किया जाता है कि अवशिष्ट या बचे हुए पदार्थों से यथेष्ट लाभ उठाया जाए, जैसे गन्ने की खोई, तिल की खली और दूध के मट्ठे की दूसरी उपयोगी चीजें बनायी जाएँ।

इस समय यांत्रिक क्रियाएँ होने पर गन्ने, तिल या दूध से जो खोई, खली या मट्ठा बचता है, वह पहले की अपेक्षा अधिक उपयोगी है या कम, यह विषय विवाद-ग्रस्त है। तथापि किसी वस्तु का अधिक से अधिक उपयोग करना ठीक है। परन्तु जब कि पूँजीवादी मनोवृत्ति दूसरे पदार्थों का उपयोग करने और उनकी उपयोगिता बढ़ाने की ओर इतना ध्यान देती है, वह मानवता की अवहेलना करती है, जिसका आधार स्वार्थ-त्याग और लोकसेवा है।

६—पूँजीवादी पद्धति में श्रम-विभाग द्वारा प्रत्येक आदमी को उसकी

योग्यतानुसार कार्य दिया जाता है। ऐसा नहीं होता कि बहुत कुशल श्रमजीवी को साधारण काम करना पड़े और उसके ज्ञान, अनुभव और कार्य-कुशलता से लाभ न उठाया जाए।

इस पद्धति में आदमी की रचनात्मक शक्ति का विशेष उपयोग नहीं होता। वह यन्त्र के साथ यन्त्र की तरह कुछ क्रियाएँ करता रहता है। उसे बहुधा यह पता नहीं होता कि उसके श्रम से कौनसी चीज बनेगी और वह क्या काम आएगी। इससे उसकी स्वाभिमान की भावना कुंठित हो जाती है, और सांस्कृतिक विकास रुका रहता है।

स्पष्ट है कि पूँजीवाद के लाभ भ्रमात्मक और अस्थायी हैं। इस पद्धति में मानवी गुणों का विकास न होकर भयंकर ह्रास होता है। पदार्थों की उपयोगिता बढ़ाने का दावा किया जाता है, परन्तु स्वयं मनुष्य की उपेक्षा की जाती है।

पूँजीवाद की वृद्धि विनाशकारी, उपभोक्ताओं की दृष्टि से—ज्यों-ज्यों पूँजीवाद अपना बचपन पूरा करके अधिक आयु का होता गया, उसके विघातक दुर्गुण सामने आते गये। पूँजीवादियों का मूल मन्त्र यह होता है कि अधिक से अधिक मुनाफा हासिल करें। यह तभी हो सकता है जब कल कारखानों में माल ज्यादा से ज्यादा बने, उसे बेचने की व्यवस्था की जाए; आवश्यकतानुसार नये-नये बाजार उसे बेचने के लिए तथा कच्चा माल खरीदने के लिए तलाश किये जाएँ। शुरू में जो माल तैयार किया गया वह जनता की मूल आवश्यकताएँ पूरी करने वाला था, उसकी खपत होने में कोई बाधा न हुई। पीछे ज्यों-ज्यों कल कारखाने बढ़ते गये, तैयार माल का परिमाण अधिक होता गया। पूँजीपतियों ने जब यह देखा कि उनके कपड़े, लोहे आदि के सामान तथा दूसरी जरूरी चीज़ों की, और अधिक परिमाण में, खपत होने में कठिनाई है, या उससे काफी मुनाफा नहीं होता तो वे तरह-तरह के शौकीनी या विलासिता के पदार्थ तैयार करने लगे, जिससे ग्राहक उनकी ओर ज्यादा-ज्यादा आकर्षित हों। इस प्रकार लोगों को अपनी जरूरतें बढ़ाने के लिए प्रेरित किया गया। अनेक गरीब आदमी अपनी मूल आव-

श्यकताओं के पदार्थों की उपेक्षा करके उनकी खरीद घटा कर दिखावटी या कृत्रिम जरूरतों की चीजों को लेने लगे। यह कहा जाने लगा कि लोगों के रहनसहन का दर्जा ऊँचा हो रहा है पर वास्तव में जब आदमी अपनी विलासिता या शौकीनी बढ़ाता है तो उसमें सुख नहीं पाता, बल्कि इसके कारण जब उसकी मूल आवश्यकताओं के पूर्ति में बाधा हो जाती है, अर्थात् वह उसमें कमी करता है तो उसकी बहुत हानि होती है, उसका स्वास्थ्य खराब होता है, धनाभाव की चिन्ता से उसकी मानसिक अशान्ति बढ़ती है, वह अधिक स्वार्थी बन जाता है, उसका आत्मिक ह्रास होने लगता है। इस तरह पूँजीवाद ने लोगों को हर प्रकार से बर्बाद किया।

समुद्र में भी मीन प्यासी—पूँजीवाद ने अन्न-वस्त्र के विशाल भंडार होते हुए भूखे नंगों का दृश्य उपस्थित कर दिया। संसार में इतनी वैज्ञानिक प्रगति हो गयी है कि यदि मशीनों का ठीक उपयोग किया जाए और उत्पन्न पदार्थों का वितरण उचित रीति से हो तो वर्ष में कुछ सप्ताह काम होने से मनुष्य अपना जीवन बहुत मजे से बिता सकता है और अपनी संतान को भी संघर्ष और कठिनाइयों से बचा सकता है। परन्तु पूँजीवाद के कारण फी सैकड़ा कुछ इने-गिने व्यक्तियों को छोड़कर, शेष सब आराम और सुविधा तो क्या, अपनी साधारण खाने-पीने और पहिनने की जरूरतों को भी पूरा नहीं कर पाते। कुछ बड़े-बड़े व्यवसायी आपस में मिल कर एक गुट्ट बना लेते हैं, फिर जान बूझ कर चीजें कम पैदा करके उनका दाम और अपने नफे की दर ऊँची बनाये रखने में कामयाब हो जाते हैं। कभी-कभी तो वे बहुत सा माल नष्ट कर देते हैं, जिससे उसकी कीमत न गिरने पाए और उनके मुनाफे में कमी न हो। कनाडा ने एक बार लाखों मन गेहूँ जला दिया और जमीन में उगी फसल टिड्डियों को खिलादी। ब्राजील में कहवा नष्ट किया गया और इङ्गलैण्ड में संतरे नदी में बहा दिये गये। ये सब कठोर सत्य हैं। पहले ऐसा होता था कि खाद्य पदार्थ कम होने से आदमी भूखे रहते थे, अब पूँजीवाद के कारण खाद्य पदार्थ खूब काफी परिमाण में होते हुए भी साधारण जनता उनका उपयोग नहीं कर पाती।

उत्पादकों की दृष्टि से विचार; मजदूरों की अवहेलना—यह तो उपभोक्ताओं की बात हुई। अब उत्पादकों अर्थात् मजदूरों का विचार करें। पूंजीपति अच्छी तरह जानता है कि कल-कारखानों में जो माल तैयार होता है, उसके लिए मज़दूरों को सख्त मेहनत करनी पड़ती है, पर वह मज़दूरी की मद में कम-से-कम खर्च करना चाहता है। जब उसे मालूम होता है कि किसी ऐसी नयी मशीन से काम लिया जा सकता है, जिसमें कम मज़दूरों जरूरत होगी और इस तरह खर्च में किफायत रहेगी तो वह झट उस मशीन से काम लेने लगता है, और फालतू मज़दूरों को निकाल बाहर करता है, उनकी कोई चिन्ता नहीं की जाती। इस तरह पूंजीवाद में जहाँ एक ओर मुट्ठी भर पूंजीपतियों के पास ज्यादा-ज्यादा धन जमा होता रहता है, दूसरी तरफ गरीबों की संख्या बढ़ती जाती है।*

वर्ग-सङ्घर्ष—पूंजीवादी पद्धति से औद्योगिक देशों में समाज के खास तौर से दो वर्ग हो जाते हैं। एक वर्ग होता है, उन बड़े-बड़े कल-कारखानों के मालिकों का, जो पूंजीपति बने हुए हैं और जिनकी तिजोरियों में बड़े-बड़े कारखानों की आमदनी का बहुत बड़ा भाग जमा होता रहता है। इन्हें कोई शारीरिक श्रम नहीं करना पड़ता। ये केवल पूंजी लगा कर अपनी बुद्धि या चतुराई चालाकी से अधिकाधिक मालामाल होते जाते हैं। दूसरा वर्ग है उन मजदूरों का जो मिलों और कारखानों में दिन-रात मेहनत करके भी मालिकों की आय की अपेक्षा नगण्य सी मजदूरी पाते हैं—कभी दसवां या बीसवां हिस्सा और कभी पचासवें हिस्से से भी कम। यह आर्थिक विषमता उनमें असंतोष बढ़ाती रहती है, और वे बहुधा संगठित होकर अपनी मांगें मालिकों के सामने रखते रहते हैं और समय-समय पर हड़ताल का आसरा लेते हैं। मिलों और कारखानों के मालिक समय-समय पर मजदूरों की वेतन तथा सुविधाएँ कुछ बढ़ा देते हैं। पर

* "पूंजीवाद का 'पूंजीवाद' नाम गलत रखा गया है। वह हमको भ्रम में डाल देता है। उसका योग्य नाम तो 'दरिद्रवाद' है। उससे भयङ्कर दरिद्रता का जन्म होता है"—समाजवाद : पूंजीवाद।

उपर्युक्त विषमता तो बढ़ी ही रहती है। इस तरह दोनों वर्गों में संघर्ष होता रहता है और अशान्ति बढ़ती रहती है।

बेकारी, शरीर-श्रमियों की तथा बुद्धिजीवियों की—पूंजीवादी उत्पादन-पद्धति से आरम्भ में बड़े पैमाने पर संकट उन लोगों पर आया जो अपने घरों में चरखे से सूत कातकर अथवा करघे पर कपड़ा बुन कर अपनी आजीविका स्वतन्त्रता-पूर्वक कमाते थे। इसी प्रकार दूसरे स्वतन्त्र कारीगरों का आजीविका का साधन छिन गया। मिलों और कारखानों का माल इतना सस्ता और साथ ही बढ़िया बनने लगा कि बेचारे कारीगर मुकाबले में खड़े न रह सके। उनके काम की मांग कम रह गयी, वे असहाय होगये। उनके सामने अपने निर्वाह का यही उपाय रह गया कि कहीं मेहनत-मजदूरी करें। कारखानों से जितने कारीगरों का काम छिन जाता है, उनमें से कुछ को नयी चीजें बनाने का काम मिल जाए तो भी अधिकांश को बेकार ही रहना पड़ता है। फिर, जब किसी नयी बढ़िया मशीन का आविष्कार होता है तो और भी अधिक आदमी खाली हो जाते हैं। क्योंकि कुछ मशीनें ऐसी भी बनने लगी हैं जो कलर्कों का खास प्रकार का काम कर सकती है, अब केवल शरीर-श्रम करनेवालों की ही नहीं, पढ़े-लिखे आदमियों की भी बेकारी बढ़ती जाती है। इस विषय के कुछ तथ्य आगे दिये जाते हैं।

'हेनरी फोर्ड ने मोटर के 'टी' नमूने को बदल कर 'ए' नमूना दाखिल किया और अनिश्चित समय के लिए ६०,००० आदमियों को बेकार बना दिया। केवल २० साल पहले एक हजार एकड़ जमीन जोतने के लिए ५०० आदमी और १००० बैलों की जरूरत होती थी। लेकिन आज केवल दस ट्रेक्टर इसके लिए काफी है। कुछ साल पहले ५०० आदमी जितना कच्चा लोहा खोदकर निकालते थे, उतना आज भाप से चलने वाला एक बेलचा या खुरपा खोदकर रख देता है। श्री ग्रेग अपनी 'आशा का मार्ग कौनसा ?' पुस्तक में एक नये अमरीकी आविष्कार के बारे में बताते हैं। यह आविष्कार अणु शक्ति से विचार करनेवाली मशीनों का है, जो गणित की

अत्यन्त पेचीदा समस्याएँ तेजी से हल कर सकती है और अमुक प्रकार का निर्णय भी कर सकती है।*

जनतन्त्र का ह्रास—पहले कहा गया है कि पूंजीवाद से उत्पादन और व्यापार का केन्द्रीकरण हो जाता है। इससे आर्थिक विषमता का बढ़ना, श्रमजीवियों का पराधीन हो जाना तथा उनका शोषण होना और व्यक्तिगत साहस का लोप होना तो स्पष्ट ही है। इसके अतिरिक्त जनतन्त्र का भी भयंकर ह्रास होता है। जैसा कि श्री प्रोफेसर शंकरसहाय सक्सेना ने लिखा है, 'यदि किसी देश में आर्थिक शक्ति का केन्द्रीकरण हो जाता है, फिर चाहे वह आर्थिक शक्ति केवल कुछ बड़े धन-कुबेरों के पास हो अथवा राज्य के हाथ में हो, तो जनतन्त्र मृतप्रायः हो जाता है। उस दशा में चाहे हमारा ढांचा जनतन्त्री भले ही हो, उसका प्राण निकल जाता है, उसका केवल शव रह जाता है। आर्थिक स्वतन्त्रता के बिना राजनैतिक स्वतन्त्रता की कल्पना व्यर्थ है।'‡

साम्राज्यवाद—पूंजीवाद में कल-कारखानों से अधिकाधिक माल बनाने पर जोर दिया जाता है, इसी से पूंजीपतियों को अधिक लाभ है। परन्तु लोगों की माल खरीदने की शक्ति की आखिर एक सीमा है। वे कारखानों का निरन्तर बढ़ता हुआ माल, हाथ से बने सामान से सस्ता होने पर भी, काफी नहीं खरीद पाते, माल बाजार में या गोदामों में पड़ा सड़ने लगता है और उसके खराब होने की नौबत आती है। आगे माल का उत्पादन घटाना पड़ता है; कल-कारखानों में लगी हुई पूँजी से उसका सूद निकलना भी मुश्किल होने लगता है।

जब पूँजीपतियों को यह मालूम होता है कि कल-कारखाने चलाना और माल पैदा करना नफे का काम नहीं है तो वे पूँजी को बैंकों में लगाकर लाभ

---

* 'हरिजन सेवक', ३१ जनवरी १९५३

‡ 'समाज-शास्त्र', अप्रेल १९५३

उठाने लगते हैं; पीछे जब यह काम भी लाभकारी नहीं रहता तो वे अपने देश से बाहर, विदेशी बाजारों की ओर नजर दौड़ाते हैं। वे चाहते हैं कि तैयार माल की बिक्री के लिए चारों ओर खुला क्षेत्र रहे, मुक्त-द्वार व्यापार हो, कोई बाधा न हो। अधिक-से-अधिक बाजार पर आधिपत्य जमाना, उनकी सफलता के लिए अनिवार्य होता है; प्रलोभन देकर तथा लड़-झगड़ कर बाजार का क्षेत्र बढ़ाया जाता है। वे ऐसे देशों के बाजारों पर अधिकार जमाने की जी-तोड़ कोशिश करते हैं, जो उनका तैयार माल खरीदें और उन्हें कच्चा माल देते रहें। इसमें उन्हें अपनी सरकार का सहारा मिलता रहता है, और सरकार पर उनका प्रभाव भी बहुत अधिक होता है।

तैयार माल की खपत तथा कच्चे माल की प्राप्ति उन्हीं देशों में होती है, जहाँ उद्योग धंधों का विकास न हुआ हो। मशीनों द्वारा औद्योगिक उन्नति संसार भर में सब से पहले इंगलैंड में हुई। अंगरेज अपने व्यापार के लिए, पिछड़े हुए देशों में पहुँचे, और वहाँ धीरे-धीरे अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया। योरप के दूसरे राष्ट्रों ने भी अपने उपनिवेश बसाने, और साम्राज्य बढ़ाने की जी-तोड़ कोशिश की। इनकी आपस में खूब लड़ाइयाँ हुई। आखिर, उन्नीसवीं सदी के अन्त और बीसवीं सदी के प्रारम्भ में संसार का अधिकांश भाग इनके अधीन हो गया। एक-एक राष्ट्र ने अपने से कई गुनी आबादी और क्षेत्रफल वाले देशों पर अधिकार जमा लिया। इंगलैंड, फ्रांस, हालैंड, बेलजियम, इटली, जर्मनी आदि सभी पूँजीवादी राष्ट्र साम्राज्यवादी बन गये।

महायुद्ध—पूँजीवादी राष्ट्रों की आपसे प्रतिद्वन्द्विता की बात ऊपर कही गयी है। योरप के बीसवीं सदी के दोनों महायुद्ध पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के ही कारण हुए हैं। पूँजीवादी राष्ट्रों में निरंतर संघर्ष होता रहता है। युद्ध ठनता हैं, जो आजकल के वैज्ञानिक साधनों और आविष्कारों की सहायता से अधिकाधिक व्यापक और विस्तृत होता है, जिसमें जन-धन का भयंकर विनाश

होता है। यह है, पूँजीवाद का निश्चित परिणाम! कितना घातक है यह! मनुष्य जाति कहां आ पहुँची!

अन्याय और हिंसा—याद रहे कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का जन्म जिस औद्योगिक क्रान्ति से हुआ, वह अन्याय और अहिंसा से ओत-प्रोत थी। सुप्रसिद्ध विचारक श्री विलफ्रेड वेलाक ने ठीक कहा है—'औद्योगिक क्रान्ति के मूल में वास्तव में अन्याय था और उस क्रान्ति के उद्देश्य में और उसके प्राप्त करने के तरीके में भी हिंसा निहित थी। उस क्रांति का उद्देश्य था अधिकाधिक उत्पादन, अधिकाधिक बिक्री और अधिकाधिक मुनाफा; और उसका तरीका था न्यूनतम वेतन, अधिकाधिक काम के घंटे, और सस्ते से सस्ता कच्चा माल खरीद कर उत्पादन-व्यय कम से कम करके मंहगे से मंहगे बाजारों में बेचकर अधिकाधिक कीमत प्राप्त करना। औद्योगिक क्रान्ति ने बाजारों को हथियाया, सामानों की स्थिति संगठित की, जहाजी तोपों से बन्दरगाहों को खुलवाया और बाजारों को अपने कब्जे में किया। उसने चुंगियों पर नियंत्रण स्थापित किया और जंगी जहाजों और सशस्त्र सैनिकों के जरिए से औपनेविशिक क्षेत्रों को गुलाम बनाया तथा उनके बाजारों पर अपना एकाधिकार स्थापित किया और इस प्रकार उपनिवेशों में सस्ते श्रम द्वारा उत्पादित अत्यावश्यक सामग्रियों को हस्तगत किया।'*

पूँजीवाद का क्षय रोग;—जैसा पहले कहा जा चुका है, अपने लाभ के लिए पूंजीपति अधिक से अधिक माल तैयार करना चाहते हैं, पर लोगों की माल खरीदने की शक्ति की एक सीमा है। कुछ समय आगे-पीछे कारखानों में तैयार माल खपने में बाधा आ जाती है, तब उसका अधिक उत्पादन रोकना अथवा उत्पादन की गति मंद करनी पड़ती है। इससे पूंजीवाद की असफलता का स्पष्ट प्रमाण मिल जाता है। जिन औद्योगिक राज्यों के अधीन बड़ी आबादी वाले देश होते हैं, वहां यह स्थिति देर में आती है। इङ्गलैण्ड का साम्राज्य खूब फैला हुआ था, इस

*'आर्थिक समीक्षा'—कांग्रेस अधिवेशनांक, १७ जुलाई १९५२

लिए वहां पूंजीवाद का मार्ग अधिक समय तक साफ रहा। पर इसके लिए भारत आदि अधीन देशों को ऐसा आर्थिक संकट सहना पड़ा कि अब स्वतन्त्र होने पर भी काफी समय तक उसकी याद बनी रहेगी। अस्तु, पूंजीवाद में भीतरी विरोध है, इसके शरीर में क्षय के कीटाणु हैं। यह अपने अधीन देशों तथा औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए भागों का शोषण करके ही जी सकता है। कुछ समय आगे-पीछे अधीन देश स्वतन्त्र होने वाले हैं, और पिछड़े हुए भागों का भी उन्नति करना अनिवार्य है। इस प्रकार पूंजीवाद के साथ उसके क्षय का योग लगा हुआ है।

पूंजीवाद का विरोध और उसकी प्रतिक्रिया—पूंजीवाद और साम्राज्य-वाद के विरोध में कई विचारधाराएँ पैदा हुईं, उनमें मार्क्सवाद मुख्य था। यह समाजवाद के नाम से फैला। इसके कई भेद हुए, जिनमें से एक साम्यवाद का तो स्वतन्त्र ही स्थान बन गया। इनके सम्बन्ध में खुलासा विचार आगे किया जाएगा। यहां यह जिक्र करना है कि समाज का बहुत सा हिस्सा परिवर्तन-विरोधी होता है। शोषण का अन्त करने या वर्ग हीन समाज की स्थापना करने के ये प्रयत्न कितने ही आदमियों को अच्छे नहीं लगे। फिर, नयी व्यवस्था से जिन लोगों के स्वार्थों को धक्का पहुँचने की सम्भावना थी, उनके द्वारा इनका विरोध होना स्वाभाविक था। निदान, प्रथम यूरोपीय महायुद्ध के बाद फासिस्टवाद और नाजीवाद आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ; जिनका उद्देश्य यह था कि मध्य श्रेणी की सहायता से निरंकुश शासन और अधिनायकवाद या तानाशाही (डिक्टेटरशिप) के रूप में पूंजी-वाद की रक्षा की जाए।

फासिस्टवाद—फासिस्टवाद का प्रादुर्भाव मुसोलिनी के नेतृत्व में, इटली में हुआ। उसका लक्ष्य महायुद्ध से क्षतिग्रस्त और जर्जर इटली की दशा सुधारना, उसे स्वावलम्बी ही नहीं, एक शक्तिशाली राष्ट्र बनाना था। वहां श्रमिक आन्दोलन को दबाया गया, जिससे पूंजीपति उत्पादन-कार्य में अधिक से अधिक पूंजी लगाएँ और उत्पादन बढ़े। पर साथ ही पूंजीपतियों पर नियं-त्रण लगाया गया कि वे उत्पादन का उपयोग अपने स्वार्थ के लिए न कर राष्ट्र

लेता था, और पेड़ों के फल आदि खाते रहने की हालत में उसे भोजन के लिए भी विशेष मेहनत नहीं करनी पड़ती थी। किन्हीं कारणों से आदमी ने पीछे पेड़ों पर रहना छोड़ दिया, या वह छोड़ने को मजबूर हुआ। इससे उसका हाथ पेड़ को पकड़ने में न लगा रहकर तरह-तरह के काम करने के लिए मुक्त हो गया। पेड़ों पर रहना छोड़ने पर जब आदमी ज्यादातर जमीन पर रहने लगा, तो उसकी ज़िन्दगी में भारी हेरफेर हुआ। जङ्गली जानवरों से अपनी रक्षा करने और अपने गुजारे के वास्ते शिकार करने के लिए आदमी को चुतुराई, चालाकी, साहस, सहनशीलता आदि की बहुत जरूरत होने लगी। उसके लिए इन बातों में पशुओं से बढ़ना निहायत जरूरी था; और वह धीरे-धीरे बढ़ता गया।

पशुओं में भी बुद्धि होती है, पर वह सीमित ही रहती है— यहाँ यह याद रखने की बात है कि जानवरों में भी एक प्रकार की बुद्धि होती है, जिसे सहज-ज्ञान, स्वाभाविक बुद्धि या पशु-बुद्धि (इंस्टिंक्ट) आदि कहते हैं। इस सहज-ज्ञान के कारण जानवर जल्दी ही अपनी मा से जुदा रहने के योग्य हो जाते हैं, वे अपने निर्वाह की व्यवस्था करते हैं। वे ऐसे ही घास, फल, कन्द-मूल आदि खाते-पीते हैं कि उनका स्वास्थ्य ठीक बना रहे। अपनी स्वाभाविक अर्थात् जङ्गली दशा में रहते हुए वे बहुत ही कम बीमार होते हैं, और यदि संयोग से कभी बीमार पड़ते भी हैं, तो स्वयं अपना इलाज कर लेते हैं। वे अपने खाने-पीने में ऐसा परिवर्तन या कमी कर देते हैं कि उनका रोग दूर हो जाता है। विशेषज्ञों का कथन है कि कुछ जङ्गली चिड़िया अपनी टूटी हड्डी को दुरुस्त कर लेती हैं। उन्हें यह भी मालूम रहता है कि किस ऋतु में कैसी जगह रहना ठीक होगा। कितने ही पक्षी ऐसे होते हैं कि वे साल के कुछ महीने एक जगह और कुछ महीने दूसरी जगह रहते हैं। ये पक्षी अपने आप आवश्यकतानुसार एक स्थान से दूसरी जगह चले जाते हैं। अजगर, मगर आदि कुछ जानवर कई-कई महीने तक गाढ़ी नींद में सोये रहते हैं। निदान, उन्हें इस बात का स्वयं ही काफी ज्ञान होता है कि स्वास्थ्य-रक्षा के लिए क्या कार्य करना चाहिए, क्या खाना चाहिए, और किन बातों से परहेज करना चाहिए।

के लिए करें। यदि वे किसी उद्योग को ठीक तरह न चला सकें तो उस उद्योग को उनसे ले लिया जाए, उसे राज्य चलाए। श्रमियों के लिए भी यह नियम किया गया कि वे किसी काम को बन्द न करें, व्यवसायिक हड़ताल न करें, ऐसा करने वाले को कठोर दंड दिया जाए। इस प्रकार वहाँ निजी उद्योग और व्यवसाय बने रहे, पर उन पर राज्य का कड़ा नियंत्रण रहा।

फासिस्टवाद के अनुसार राज्य के लिए दूसरे देशों पर आक्रमण करके अपना अधिकार-क्षेत्र बढ़ाते रहना आवश्यक है। युद्ध अनिवार्य है। मनुष्यों का काम है कि अपने आपको राज्य के अर्पण करने की भावना रखते हुए युद्धों में मरने को तैयार रहें, और स्त्रियों का काम है कि पुत्र पैदा करती रहें, जिससे जन-संख्या में युद्ध से होने वाली क्षति की पूर्ति हो न हो, वरन् वह निरन्तर बढ़ती रहे।

फासिस्टवाद में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नहीं होती। व्यक्ति राज्य के लिए माना जाता है, और राज्य के सब अधिकारों का केन्द्रीकरण होता है। राज्य का बल और एकता बढ़ाने के लिए लोकतन्त्री शासन, जिसमें एक से अधिक दल होते हैं, समाप्त कर दिया जाता है।

फासिस्टवाद अपनी जन्मभूमि इटली से दूर-दूर तक फैला। जापान में यह विशेष रूप से सामने आया। वहाँ जातीय श्रेष्ठता की भावना ने उग्र रूप धारण किया; यह समझा जाने लगा कि जापान सब पूर्वी राष्ट्रों का नेता होने योग्य है, और उसे अपना सैनिक बल बढ़ा कर यह कार्य करना चाहिए। उसे अपना साम्राज्य, अधिकाधिक बढ़ाना चाहिए। सम्राट् का किसी को विरोध न करना चाहिए, वह पूज्य है, उसके लिए नागरिकों को युद्ध में भाग लेने और प्राणों का बलि देने के लिए तैयार रहना चाहिए। जापान चीन को जीत कर एशिया की रक्षा कर सकता है और एशिया को जीत कर संसार भर में अपना शासन स्थापित कर सकता है। इस भावना ने जापान को कैसा युद्ध-प्रेमी, महत्वाकांक्षी तथा अभिमानी बनाया और पीछे किस प्रकार उसका गर्व

चूर्ण होने के अतिरिक्त जनता को घोर संकट सहना पड़ा, इसके ब्योरे में हमें जाना नहीं है।

नाजीवाद—नाजीवाद फासिस्टवाद से बहुत मिलता है, और इसे उसका जर्मन संस्करण कहा जा सकता है। उसकी तरह नाजीवाद का भी सिद्धान्त है कि व्यक्ति राज्य की उन्नति में ही अपनी उन्नति समझे और उसके वास्ते अपना तन-मन-धन अर्पण करने को तैयार रहे। राज्य ही ध्येय या साध्य है; व्यक्ति तो उसके लिए एक साधन मात्र है। नाजीवाद एक बात में फासिस्ट-वाद से भिन्न रहा। इसके जन्मदाता हिटलर ने इस विचार को खूब फैलाया कि जर्मन लोग आर्य जाति की सबसे श्रेष्ठ शाखा के हैं, उनकी सभ्यता और संस्कृति संसार भर में सबसे ऊँची है, इस जर्मन जाति को शुद्ध रखना हमारा परम कर्तव्य है। भारतीय पाठक अच्छी तरह जानते हैं कि जाति या वर्ण का घंमड कैसे-कैसे झगड़ों का कारण होता है, और योरप अमरीका की गौरांग जातियों ने अपने रंग वालों को ऊँचा मान कर संसार में कितना विनाश-कार्य किया है। हिटलर की यह 'जर्मन जाति की श्रेष्ठता' की बात भी उसी श्रेणी की थी; और, जर्मनी के बलवान प्रभुता-प्राप्त लोगों में इस का विष फैलना बहुत ही अनर्थकारी हुआ। यहूदियों को अमानुषिक अत्याचारों का शिकार होना पड़ा।

नाजीवाद से जर्मनी में एक मात्र नाजीदल की सरकार बनी। शासन का पूरे तौर से केन्द्रीकरण हो गया। राज्य का अधिकार-क्षेत्र बहुत बढ़ गया। पार्लिमेंट की सत्ता नाममात्र को रह गयी। हिटलर ही राष्ट्र का प्रतीक या मूर्तिमान स्वरूप माना जाने लगा। धार्मिक संस्थाएँ भी राष्ट्र के अधीन थीं। परिवार पर भी राष्ट्र का नियंत्रण था; स्त्रियों का मुख्य कार्य सन्तान पैदा करना माना जाता था। शिक्षा भी राज्य के नियंत्रण में थी; शिक्षा-संस्थाएँ नाजीवाद के प्रचार की सब से उत्तम साधन मानी जाती थीं।

विशेष वक्तव्य—जर्मनी के नाजी, और इटली के फासिस्ट आतंककारी शक्ति बन गये थे; सारे यूरोप में उनकी धाक जम गयी थी। इन राज्यों की तानाशाही का कुछ ही दिनों में इतना बल बढ़ गया था कि कई दूसरे देशों

में भी तानाशाही का सिद्धान्त अपनाया जाने लगा था। दूसरे यूरोपीय महा-युद्ध (१९३९—४५) में इन शक्तियों की पराजय हुई। परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि इन विचारधाराओं का लोप हो गया। अब भी कई देशों में थोड़े बहुत रूप में ये मौजूद है, और मौका पाकर पनप सकती हैं। मानव हितैषियों का कर्तव्य है कि जिन कारणों से इन विचारधाराओं को कुछ बल मिलता है, उन्हें दूर करें।

याद रहे कि नाजीवाद या फासिस्टवाद कोई भी पूँजीवाद से होने वाली बुराइयों को दूर नहीं करता : ये तो गरीबों या मध्य श्रेणी वालों का नियंत्रण करते हुए पूँजीवाद को कुछ दूसरे रूप में बनाए रखना चाहते थे। परन्तु समय का प्रवाह पूँजीवाद को नष्ट करने वाला है, इसे कोई रोक नहीं सकता। वह तो बहुत कुछ अपने ही भीतरी रोग से मर रहा है। फिर समाजवाद और साम्यवाद का प्रबल वेग है और अब तो मानव प्रगति सर्वोदय की ओर होने लगी हैं। इनका विचार आगे किया जायगा।

पैंतालिसवाँ अध्याय

समाजवाद

साम्राज्यवाद की बुराइयों के प्रतिक्रिया-रूप कुछ विचार पैद हुए—जिनमें से मार्क्सवाद भी एक था—जो उस जमाने में तो बहु परिणामकारी हुए। लेकिन जिसके विरोध में वे खड़े हुए थे, उसके खत होते-होते वे भी खतम होते जा रहे हैं।

—विनोब

समाज से सदा के लिए शोषण का अन्त करने के वास्ते आवश्य है कि वर्गहीन समाज की स्थापना की जाए जिसमें लाभ के लिए नही

बल्कि सर्वहित के लिए मनुष्य कार्य करें। यह बात हमारे ऋषि-महर्षि करते आये हैं। परन्तु उसका वैज्ञानिक पद्धति से निरूपण सबसे प्रथम मार्क्स ने किया है।

—प्रो० धर्मदेव शास्त्री

पूँजीवाद पद्धति में समाज में, जो शोषण और आर्थिक विषमता होती है, उसे मिटाने के लिए आरम्भ में जो विचारधाराएँ सामने आयीं, उनमें समाजवाद मुख्य है। इस अध्याय में उसका विचार किया जाता है।

सामाजिक भावना—यों तो मनुष्यों में एकान्तवास की भी प्रवृत्ति है तथापि सामाजिक भावना विशेष रूप से पायी जाती है। वे एक दूसरे से मिल-जुल कर रहना चाहते है, जिससे उन्हें अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने में सुविधा हो और सब प्रेम और सहयोग से जीवन बिताएँ। इसी भावना से मनुष्य परिवार बनाता है, जाति और राष्ट्र का निर्माण करता है। वह गाँव, नगर और देश की रचना करता है। यथेष्ट प्रगति करने पर वह संसार के विविध भागों से सम्बन्ध जोड़ता है। मनुष्य की यह सामाजिक जीवन बिताने की प्रवृत्ति उसमें थोड़ी बहुत चिरकाल से है। आदमी ने दूसरे का कष्ट निवारण कर उसे सुख पहुँचाया है, और अपने कष्टों के निवारण में तथा सुख बढ़ाने में दूसरों का सहयोग प्राप्त किया है। इसी का स्थूल या मूर्त रूप दान-धर्म है। भारतवर्ष में और कुछ कम-ज्यादा सभी देशों में दान-धर्म, सदाव्रत, आदि का चिरकाल से प्रचार रहा है; यहाँ तक कि समय-समय पर अपना सर्वस्व दूसरों के अर्पण करने वाले हरिश्चन्द्रों का भी अभाव नहीं रहा है। अनेक उदार महानुभावों ने लोकहित के लिए अपने पुत्र स्त्री आदि का सहर्ष दान किया है, और स्वयं अपने शरीर का सब से अच्छा उपयोग लोकसेवा में उसकी आहुति देना ही माना है। विविध देशों की समाज-व्यवस्थाओं में यही बात देखने में आती है; उदाहरण के लिए भारत की वर्णव्यवस्था, तथा अफलातून (यूनान) आदि की समाज-व्यवस्था में यह सिद्धान्त किसी-न-किसी रूप में अवश्य रहे हैं।

समाजवाद के मुख्य लक्षण—समाजवाद आधुनिक काल में पूँजीवाद के

विरुद्ध प्रतिक्रिया है। इसकी परिभाषा और व्याख्या समय-समय पर बदलती या विकसित होती रही हैं, और जुदा-जुदा विद्वानों के इसके सम्बन्ध में अनेक मत हैं। स्थूल रूप से इसके मुख्य लक्षण ये हैं—इसमें उत्पादन के साधनों पर व्यक्ति या संस्था का निजी अधिकार नहीं होता, वे सब सरकार जैसी किसी सार्वजनिक सत्ता की मिल्कियत होते हैं। उनसे जो उत्पादन होता है उसमें मुनाफे की भावना नहीं रहती, बल्कि उसकी प्रेरक शक्ति लोकसेवा की भावना होती है। इसमें पीछे इस विचार का भी समावेश हो गया कि उत्पादन अच्छी तरह सोच विचार कर बनायी हुई योजना के अनुसार हो। इसमें एक ऐसी सत्ता का अस्तित्व मान लिया गया जो सारी आर्थिक प्रणाली सम्बन्धी आवश्यक आंकड़े आदि तैयार करे और उत्पादन के प्रत्येक विभाग पर पूरी देख-रेख रख सके। इसमें जनता की आवश्यकताओं तथा सुविधाओं का विचार रहता है।

समाजवादी व्यवस्था में उत्पादन-कार्य सरकार द्वारा होता है; वही पूँजीपति, जमींदार और व्यवस्थापक या उद्योग-साहसी है। इस प्रकार सूद और लगान का प्रश्न नहीं रहता। जो मुनाफा होता है, वह सार्वजनिक कार्यों में लगाया जाएगा। काम करने लायक प्रत्येक व्यक्ति को काम करना होता है। कोई आदमी खाली बैठे नहीं खा-पी सकता। काम करने वालों को वेतन उनके कार्य के अनुसार जुदा-जुदा दर से दिया जाता है, अर्थात् अधिक कुशल श्रमियों को दूसरों की अपेक्षा अधिक दिया जाता है, पर निर्वाह-वेतन हर किसी को मिलता है। भोजन, वस्त्र, मकान, शिक्षा, चिकित्सा आदि की व्यवस्था सरकार द्वारा की जाती है।

समाजवाद और व्यक्तिवाद—समाजवाद को अच्छी तरह समझने के लिए खास बात यह याद रखनी चाहिए कि यह व्यक्तिवाद का विरोधी है। समाजवाद में मूल भावना सहयोग और सहकारिता है जब कि व्यक्तिवाद में प्रतिस्पर्द्धा और संघर्ष है। समाजवादी विश्वास करता है कि मनुष्य में लोकहित का विचार प्रधान है, जब कि व्यक्तिवाद के अनुसार हरेक आदमी अपने-अपने हित या स्वार्थ की बात सोचता है, और उसे ध्यान में रखकर अपना कार्यक्रम स्थिर करता है। व्यक्तिवादियों का मत है कि लोगों को

सरकार: अपना-अपना कार्य स्वतंत्रता-पूर्वक करने दे, जब उनमें आपस में विवाद या झगड़ा हो तो राज्य उसे निपटा दे। लेकिन राज्य को उनके शिक्षा स्वास्थ्य, आजीविका, बीमारी, बेकारी, मजदूरी आदि में कोई हस्तक्षेप न करना चाहिए। कारखानों के सम्बन्ध में राज्य को इस बात से कोई प्रयोजन नहीं कि वहाँ मजदूर कितने घंटे काम करते हैं, रात को भी काम होता है या सिर्फ दिन में ही, काम करनेवालों की उम्र क्या है, क्या वहाँ बालक और स्त्रियाँ भी काम करती है, कारखाने का स्थान कितना स्वास्थ्यप्रद है, मजदूरों को कितना वेतन मिलता है, छुट्टी कितनी और कब मिलती हैं, इत्यादि। ये बातें पूँजीपति और मजदूरों के आपस में तय करने की है। जब वे दोनों सहमत हों तो राज्य को बीच में दखल देने की जरूरत नहीं। इसी तरह तैयार माल में से कितना विदेशों को भेजा जाए, कीमत क्या रखी जाए, मुनाफा कहाँ तक रहे, कौनसा माल कितने परिमाण में विदेशों से मंगाया जाए, इन बातों को खरीदने-बेचने वाले जानें, राज्य को इनसे क्या मतलब!

इसके विरुद्ध समाजवाद में, जैसा कि ऊपर कहा गया है, उत्पादन के साधनों पर तथा तैयार माल पर राज्य का पूरा नियंत्रण रहता है। वही यह निश्चय करता है कि कौनसा माल, कितने परिमाण में बनेगा, तथा कितने परिमाण में बाहर भेजा जाएगा, मजदूरों या कार्यकर्ताओं को कितना पारिश्रमिक मिलेगा और उनके स्वास्थ्य शिक्षा आदि की क्या व्यवस्था की जायगी।

समाजवाद का वैज्ञानिक विवेचन; मार्क्सवाद—प्राचीन समाज-व्यवस्थाओं या विचारधाराओं में सामाजिकता, लोकहित या दया परोपकार आदि की भावना चाहे जितनी हो, समाजवादी योजना की दृष्टि से उनका विशेष महत्व नहीं। वास्तविक समाजवाद का सिद्धान्त आधुनिक है; समाज और राज्य की व्यवस्था को बदलने और उसे नया स्वरूप देने का विचार उन्नीसवीं सदी से होने लगा। शोषित मज़दूरों और उनके हितैषियों ने पूंजीवाद के विरुद्ध जोरदार आवाज उठायी! इन्होंने अब दया, सहानुभूति या मेहरबानी के लिए प्रार्थना नहीं की; इन्होंने

अपने अधिकारों की मांग की। नयी व्यवस्था चलाने के सम्बन्ध में समय-समय पर अनेक लेखकों ने अपने विचार जाहिर किये हैं। खास तौर से सिलसिलेवार और वैज्ञानिक ढंग से विचार करने वालों में जर्मनी के क्रान्तिकारी विद्वान कार्लमार्क्स (१८१८–८३) का नाम मशहूर है। उसने एन्जिल्स के साथ मिलकर सन् १८४८ में 'कम्यूनिस्ट मेनिफेस्टो' (साम्यवादी घोषणा) लिखी, इसमें साम्यवाद के सिद्धान्तों का विवेचन किया। पीछे मार्क्स ने 'केपिटल' नाम के दूसरे महत्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की; इसमें पूंजी और पूंजीवाद के विषय में ब्योरेवार विचार किया गया है। इन दोनों ग्रन्थों में वर्णन किये हुए सिद्धान्तों को ही मार्क्सवाद माना जाता है। पीछे विविध विद्वानों ने इस विषय पर अपनी-अपनी आलोचना-प्रत्यालोचना की है, और इस विचारधारा के सम्बन्ध में विशाल साहित्य हो गया है।

कार्लमार्क्स के मुख्य सिद्धान्त—कार्लमार्क्स ने खास तौर से तीन सिद्धान्त उपस्थित किये :—

१—मार्क्स ने समाज के इतिहास की, भौतिकवाद के आधार पर, व्याख्या की है। उसने बतलाया कि समाज में जो विविध परिवर्तन होते हैं, जितने मत, सम्प्रदाय, आन्दोलन या लड़ाई-झगड़े आदि होते हैं, सब की तह में धन का सवाल होता है। लोगों की सभ्यता, रहनसहन, विचारधारा आदि आर्थिक परिस्थिति से निश्चित और नियन्त्रित होती हैं। मनुष्य के विकास का इतिहास समाज के आर्थिक विकास की कहानी है।

२—मार्क्स का कथन है कि समाज की शुरू की हालत को छोड़ कर उसकी हरेक आर्थिक व्यवस्था में दो वर्ग या श्रेणियाँ मुख्य रही हैं। गुलामी की प्रथा में मालिक और गुलाम रहे। जागीरदारी और जमींदारी में जागीरदार या जमींदार और किसान होते हैं। और, अब पूँजीवादी प्रथा में पूँजीपति और मजदूर हैं। इन दोनों श्रेणियों के हित एक दूसरे के विरुद्ध होते हैं; एक का लाभ दूसरे की हानि, एक की शानशौकत और विलासिता दूसरे का शोषण है। पूँजीपतियों ने आर्थिक जगत के अलावा राजनैतिक क्षेत्र में भी प्रधानता पा ली है। विधान-सभाओं के चुनावों और मन्त्रिमण्डलों के संगठन

में अकसर वे ही उम्मेदवार सफल होते हैं, जिन्हें ये चाहते हैं। पूँजीपतियों और मज़दूरों का संघर्ष तभी समाप्त होगा, जब निजी सम्पत्ति हटा दी जायगी। इसलिए सब सम्पत्ति सरकारी समझी जानी चाहिए।

३—हरेक चीज़ को पैदा करने में कुछ श्रम लगता है। जब से चीज़ें मशीनों द्वारा बनायी जाने लगीं, श्रमजीवियों को मूल्य का थोड़ा सा ही हिस्सा मिलता है, शेष मूल्य पूँजीपति के पास रहता है, अर्थात् पूँजीपति चीज़ों पर बेहद मुनाफा लेता है, वह मज़दूरों के श्रम से अनुचित लाभ उठाता है। चीज़ों की कीमत खासकर (शारीरिक) श्रम के अनुसार लगायी जानी चाहिए।

मार्क्स के समाजवाद के ये तीन मुख्य सिद्धान्त हैं। इसके अलावा वह धर्म या मजहब को एक व्यर्थ का ढोंग समझता है। उसके अनुसार धर्म, जो भाग्यवाद और संतोषवाद आदि का प्रचार करता है, सामाजिक उन्नति में बाधक है। महन्त पुजारी आदि मुफ्तखोर हैं; जहाँ तक बन आए, ऐसे आदमी समाज में न रहें, इनकी शक्ति या मान-प्रतिष्ठा बिलकुल ही कम हो।

उत्पत्ति के साधनों का राष्ट्रीकरण—समाजवादी विचारधारा के अनुसार उत्पत्ति के साधनों पर व्यक्तियों का निजी अधिकार न होकर राष्ट्र का अधिकार होना चाहिए, अर्थात् उनका राष्ट्रीकरण होना आवश्यक है। सब ज़मीन, बैङ्क, रेल, जहाज़, कल कारखानों आदि की मालिक सरकार हो। उसके द्वारा नियत किये हुए योग्य कार्यकर्ता प्रत्येक विभाग का काम संभाले। ज़मीन और बैङ्कों के राष्ट्रीकरण का अच्छा उपाय यह समझा जाता है कि सरकार पूँजीपतियों पर कर लगाकर धन इकट्ठा करे और उस धन से ज़मीन, और बैङ्क के हिस्से खरीद ले और मालिकों को जितना मुमकिन हो, हरजाना दे दे। इसी तरह रेल, खानों और कल-कारखानों का भी राष्ट्रीकरण किया जाए।

समाजवाद की दृष्टि से समाज की अशान्ति और विषमता का मुख्य कारण उत्पादन के साधनों पर व्यक्तियों का निजी स्वामित्व है। जब इन साधनों पर सारे देश का सामूहिक स्वामित्व स्थापित हो जायगा तो अशान्ति और विषमता का लोप हो जायगा, और वर्ग-संघर्ष का अन्त हो जायगा;

क्योंकि सब लोग समान रूप से जीवन व्यतीत करेंगे, न कोई शोषक होगा और न कोई शोषित।

वितरण सम्बन्धी विचार—वितरण के बारे में पहले समाजवादियों में मुख्यतया दो मत थे—(१) उत्पादन की वस्तुओं में प्रत्येक मजदूर को उसके श्रम का पुरस्कार उसके काम की मात्रा तथा गुण के अनुसार मिले। (२) उत्पन्न सम्पत्ति में से प्रत्येक श्रमजीवी को उसकी आवश्यकता के अनुसार मिलती रहे। आजकल दूसरा मत प्रायः उन लोगों का माना जाता है, जिन्हें समाजवादियों से भिन्न, साम्यवादी कहा जाता है। इस प्रकार समाजवाद के अनुसार मजदूरों को उनके काम के अनुसार प्राप्ति होनी चाहिए।

उद्देश्य-सिद्धि के मार्ग: दो मत—समाजवाद का उद्देश्य पूरा करने के लिए किस प्रकार के उपाय काम में लाये जाएँ, इस विषय में समाजवादियों में मतभेद रहा। दो विचारधाराएँ मुख्य थीं। एक दल का कथन था कि समाज विकासशील है, क्रमिक विकास के द्वारा ही हम अपने लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं। यह दल वैधानिक और पार्लिमेंटरी आन्दोलन के द्वारा ही अपना उद्देश्य पूरा करने के पक्ष में था। उसका कथन था कि जनता में निरन्तर प्रचार और आन्दोलन करके समाजवादी सदस्य विधान-सभाओं में अपना बहुमत स्थापित कर लें और फिर अपनी योजना को अमल में लाने का प्रयत्न करें। दूसरे दल को उद्देश्य-सिद्धि से मतलब था, उसका मार्ग चाहे जो हो—क्रान्ति हो या वैध पद्धति, हिंसा हो या अहिंसा। इस दल को प्रायः समाज के क्रमिक विकास में विश्वास कम ही था। इस का कथन था कि समाजवाद वैधानिक मार्ग से स्थापित नहीं किया जा सकता; क्योंकि पार्लिमेंटों और शासन-संस्थाओं पर पूंजीपतियों ने अपना प्रभाव जमा रखा है। इस लिए मजदूर लोगों को संगठित होकर क्रांति करनी चाहिए; बारबार हड़ताल करके पूंजीपतियों को पंगु बनाया जा सकता है। अब इस दूसरे दल की बात प्रायः साम्यवादियों को ही मान्य है, समाजवादियों की विचारधारा वही है, जो ऊपर पहले दल की बतायी गयी है।

समाजवाद के भेद—मार्क्स ने अपने एक भाषण में कहा था कि 'सब स्थानों में एक ही प्रकार से कार्य नहीं हो सकता। प्रत्येक देश के रीति रिवाज तथा स्थापित संस्थाओं के अनुकूल ही वहां कार्य करना संभव है। इंगलैंड, अमरीका और हालैंड में मजदूर शान्ति से भी अपना उद्देश्य पूरा कर सकते हैं।' वास्तव में समाजवाद के बारे में जुदा-जुदा देशों में समय-समय पर, तथा एक ही समय में भी विद्वानों के विचार जुदा-जुदा रहे हैं : उनमें मतभेद का एक विषय तो यह था कि समाजवाद के अनुसार राज्य की व्यवस्था बदलने के लिए कैसे उपाय काम में लाए जाएँ, उसमें क्रान्ति और हिन्सा को क्या स्थान रहे। इसका जिक्र पहले हो चुका है। मत-भेद का दूसरा विषय यह था कि समाजवादी व्यवस्था की रूपरेखा क्या हो; जो सरकार समाज और राज्य की नयी व्यवस्था का संचालन या नियंत्रण करे उसकी सत्ता का दुरुपयोग किस प्रकार कम से कम हो। मार्क्स ने इस विषय पर स्पष्ट और व्योरेवार विचार नहीं किया, उसके मत से क्रान्ति स्वयं ही पीछे स्थापित होने वाली व्यवस्था का स्वरूप निर्धारित कर लेगी। परन्तु अन्य विचारकों ने इस विषय पर अपने-अपने ढंग से यथेष्ट प्रकाश डालना आवश्यक समझा। अस्तु, इन दो प्रश्नों पर मतभेद होने से समाजवादी विचार-धारा ने अनेक रूप ग्रहण कर लिये। इनमें से मुख्य ये हैं—

(१) राजकीय समाजवाद (स्टेट-सोशलिज्म)
(२) मजदूर-संघवाद (सिंडिकलिज्म)
(३) श्रेणी समाजवाद (गिल्ड-सोशलिज्म)
(४) अराजवाद (अनार्किज्म)
(५) साम्यवाद (कम्यूनिज्म)

आगे संक्षेप में इनका परिचय दिया जाता है। साम्यवाद को अब समाजवाद से अलग ही माना जाता है, उसके बारे में एक जुदा अध्याय में लिखा जाएगा।

राजकीय समाजवाद—इसे समूहवाद (कलेक्टिविज्म) या केवल समाजवाद भी कहा जाता है। यह समाजवादी व्यवस्था को राज्य द्वारा वैध और

मुर्गी का बच्चा जरा सा होता है, तभी वह अपने खाने-पीने का प्रबन्ध कर लेता है। जलचर जीवों के बच्चे अपने खोल में से निकलते ही पानी में कूद पड़ते हैं; और मजे से तैरने लगते हैं। इस तरह पशु-पक्षी अपनी सहज-बुद्धि से बहुत जल्दी स्वावलम्बी हो जाते हैं। लेकिन इसके साथ यह बात भी है कि पशु-पक्षी जैसे हजारों वर्ष पहले थे, बहुत कुछ उसी हालत में आज भी हैं, वे कुछ आगे नहीं बढ़े; और छोटी व बड़ी उम्र के एक ही पशु में सिवाय शारीरिक शक्ति के और कोई फरक नहीं है।

आदमी की बुद्धि बढ़ती रहती है—अब आदमी की बात लीजिए। उसकी सन्तान आरम्भ में बहुत असमर्थ होती है, वह जानवरों से डरती रहती है, और यदि वह अपनी बुद्धि का विकास और उपयोग न करे, तो वह बहुत से पशु-पक्षियों से सहज ही पराजित हो जाती है। लेकिन आदमी की बुद्धि और शक्ति का विकास तथा वृद्धि होती रहती है। यही कारण है कि आदमी के बच्चे और जवना आदमी में, तथा हजार वर्ष पहले के और इस समय के आदमी में, बहुत फरक होता है। इसी का ही यह फल है कि आदमी, जो कि शुरू में जानवरों से बहुत डरता रहता था, और अक्सर उनका शिकार हो जाता था, धीरे-धीरे पशुओं पर विजय पाने में बहुत-कुछ सफल हो गया है। अब वह बड़े-बड़े जङ्गली और मांसाहारी जानवरों तक का शिकार कर सकता है। आदमी के दांत और नख आदि ऐसे तेज़ और मजबूत नहीं थे, जैसे शेर-चीते आदि के होते हैं। उसने उस काम के लिए लकड़ी की छड़ी ली। उसकी नोक तेज की, या सिरे पर चकमक या दूसरा कड़ा पत्थर लगाया, पीछे उसने इससे धनुष या कमान के जरिये दूर तक वार करना सीख लिया। कुछ और समय बीतने पर आदमी ने तोप और बन्दूक से ऐसा काम लेना शुरू कर दिया कि उसके सामने जानवरों के दाँत, नख और पंजे सब बेकार हो गये।

हाथों की बात लीजिए। कुदरती हालत में आदमी के हाथ कुछ मजबूत न थे। उसने औजारों की मदद ली और हाथों की ताकत बढ़ायी। पीछे जब उसने औजारों को मशीन में लगा लिया और मशीन को भाप या बिजली आदि से

शान्तिमय उपायों से स्थापित करने के पक्ष में होता है। इस लिए यह जनता में प्रचार करके समाजवादी दल बनाता और उसे अधिक से अधिक बढ़ा कर चुनाव में विजयी करना चाहता है, जिससे उसकी सरकार बने, उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीकरण हो जाए और राज्य आर्थिक व्यवस्था का संचालन मुनाफे के लिए नहीं, लोकहित के लिए करे। इसके अनुसार राष्ट्रीय या अखिल देशीय महत्व के उद्योगों का प्रबन्ध केन्द्रीय सरकार और अन्य उद्योगों का प्रबन्ध स्थानीय सरकारों या संस्थाओं द्वारा होगा। मजदूरों को वेतन उनके कार्य के अनुसार मिलेगा, परन्तु हरेक के लिए न्यूनतम वेतन निश्चित रहेगा, और उससे उसका अच्छी तरह निर्वाह हो सकेगा। चौदह-पन्द्रह वर्ष तक के बालक स्कूल में पढ़ने जाएँगे, और इससे अधिक आयु के सब लोगों को राज्य से काम मिलेगा, और काम न दिया जा सके तो जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक सहायता दी जायगी। ऊपर कहा गया है कि उत्पादन के साधनों पर राष्ट्र का अधिकार होगा, उन्हें छोड़ कर अन्य वस्तुएँ—घर, कपड़े, उद्यान, बगीचे, सवारी, पुस्तकें आदि वस्तुएँ व्यक्तियों के ही अधिकार में रहेगी। वेतन कार्य के अनुसार होने से लोगों की आय जुदा-जुदा होगी। कर, विशेषतया आय-कर, वर्द्धमान अर्थात् उत्तरोत्तर बढ़ते हुए दर से लिया जाएगा—गरीबों से बहुत मामूली या बिलकुल नहीं, और अमीरों से खूब अधिक, मिसाल के तौर पर रुपये में चौदह-पन्द्रह आने तक। विरासत-कर भी लिया जाएगा। इन करों का उद्देश्य यह होगा कि जनता में सम्पत्ति का समान वितरण होने में सहायता मिले।

मजदूर संघवाद—किसी विचारधारा का जन्म और विकास होने में देश-काल का बहुत प्रभाव हुआ करता है। फ्रांस में बहुत समय तक मजदूर-सङ्गठन अवैध थे और उन्हें गुप्त उपायों द्वारा काम करना होता था। उनमें व्यक्ति-स्वातंत्र्य और व्यावसायिक स्वतंत्रता की भावना बढ़ रही थी। इसलिए वहाँ समाजवाद ने मजदूर-संघवाद का रूप लिया। यह मजदूरों के आन्दोलन और विचारों से प्रभावित है। यह सत्ता का विकेन्द्रीकरण चाहता है, उत्पादन के साधन श्रमियों के हाथ में रहते हैं और वे ही अपना शासन चलाते हैं।

मजदूर-संघवादी वैधानिक या प्रजातांत्रिक कार्यप्रणाली की उपयोगिता, व्यावहारिकता या सफलता में विश्वास नहीं करते। ये प्रत्यक्ष में उपयोगी सिद्ध होने वाले उपायों—विध्वंस या तोड़-फोड़ और हड़ताल—को ही ठीक मानते हैं। विध्वंस में कई बातों का समावेश है, जैसे मशीनों को बिगाड़ देना, तैयार माल को खराब कर देना, उसमें मिलावट करना, उसे भेजते समय उस पर पता गलत कर देना आदि। हड़ताल से छोटी-मोटी या आंशिक हड़ताल का ही आशय नहीं लिया जाता। मजदूर संघवादियों का लक्ष्य हड़ताल को अधिकाधिक व्यापक और विशाल पैमाने पर करना होता है, जिससे वह क्रमशः अन्तर्राष्ट्रीय या सार्वभौम रूप धारण करले और राज्य को इस बात पर मजबूर करदे कि वह सब अधिकार श्रमियों को दे दे। हड़तालों को मजदूरों के संगठन का एक प्रमुख साधन माना जाता है। सार्वभौम हड़ताल के लिए यही आवश्यक समझा जाता है कि कोयले की खानों और भाप तथा बिजली से चलने वाले बड़े-बड़े उद्योगों, कारखानों, रेलों या जहाजों के मजदूर हड़ताल करदें; इनके बन्द होने पर दूसरे उद्योग, जो इन के आश्रित होते हैं, स्वयं ही बन्द हो जाएँगे।

श्रेणी-समाजवाद—जिस प्रकार फ्रांस में समाजवाद ने मजदूर-संघवाद का रूप लिया, इङ्गलैंड में वहाँ की परिस्थिति और परम्पराओं के अनुसार श्रेणी-समाजवाद का जन्म हुआ। वहां मध्यकाल में जुदा-जुदा पेशों के कारीगरों की विविध श्रेणियाँ थीं। अब जो मजदूरों के आन्दोलन हुए उनमें उनका प्रभाव पड़ा। वहाँ की जनता शान्तिप्रिय रही थी, वह रक्तपात से यथा-संभव बचती रह कर ही अपनी गृह-नीति में अग्रसर होती रही थी। वहाँ ऐसी ही विचारधारा का प्रचार स्वभाविक था, जिसमें संघर्ष की बात बहुत कम हो। इस प्रकार वहाँ जो श्रेणी-समाजवाद अपनाया गया, वह ऐसी अर्थ-व्यवस्था का समर्थक था, जिसमें देश के उत्पादकों और उपभोक्ताओं, दोनों की मिली-जुली जिम्मेवारी हो। इसके अनुसार अन्य सार्वजनिक विषय—शान्ति, रक्षा, परराष्ट्र-सम्बन्ध, न्याय, शिक्षा स्वास्थ्य, कर-निर्धारण आदि—सरकार के हाथ में रहेंगे, परन्तु उसे अर्थिक या औद्योगिक विषयों का

अधिकार न होगा। उत्पादन किन वस्तुओं का तथा कितने परिमाण में हो, उत्पन्न या तैयार वस्तुओं का मूल्य क्या हो—इन विषयों का सम्बन्ध उत्पादकों अथवा मजदूरों से, एवं उपभोक्ताओं से है। इसलिए इन दोनों ही श्रेणियों की समितियाँ इन प्रश्नों का निर्णय करें। इस प्रकार श्रेणी-समाजवाद राज्य की सत्ता तो बनाये रखता है, पर उसका क्षेत्र गैर-औद्योगिक विषयों तक ही सीमित रखना चाहता है। यह तीन प्रकार के उपाय काम में लाता है जो वैध और शान्तिमय हैं—

(१) यह अपना सङ्गठन इस प्रकार करता है कि उसमें एक-एक उद्योग के केवल शरीर-श्रम करनेवाले ही नहीं वरन् सभी कार्यकर्त्ता, चाहे वे बौद्धिक कार्य ही करनेवाले ही क्यों न हों, रहेंगे। इस प्रकार के सङ्गठन का प्रभाव साधारण मजदूर-सभाओं के सङ्गठन से कहीं अधिक होगा, जो केवल शरीर-श्रमियों की होती है। इनकी हड़ताल से, सम्बन्धित उद्योग का काम पूरे तौर पर बन्द होजाएगा! इसलिए ऐसे श्रेणी-संगठन की मांगों को अस्वीकार करने का सहज ही साहस नहीं किया जासकेगा, और श्रेणी की मांग तो उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाएगी। इस प्रकार प्रत्येक उद्योग के श्रमियों की श्रेणी उस उद्योग के कारखानों के प्रबन्ध आदि में अधिकाधिक अधिकार पाती रहेगी।

(२) मजदूर लोग दैनिक वेतन के अनुसार काम न कर, मालिकों से माल तैयार करने का सामूहिक ठेका लेंगे, अर्थात् इतने समय में माल तैयार किया जाएगा, और उसका कुल पारिश्रमिक इतना होगा। यह तय होजाने पर मजदूर अपनी सुविधानुसार उसे तैयार करेंगे; कौन-कौन या कितने मजदूर काम करते हैं, या किस समय से किस समय तक काम करते हैं—ऐसी बातों से मालिकों को कोई मतलब नहीं!

(३) मकान आदि बनाने के जिस उद्योग में बहुत पूँजी या कीमती मशीनों की जरूरत न हो, उन्हें मजदूर स्वयं ही करेंगे, उनमें मालिकों का कुछ सम्बन्ध न रहेगा।

अराजवाद—अराजवाद से हमारा मतलब अराजकतावाद से नहीं है,

जिसका अर्थ होता है अव्यवस्था, उच्छृङ्खलता, नियमहीनता आदि। अराजवादियों का यह लक्ष्य नहीं होता कि समाज में कोई व्यवस्था न रहे, और आदमी बिलकुल मनमाना व्यवहार, उद्दंडता या उत्पात करे; इस लिए उन्हें अराजकतावादी कहना ठीक नहीं है। उनका उद्देश्य तो यही होता है कि समाज शासन के बन्धन से मुक्त रहे—जो शासन समाज में आर्थिक विषमता और अन्याय को कायम रखता है, और लोगों के असंतोष को बल-पूर्वक दमन करके उसे प्रकट होने से रोकता है। समय-समय पर राज्य के अत्याचारों या ज्यादतियों का अनुभव होने से उसके विरुद्ध आवाज उठती रही है। खासकर औद्योगिक उन्नति या कल-कारखानों की वृद्धि के कारण पूंजीवाद के बढ़ने पर, और राज्य द्वारा पूंजीवाद का समर्थन होने पर राज्य-संस्था का विरोध बढ़ता गया। धीरे-धीरे ऐसी विचार-धारा उत्पन्न हुई कि राज्य एक हानिकर वस्तु है, इसकी आवश्यकता सिर्फ इस लिए है कि आदमी में लोभ, मोह, अहंकार, काम-क्रोध आदि दुर्भावनाएँ हैं, और सामाजिक जीवन के लिए इनका नियंत्रण होना चाहिए? आदमी अभी अपूर्ण और अविकसित है। इस लिए मौजूदा हालत में राज्य को स्वीकार तो किया जा सकता है; लेकिन एक आवश्यक बुराई के रूप में। क्योंकि राज्य एक बुराई ही है, इसकी शक्ति कम-से-कम रहे, इसका कार्यक्षेत्र बहुत परिमित हो; शान्ति, सुव्यवस्था और जान माल की रक्षा के सिवाय उसे किसी बात से कुछ मतलब न रहे। ज्यों-ज्यों मनुष्य विकसित होता जायगा, राज्य को रखने की आवश्यकता कम होती जायगी। इस प्रकार सब से अच्छी सरकार वह है, जो शासन-कार्य सबसे कम करती है, और समाज की आदर्श अवस्था वह होगी, जिसमें राज्य की बिलकुल जरूरत न रहेगी।

अराजवादी विचारक—अराजवाद सिद्धान्त पहले-पहल खास तौर से विलियम गोडविन (१७५६-१८३४) ने उपस्थित किया था। इसका मत था कि आदमी स्वभाव से अच्छा होता है; अगर कोई बाहरी बाधा न हो वह पूर्णता प्राप्त कर सकता है। इसका आग्रह था कि राज्य को बीच में दखल न देना चाहिए, और समाज का उसकी इच्छानुसार संगठन होने देना ठीक है।

शिक्षा के काम में भी सरकारी हस्तक्षेप न हो। दंड-प्रथा उठा कर उसका काम समझाने-बुझाने से चलाना चाहिए। स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध उनकी इच्छानुसार हो। सम्पत्ति का वितरण इस तरह हो कि हरेक आदमी को उसकी आवश्यकतानुसार मिल जाय। गोडविन चरम सीमा का व्यक्तिवादी था। इसके सिद्धान्तों को इंगलैंड में लोगों ने विशेष मान्य नहीं किया। हाँ, योरप के दूसरे देशों के कुछ विचारकों ने उन्हें अच्छी तरह अपनाया। प्राउधन (१८०६-१८६५) ने अराजवादी विचारों का अच्छी तरह विश्लेषण किया और इन्हें व्यावहारिक रूप दिया। उसका कथन है कि निजी सम्पत्ति न्याय में बाधक है, उससे सामाजिक असमानताएँ पैदा होती हैं, और सरकार आवश्यक हो जाती है। सम्पत्ति और सरकार दोनों अवैध हैं, दोनों का अन्त हो जाना चाहिए। उसका यह भी विचार है कि एक व्यक्ति का दूसरे पर शासन करना घोर अन्याय है।

इन विचारों का पीछे बकुनिन (१८१४-१८७६) ने विकास किया। इसका जन्म रूस में हुआ था। कई देशों की सरकारों द्वारा इसे बड़ी-बड़ी तकलीफें उठानी पड़ी थीं। पर इसकी क्रान्तिकारी भावना का दमन न हुआ, बल्कि इसके मन में राज्य या सरकारों के प्रति विरोध बढ़ता गया। यह अपने अराजवाद-सिद्धान्त की अच्छी तरह व्याख्या, टीका और प्रचार नहीं कर सका था कि सन् १८७६ में इसका देहान्त हो गया। लेकिन इसके सिद्धान्त ने दूसरे विचारशीलों को अपनी ओर आकर्षित किया और उन्होंने उसकी व्याख्या करके उसका विकास किया। ऐसे विद्वानों में प्रिंस क्रोपोटकेन का नाम खास तौर से जिक्र करने योग्य है।

अराजवाद और मार्क्सवाद—बकुनिन कार्ल-मार्क्स के समय में हुआ। वह उससे सिर्फ परिचित ही न था, बल्कि उसकी योग्यता और विद्वता को भली भाँति मानता था। तो भी दोनों के सिद्धान्तों में बहुत मत-भेद था। मार्क्स की कल्पना में समाज का जो चित्र था, उसमें राजसत्ता का भी स्थान था; हाँ, वह राजसत्ता को लोकसत्ता के आधार पर स्थापित करना चाहता था। उसका कथन था कि समाज से राजसत्ता को हटा देने से ही आर्थिक

विषमता या शोषण का अन्त नहीं हो जायगा। इसलिए राज्य को हटाने के बजाय उसका संगठन इस तरह किया जाना चाहिए कि समाज में श्रेणी भेद न रहे, और एक श्रेणी का दूसरी के द्वारा शोषण न हो सके। इसके विरुद्ध, बकुनिन राजसत्ता का पूर्ण विरोधी था, उसे किसी भी तरह के शासन को समाज-व्यवस्था में स्थान देना सहन न था।

अराजवादियों का मत है कि राज्य का आधार बल-प्रयोग है, इसलिए समाज से शासन-प्रणाली उठा दी जानी चाहिए; बिना शासन के भी समाज में सुव्यवस्था रह सकती है। इसके लिए मौजूदा ढंग की पुलिस या कानूनों की जरूरत नहीं है; इनके द्वारा बल-प्रयोग होता है, और वैयक्तिक स्वतन्त्रता पर आघात पहुँचता है।

अराजवाद और अन्य समाजवाद—समाज के आर्थिक संगठन के सम्बन्ध में अराजवादियों का मत अन्य समाजवादियों से कुछ-कुछ मिलता है। दोनों का मत है कि उत्पत्ति के साधनों पर सब लोगों का अधिकार समान रूप से होना चाहिए। लेकिन अराजवादियों का मत है कि काम करने के लिए किसी को मजबूर न किया जाय। आदमी स्वभाव से ही काम करना पसन्द करता है। यदि संयोग से कभी कोई आदमी काम न करे तो भी उसे पैदावार या तैयार माल में से हिस्सा मिलना चाहिए। इस बात में अन्य समाजवादी सहमत नहीं हैं, क्योंकि उनके अनुसार तो हरेक आदमी को काम करना ही चाहिए, और जो आदमी काम न करे, उसे उत्पन्न पदार्थों में कुछ हिस्सा भी न मिलना चाहिए।

अराजवादी भी निजी पूंजी का विरोध करते हैं, लेकिन अन्य समाजवादियों का मत है कि जब राज्य ही सब पूँजी का मालिक होगा तो उस पूँजी से सभी को लाभ पहुँचेगा, एक वर्ग दूसरे का शोषण न कर सकेगा। इसके विरुद्ध, अराजवादियों का कथन है कि जिस तरह बड़ा पूँजीपति साधारण आदमियों का शोषण करता है, इसी तरह राज्य भी पूँजीपति हो जाने पर

समाज के व्यक्तियों पर अत्याचार कर सकेगा। इसलिए वे राज्य का रहना ही अनुचित समझते हैं।

समाजवाद आन्दोलन से लाभ—समाजवाद आन्दोलन पूँजीवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी। इसके द्वारा मजदूरों को कल-कारखानों के मालिकों के अत्याचारों से, और किसानों को जागीरदारों और जमीदारों की ज्यादतियों से बहुत राहत मिली। कई देशों में मजदूरों और किसानों ने संघ बना कर अपनी मांगें उपस्थित कीं और वे किसी न किसी रूप में स्वीकार की गयीं, अथवा कम से कम उन पर गम्भीरता और सहानुभूति-पूर्वक विचार किया जाने लगा। इस आन्दोलन से जनता में त्याग, प्रेम और संगठन की भावना बढ़ी तथा उसमें जागृति हुई। आदमियों को यह सोचने की प्रेरणा मिली कि समाज में सभी की आवश्यकताएँ पूरी करने की ओर ध्यान दिया जाए। लोगों को सामूहिक उन्नति के लिए एक दूसरे की सेवा और सहायता करनी चाहिए।

समाजवाद में बताये जानेवाले गुणों की आलोचना—यह होते हुए भी इस अर्थ-व्यवस्था की जो प्रशंसा की जाती है, उसमें प्रायः बहुत अत्युक्ति होती है, उसमें दूसरे पहलू का विचार नहीं किया जाता। उदाहरण के लिए कुछ बातों का विचार करें—

१—यह कहा जाता है कि इस व्यवस्था से उत्पादन का राष्ट्रीकरण हो जाने से उसमें केन्द्रीकरण के दोष नहीं रहते, और उत्पादन बड़े पैमाने पर हो ही जाता है।

यह कथन ठीक नहीं है। उत्पादन का राष्ट्रीकरण हो जाने पर भी उसमें केन्द्रीकरण की बुराइयाँ रहती हैं। जैसा कि श्री धीरेन्द्र मजूमदार ने लिखा है, इससे 'जनता की मौलिक जिन्दगी केन्द्रीय व्यवस्था की मुट्ठी में रहेगी। चाहे वह मुट्ठी किसी वर्ग की हो, चाहे किसी मजबूत दल की। अगर पूँजीपतियों के हाथ में उत्पादन के साधन होंगे तो देश में होगी बनियाशाही; और अगर सरकार के हाथ में चले गये तो मुल्क पर होगी नौकरशाही।

दोनों से ही अधिनायकवाद की सृष्टि होगी; सिर्फ एक पर लेवल रहेगी फासिस्टवाद की और दूसरे पर रहेगी समष्टिवाद की। पूँजीवादी अधिनायक-तंत्र में जहाँ जनता शोषित होगी वहाँ समष्टिवादी अधिनायक-तंत्र में वह निर्दलित होगी। *

२—यह कहा जाता है कि इस व्यवस्था से यंत्रों का उपयोग कुछ व्यक्तियों के लिए न रख कर, राज्य के वास्ते होने दे कर उनकी बुराई से बचा जाता है, और यथेष्ट लाभ उठा लिया जाता है।

बड़े-बड़े विशाल यंत्रों के उपयोग से उद्योगों का केन्द्रीकरण होता ही है। ग्रामोद्योगों का और उनके साथ ग्राम-जीवन का नाश होता है, शहरों की वृद्धि होती है; कृत्रिमता, विलासिता, फैशन और शौकीनी बढ़ती है; स्वास्थ्य और मानसिक शान्ति का ह्रास होता है। व्यक्ति की स्वतंत्रता और विकास में बाधा होती है।

३—यह कहा जाता है कि इस व्यवस्था से जनता की मूल आवश्यकताओं की तो पूर्ति होती ही है, उसकी उत्तरोत्तर बढ़ने वाली कृत्रिम आवश्यकताओं की पूर्ति का भी प्रयत्न होता रहता है; इस प्रकार लोगों के रहन-सहन का दर्जा ऊँचा होता जाता है।

कृत्रिम तथा भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का जितना अधिक प्रयत्न किया जाता है, उतना ही वे और अधिक बढ़ती है, और जब तक उन्हें पूरा करने की स्थिति आती है, उससे पहले ही कुछ नयी आवश्यकताएँ उपस्थित हो जाती है। इस प्रकार मनुष्य का असन्तोष मिटने नहीं पाता, वह क्रमशः बढ़ता ही रहता है और जीवन को दुखमय बनाने वाला होता है। रहन-सहन के दर्जे की अपेक्षा जीवन का स्तर ऊँचा होना चाहिए; और इसके लिए सेवा, सहयोग, और सादगी की जरूरत होती है।

४—उत्पादन के साधनों पर राज्य का अधिकार होने से राज्य के सब आदमियों को लाभ होता है, किसी का शोषण नहीं होता, आर्थिक विषमता नहीं रहती।

---

* 'आजादी का खतरा'

समाजवादी व्यवस्था में, जनता में आर्थिक विषमता का अभाव नहीं होता। और, यदि राज्य के लोगों का शोषण न भी हो तो बाहर के आदमियों के शोषण की सम्भावना तो बनी ही रहती है। कल कारखानों से जो माल देश की आवश्यकता से अधिक बनाया जाएगा, उसे ऐसे देशों में मुनाफे से बेचा जाएगा जो औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए हों। इस प्रकार अपने देश के आदमियों को लाभ पहुँचाने के लिए दूसरे अविकसित देशों की जनता को अपना शिकार बनाया जाता है। फिर, क्योंकि इन अविकसित देशों पर दूसरे राष्ट्रों की भी निगाह होसकती है, इससे जुदा-जुदा समाजवादी राज्यों का आपस में तनाव और मनोमालिन्य रहता है, जो समय पाकर युद्ध ही नहीं महायुद्ध का रूप धारण कर सकता है। समाजवादी राज्य विध्वंसकारी साम्राज्यवाद से मुक्त नहीं होते।

समाजवाद की खास कमी—समाजवाद की एक खास त्रुटि या कमी यह है कि यह मनुष्य को समाज रूपी यंत्र के एक पुर्जे के तौर पर देखता है। यह उसके व्यक्तित्व को कुछ महत्व नहीं देता; वैयक्तिक स्वतंत्रता को इसमें कोई स्थान नहीं है। यह इस बात को भुला देता है कि व्यक्ति समाज का अंग होते हुए भी एक स्वतंत्र इकाई है, जिसे आत्म-विकास का यथेष्ट अवसर मिलना चाहिए। पूंजीवाद ने मनुष्य को सामाजिक उत्तरदायित्व से उदासीन या विमुख किया तो समाजवाद ने समाज का ऐसा रूप सामने रखा जिसमें व्यक्ति सर्वथा उपेक्षणीय है। फिर, समाजवाद में अर्थव्यवस्था केन्द्रित होती है उससे जनतंत्र या लोकतंत्र का ठीक मेल नहीं बैठता, भले ही वह केन्द्रित शक्ति किसी खास व्यक्ति के हाथ में न होकर राज्य के हाथ में हो।

समाजवाद का प्रयोग—समाजवाद का प्रयोग सबसे पहले रूस में हुआ पर अब वहां की व्यवस्था को साम्यवादी कहा जाता है। उसके बारे में आगे लिखा जायगा। इस समय समाजवादियों के रूप में खासकर इंग्लैंड का मजदूर दल सामने आता है। वह वैधानिक आन्दोलन में विश्वास करता है। पार्लिमेंट में उसकी शक्ति बढ़ती रही है, यहाँ तक कि वह अजेय बहुमत

में रह कर सत्ताधारी हो चुका है। परन्तु वह अपने समाजवादी कार्यक्रम को अमल में लाने का यथेष्ट साहस नहीं कर हा है। उसके नेताओं तथा शासक-संस्थाओं पर पूंजीपतियों का प्रभाव बना है। अगर मजदूर दल सच्चे दिल से समाजवादी कार्यक्रम को अमल में लाए तो एक ओर तो इंगलैंड की आर्थिक विषमता दूर हो, और दूसरी ओर इंगलैंड का साम्राज्यवाद समाप्त हो कर उसके सब अधीन प्रदेश स्वतंत्र हो जाएँ।

समाजवाद और पूंजीवाद की मिली जुली व्यवस्था—यद्यपि सिद्धान्त से समाजवाद और पूंजीवाद आपस में विरोधी है, इन दोनों का ही रूस के साम्यवाद से संघर्ष है। इस लिए है पूंजीवादी अमरीका और समाजवादी कहा जा सकने वाला इंगलैंड दोनों अन्तराष्ट्रीय मामलों में बहुत-कुछ साथ है। फिर, पूंजीवाद आर्थिक विषयों में लोकहित की दृष्टि से राज्य के हस्तक्षेप को स्वीकार करने लग गया है। अब संसार के कई देशों में न तो शुद्ध पूंजीवादी व्यवस्था है, और न शुद्ध समाजवादी ही, वरन् कुछ-कुछ दोनों की मिली जुली व्यवस्था है। पूंजीवाद के लिए अधिक समय तक जीवित रहना सम्भव नहीं है, इसलिए वह क्रमशः समाजवाद की ओर बढ़ कर अपनी उम्र बढ़ाने का यत्न कर रहा है। पर उसे तो समाप्त ही होना है, समाजवाद का आश्रय उसे चिरंजीवी नहीं बना सकता।

भारत में समाजवाद—आधुनिक समाजवाद का जन्म यूरोप में हुआ, पर कोई विचारधारा किसी विशेष क्षेत्र में सीमित नहीं रहती। खासकर जब भारत का पश्चिम से बहुत सम्पर्क है, समाजवाद का यहाँ आना अनिवार्य था। सर्वश्री सुभाषचन्द्र बोस, जवाहरलाल नेहरू, आचार्य जयप्रकाश नारायण और नरेन्द्रदेव आदि इसके प्रबल समर्थक रहे, हैं। भारत के स्वतंत्र होने तक समाजवादी दल ने कांग्रेस के साथ मिलकर काम किया, जो बहुत कुछ म० गांधी के नेतृत्व में काम करती थी, और जिसके नेता प्रायः 'गांधीवादी' समझे जाते थे। सन् १६४७ से भारत के स्वतंत्र हो जाने पर समाजवादी दल

चलाने लगा तो उसके हाथ का वल सहस्रों गुना वढ़ गया। इसी तरह पावों की वात है। आदमी की टांगे ऐसी मजबूत न थीं, जैसी घोड़े या हिरन की होती हैं। वह मछली की तरह तैर भी नहीं सकता था। आदमी ने अपने लिए मानो कृत्रिम या वनावटी पैर वना लिए। मोटर, रेल और किश्ती या जहाज़ से वह खुश्की और तरी पर इतना तेज चल सकता है कि अव उसकी टांगे कमजोर होने का सवाल ही नहीं उठता।

आदमी के, पक्षियों की तरह पर नहीं थे, जिनसे वह उड़ सके, पर अव आदमी हवाई जहाज में वैठकर इतना तेज उड़ सकता है कि कोई पक्षी उसक मुकावला नहीं कर सकता। समाचार या संदेश भेजने में भी गजव की उन्नति हुई है। इच्छा होते ही विजली के जरिये हजारों लाखों मील दूर संदेश भेजा जा सकता है।फिर, आदमी अव वात-चीत करता है। वह जानवरों की तरह चिल्लाने वाला या कुछ इशारा करनेवाला नहीं रहा।

इस तरह आदमी ने हर प्रकार से अपनी उन शारीरिक कमियों को पूरा कर लिया, जो उसमें जानवरों के मुकावले थीं। यहीं नहीं, अव वह कई एक वातों में जानवरों को पीछे छोड़ आया है और वहुत आगे वढ़ गया है। यह सव इसलिए हो सका है कि उसमें उनकी अपेक्षा कुछ विशेषताएँ हैं। वह अपना विकास कर सकता है, पशुओं में वह वात नहीं है।

इसका प्रभाव—अपनी वुद्धि से काम लेते रहने के कारण, आदमी का दिमाग क्रमशः वढ़ता गया है। उसे अव शारीरिक शक्ति की आवश्यकता कम रह गयी। इसका प्रभाव उसके शरीर और प्रकृति पर पड़ा। उसने सर्दी-गर्मी से वचने के लिए मकान वनाये और पेड़ों की छाल या जानवरों के खाल की पोशाक वनायी। इससे उसे अपने शरीर पर वालों की जरूरत न रही और वे धीरे-धीरे कुछ पीढ़ियों में उड़ गये। आदमी ने जङ्गली जानवरों से वचने और उनका शिकार करने के लिए हथियार वनाये, तो वड़े-वड़े और मजबूत नाखूनों की जरूरत न रही, इसलिए वे छोटे और कमजोर होने लगे। इसी तरह आदमी के दूसरे अंगों में भी परिस्थति के अनुसार परिवर्तन होता रहा। यह अनुमान

ने कांग्रेस से अलग हो जाना उचित समझा। सरकार बनी कांग्रेस दल की, क्योंकि उसका देश में बहुमत था। पर कांग्रेस-नेताओं ने अपने ऊपर 'गांधीवादी' होने का दायित्व नहीं लिया, और न वे महात्मा जी के कई सिद्धान्तों का पालन ही कर सके। कुछ समाजवादी नेता कांग्रेस सरकार में बने रहे, और अब भी हैं। समय-समय पर यह प्रयत्न हुआ है कि कांग्रेस और समाजवादी दल मिल जाएँ, पर अभी वह सफल नहीं हुआ। इसका मुख्य कारण यही है कि यद्यपि भारत के प्रधान मंत्री जो कांग्रेस के अध्यक्ष भी हैं, समाजवादी हैं,वे और खासकर उनका दल समजवाद के कार्यक्रम को उतनी तेजी से कार्य-रूप में परिणत करने को तैयार नहीं, जितनी तेजी से समाजवादी नेता चाहते हैं।

चौदह सूत्री कार्यक्रम—मार्च १९५३ में प्रजा-समाजवादी दल* के नेता श्री जयप्रकाश नारायण ने श्री नेहरू से वार्तालाप करने के प्रसंग में नीचे लिखे चौदह सूत्र वाले कार्यक्रम का प्रस्ताव किया था—

(१) विधान में संशोधन जिससे कि (क) समाज सुधार के मार्ग में आने वाले अवरोध हटाये जा सकें, (ख) राजाओं और उच्च पदस्थ राजकीय अधिकारियों (सिविल सर्विस) को दिये गये विशेष वैधानिक आश्वासन समाप्त किये जा सकें,और (ग) दूसरे सदनों की प्रथा समाप्त की जा सके।

(२)—(क) प्रशासन के समस्त विभागों में सुधार, जिसमें राजसत्ता और प्रशासनाधिकार का विकेन्द्रीकरण भी शामिल है, (ख) कानून तथा कानूनी प्रक्रिया में सुधार, (ग) भ्रष्टाचार समाप्त करने के लिए तात्कालिक प्रभावकारी यंत्र।

(३)—(क) भाषा तथा आर्थिक और प्रशासकीय सुविधाओं के आधार पर भारत के प्रशासकीय मानचित्र का पुनर्वर्गीकरण और संसद द्वारा उपर्युक्त सिद्धान्तों के आधार पर तत्सम्बन्धी विवरण तैयार करने के

* समाजवादी दल में किसान-मजदूर-प्रजा दल के मिलने से उसका नाम प्रजा-समाजवादी दल हो गया।

लिए एक कमीशन (आयोग) की नियुक्ति, (ख) क्षेत्रीय राज्यपालों, उक्त न्यायालयों तथा अन्य उच्चस्तरीय न्यायाधिकारियों और जन-सेवा आयोगों (पब्लिक सर्विस कमीशनों) की स्थापना द्वारा प्रशासकीय व्यय में कमी करना।

(४)—(क) आर्थिक असमानता और शोषण समाप्त करने के लिए भूमि का पुनर्वितरण। इस प्रकार की सभी योजनाओं में गरीब किसानों और खेतिहर मजदूरों को विशेष-सुविधाएँ दी जाएँ, (ख) सभी प्रकार की बेदखली फौरन बन्द की जाए, (ग) भूमि का पृथक्करण रोक कर चकबन्दी के लिए आवश्यक कानून बनाये जाएँ। (घ) जमींदारी के अवशिष्ट चिह्न भी समाप्त किये जाएँ, (ङ) अनिवार्य बहुधन्धी सहकारी संस्थाओं के संघटन द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में सहकारी आर्थिक प्रणाली का विकास किया जाए, (च) राज्य की ओर से कृषकों को बहुधन्धी समितियों के माध्यम से आर्थिक सहायता दी जाए, (छ) जहां तक सम्भव हो राज्य की ओर से किसानों को सहकारी संस्था या पंचायत के आधार पर सहायता दी जाए। लगान भी इसी सहकारी संस्था या पंचायत की ओर से वसूल किया जाए और उसका एक भाग ग्राम-पंचायत में ही जमा रहे।

(५) परती और बंजर भूमि जोत में लाई जाए और वहां भूमि-विहीन किसान बसाये जाएँ। पूँजी-प्रधान खेती के लिए यह जमीन न दी जाए।

(६) बैंकों और बीमा कम्पनियों का राष्ट्रीकरण किया जाय।

(७) सरकारी स्तर पर वाणिज्य व्यवसाय का क्रमिक विकास किया जाए।

(८) विभिन्न उद्योगों के चुने हुए यंत्रों का संचालन राज्य, सहकारी संस्थाओं अथवा मजदूर-परिषदों की ओर से किया जाए और वहाँ राजकीय अध्यवसायों के लिए यंत्र-विशेषज्ञों तथा मेनेजरों आदि को उचित शिक्षा दी जाए।

(९) संयुक्त ट्रेड यूनियन आन्दोलन का संघटन जिससे कि ये यूनियनें समाज की जिम्मेदार एजन्सियों के रूप में सक्रिय हो सकें।

(१०) कोयला तथा अन्य महत्वपूर्ण खानों का राष्ट्रीकरण।

(११) राज्य द्वारा संचालित उद्योगों के प्रबन्ध में मजदूरों को भी भागीदारी मिले।

(१२) बड़े पैमाने और छोटे पैमाने के उद्योगों के कार्यक्षेत्रों का निर्धारण और छोटे उद्योगों को उचित प्रोत्साहन।

(१३) देश में आर्थिक समानता लाने के प्रारम्भिक प्रयत्न के रूप में उच्चाधिकारियों का वेतन कम किया जाए।

(१४) स्वदेशी भावनाओं को प्रोत्साहित किया जाए और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इसकी प्रधानता हो।

कार्यक्रम सम्बन्धी विचार—यद्यपि इस कार्यक्रम के आधार पर प्रजा समाजवादी दल और कांग्रेस में समझौता नहीं हुआ, दोनों में इस पर बहुत मत-भेद नहीं है। श्री जयप्रकाश नारायण ने कहा है कि सहयोग के लिए निर्धारित समय के अन्दर निश्चित कार्य किया जाना चाहिए, वे अगले चार साल लिए उपर्युक्त कार्यक्रम को प्राथमिकता देते हैं। श्री नेहरू ने कहा है कि मुझे इस कार्यक्रम पर कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु प्रधान मन्त्री अथवा कांग्रेस-अध्यक्ष की हैसियत से इन महत्वपूर्ण प्रश्नों पर कोई आश्वासन नहीं दे सकता; समान समस्याओं पर हम समयानुसार विचार करते रहेंगे। इससे भारतीय समाजवादी नेताओं के विचार तथा इस विषय में सरकार और कांग्रेस के दृष्टिकोण का स्थूल परिचय मिल जाता है।

इस कार्यक्रम में समाजवादी केन्द्रीकरण की तरफ झुकाव अधिक है और सर्वोदय के विकेन्द्रीकरण, ग्रामोद्योगों, ग्राम-पंचायतों और ग्राम-राज की ओर कम। तथापि इसमें गांधी जी और विनोबा की विचारधारा का प्रभाव स्पष्ट है।

विशेष वक्तव्य—समाजवाद का ध्येय समाज तथा राज्य की ऐसी व्यवस्था करना है जिसमें कोई दूसरे का शोषण न करे अर्थात् हिन्सा का कोई स्थान न रहे। पर जब समाजवादी राष्ट्रों में, आदमियों की

आर्थिक स्थिति में घोर विषमता रहने दी जाती है, युद्ध-सामग्री पर अपार द्रव्य खर्च किया जाता है और बड़ी-बड़ी सेनाएँ रख कर साम्राज्य की रक्षा की जाती है तो अनेक आदमियों का समाजवाद से असन्तुष्ट होकर किसी दूसरी ओर कल्याण की खोज करना स्वाभाविक ही है। कुछ लोगों का साम्यवाद की ओर आकर्षण है, और कितनों ही को आशा की किरण एकमात्र सर्वोदय में मिलती है। श्री जयप्रकाश नारायण आदि विचारकों का मत है कि सर्वोदय ही सच्चा समाजवाद है, इस विषय में आगे लिखा जाएगा।

छियालिसवाँ अध्याय

साम्यवाद

—:o:—

यह खुशी की बात है कि रूसी और चीनी सरकारों ने थोड़े ही समय में अपने गरीब लोगों की भौतिक हालतों में काफी सुधार कर डाला है, और इसके लिए अवश्य उनकी प्रशंसा की जानी चाहिए। लेकिन इस चीज के आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक पहलू को नहीं भुलाया जा सकता। यह याद रखना चाहिए कि निर्दय और कठोर हिंसा ही उसका साधन रही है।

—किशोरलाल मश्रूवाला

साम्यवाद क्या है—पहले साम्यवाद को समाजवाद का ही एक भेद माना जाता था, और यह ठीक भी है कि इसका जन्म उसी से हुआ है, यह उसका ही बदला हुआ स्वरूप है। तथापि यह उससे इतना बदल गया है कि अब इसे उससे अलग एक जुदा दर्शन ही समझा जाता है। यह एक प्रगतिशील वाद है, देश काल के अनुसार इसकी रूप रेखा बदलती रही है। आधुनिक काल में इसके सिद्धान्तों का सूक्ष्म विवेचन पहले कार्ल मार्क्स ने किया। पीछे यह और विकसित हुआ। आरम्भ में यह कल्पना-रूप ही था।

लेनिन ने इसके बीज को अंकुरित किया। स्टेलिन ने इसकी पुष्टि की। इस समय यह सबसे अधिक स्टेलिन से प्रभावित है; और मार्क्स, लेनिन तथा स्टेलिन इसके विशाल मन्दिर की त्रिमूर्ति हैं। इसकी अनेक परिभाषाएँ की गयी हैं, और उन परिभाषाओं की तरह-तरह की आलोचनाएँ और प्रत्यालोचनाएँ भी हुई हैं, तथा होती रहती हैं स्थूल रूप से यह कहा जा सकता है कि साम्यवाद समाज में आवश्यक परिवर्तनों द्वारा आर्थिक तथा राजनैतिक असमानता को दूर करने और समानता स्थापित करने की पद्धति है। यह ऐसा समाज-संगठन है, जिसमें उत्पादन का स्वामित्व व्यक्तिगत मनुष्यों के हाथ में न रह कर जनता अर्थात् सरकार के हाथ में रहेगा। प्रत्येक आदमी अपनी योग्यता के अनुसार काम करेगा, और अपनी आवश्यकता के अनुसार पदार्थ पाएगा।

समानता की भावना—मनुष्य-समाज का प्रारम्भिक रूप आम तौर से साम्यवादी ही माना जाता है। उस समय लोगों में निजी स्वामित्व या मिलकियत का विचार न था, अमीर-गरीब का, शासक-शासित का भेद-भाव न था। भारत के प्राचीन साहित्य में समानता और दान-पुण्य का खूब विवेचन है। यूनान के दार्शनिक प्लेटो (अफलातून) ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'रिपबलिक' में समानता वाले समाज का ही चित्रण किया था; उसकी बातें बहुत कुछ कल्पना-जगत की ही रहीं, यह दूसरी बात है। पशु-पालन और खेती का आरम्भ हो जाने पर समाज में पारिवारिक और वैयक्तिक सम्पत्ति जमा करने की प्रथा चली, तब से गरीब-अमीर की बात पैदा हुई। गुलामी जारी होने पर असमानता और अधिक बढ़ी। इसके बाद सामन्तवाद आया। इसने असमानता को नये रूप में बनाये रखा। पहले मालिक और गुलाम का श्रेणीभेद था, अब सामन्त और रैयत का हो गया। तथापि औद्योगिक विकास से पहले शोषण बहुत सीमित ही हो सकता था; कारण उस समय आदमी की उत्पादन-शक्ति परिमित थी, फिर मालिक और सामन्त को यह विचार रखना पड़ता था कि गुलाम और रैयत जिन्दा रहें, इनके मर जाने से उनका

अपना नुकसान था। इसलिए उन्हें इनके पालन-पोषण के लिए आवश्यक पदार्थ देने पड़ते थे।

शोषण की वृद्धि, उसके निवारण का विचार—औद्योगिक विकास के बाद, अर्थात् पूंजीवादी व्यवस्था में, शोषण पहले की तरह सीमित न रहा। अब मशीन की सहायता से उत्पादन बहुत अधिक हो सकता है और इस लिए पूंजीपति मजदूरों से माल की पैदावार बहुत करा सकता है। साथ ही वह उन्हें निर्धारित वेतन देने के बाद उनकी बीमारी या जीने-मरने आदि के बारे में निश्चिन्त रहता है। इससे मजदूरों का कष्ट और असन्तोष बढ़ता गया। आन्दोलन हुआ। कुछ सुधार-कानून बने। पर उनसे यथेष्ट लाभ न हुआ। धीरे-धीरे पूंजीवादी व्यवस्था के प्रति विचारकों का विरोध बढ़ता गया। उनके विचारों से पीछे जाकर धीरे-धीरे समाजवाद की उत्पत्ति और विकास हुआ।

समाजवाद से पहले, सुधारकों ने समाज-व्यवस्था सम्बन्धी जिस विचार-धारा का प्रचार किया था, उसका आधार खासकर धर्म था; उसे हम 'धार्मिक साम्यवाद' कह सकते हैं। उसका रूप यह था कि धनवान या अमीर लोग गरीबों पर दया करें, और दान-धर्म आदि से उनकी सहायता करते रहें। अठारहवीं सदी के आखिरी हिस्से में लोगों का ध्यान इस ओर जाने का खास कारण यह था कि इस समय कल-कारखानों के बढ़ने से जनता में आर्थिक असमानता या विषमता से होनेवाली तकलीफें बहुत बढ़ गयी थीं।

धार्मिक साम्यवाद का सूत्रपात पहले फ्रांस और इंगलैंड में हुआ। फ्रांस का पहला मुख्य साम्यवादी विचारक सेंट साइमन था। यह सन् १७६० में पैदा हुआ था। उसने धनवानों या कारखाने वालों को मज़दूरों से दया और सहानुभूति का व्यवहार करने का उपदेश दिया। उसका मत था कि समाज की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि हर एक आदमी को जीवन-निर्वाह का समान अवसर मिले; पैदावार का प्रबन्ध सरकार करे, और सरकार का संगठन ईसाई धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार हो। इस विचारधारा का आधार मनुष्यों की सहृदयता थी आर्थिक संगठन नहीं। सेंट साइमन को कुछ सफलता मिली,

पर वह स्थायी नहीं थी। हाँ, पीछे इसके शिष्यों ने धीरे-धीरे इस ओर कदम बढ़ाया।

इंगलैंड में भी 'धार्मिक साम्यवाद' का प्रचार इसी समय हुआ। वहाँ पहला मुख्य साम्यवादी रावर्ट ओवन (१७७१-१८५८) था। यह कपड़े की मिल का मेनेजर और हिस्सेदार रहा था, और इसने खूब रुपया कमाया था। कारखानों और व्यापार से बहुत सम्बन्ध रखने के कारण इसे मजदूरों की हालत का प्रत्यक्ष अनुभव था; और इसने उसे सुधारने की जी-तोड़ कोशिश की, अपना बहुत रुपया खर्च करके उनके लिए स्कूल खोले, अच्छी बस्तियाँ बसाई, मज़दूरों को अच्छा तथा बढ़िया सामान करीब-करीब लागत मूल्य पर देने की व्यवस्था की। इस तरह के लोकसेवा या परोपकार के कामों में उसे अच्छी सफलता मिली। पर उसके कार्यों का मूल, फ्रांस के सेंट साइमन की तरह, गरीबों के प्रति दया और सहानुभूति ही थी। धीरे-धीरे लोगों के ध्यान में यह बात आने लगी कि दान-धर्म प्राचीन काल में और सामन्त युग में भी चाहे जितना उपयोगी रहा हो, अब ऐसी भावुकता से मजदूरों की हालत में विशेष व्यापक और स्थायी सुधार नहीं हो सकता। इसके लिए आर्थिक विषमता के मूल कारणों पर विचार होना चाहिए और साम्यवादी समाज-व्यवस्था स्थापित की जानी चाहिए।

आधुनिक साम्यवाद का प्रादुर्भाव—आधुनिक साम्यवाद का जन्मदाता या प्रथम आचार्य कार्लमार्क्स है। पर उसका स्थूल रूप सन् १९१७ की रूसी राज्यक्रांन्ति से सामने आया। वहाँ बहुत समय से असंतोष था। सन् १९०५ में रूस-जापान युद्ध से, जिसमें रूस की हार हुई थी, जनता को बहुत कष्ट उठाना पड़ा था। जार ने कुछ सुधार करके लोगों को संतुष्ट करना चाहा था, पर इसमें सफलता नहीं मिली। खासकर मजदूरों का आन्दोलन बढ़ता ही गया। क्रमशः उनमें दो दल हो गये; एक अल्पमत अर्थात् मेनशेविक, दूसरा बहुमत या बोलशेविक। मेनशेविकों का विचार था कि शान्ति से राजतन्त्र को समाप्त करके वैधानिक लोकतन्त्र की स्थापना की जाए। बोलशेविक, क्रान्ति करके राजनैतिक अधिकार प्राप्त करने के पक्ष में थे। यह दल

लेनिन के नेतृत्व में जोर पकड़ता गया। सन् १६१५ में पहला यूरोपीय महा-युद्ध आरम्भ हुआ, इसमें रूस भी शामिल हुआ। जनता का कष्ट और असंतोष अब और भी बढ़ गया। जार के विरुद्ध जोरदार आन्दोलन हुआ। १६१७ में बोलशेविकों ने जार को उसके परिवार सहित मार डाला और १६१८ में लेनिन की अध्यक्षता में समाजवादी सोवियट गणतन्त्र यूनियन (यूनियन आफ सोशलिस्ट सोवियट रिपब्लिक) की स्थापना की।

याद रहे कि रूस के संविधान में साम्यवादी (कम्यूनिस्ट) शब्द का प्रयोग नहीं होता। उनका कथन है कि साम्यवाद का अस्तित्व तो वर्ग-हीन समाज की स्थापना पर ही होगा, उस समय तक की व्यवस्था तो समाज-वादी ही है। इस विषय पर विशेष प्रकाश आगे डाला जाएगा। यह स्पष्ट है कि रूस सरकार अपने को साम्यवादी सरकार नहीं कहती। तथापि अन्य देशों में प्रायः उसे साम्यवादी ही कहा जाता है। साधारण समाजवादी व्यवस्था से उसकी भिन्नता सूचित करने के लिए हम भी उसके लिए साम्यवादी शब्द काम में ला रहे है।

साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना—रूस में इस व्यवस्था को कायम करने के लिए बहुत मारकाट और खून-खराबी हुई। जो लोग पूँजवादी रहे थे और पूँजीवाद से चिपटा रहना चाहते थे, उन्हें बिना किसी मुरव्वत या लिहाज के घोर अपराधी घोषित करके यथेष्ट दंड दिया गया। कितने ही स्त्री और पुरुष जो बहुत प्रतिष्ठित बने हुए थे, या तो स्वयं ही रूस की भूमि से चले आये, अथवा क्रान्तिकारियों के हाथों मौत के घाट उतारे गये। हाँ, क्रान्ति के बाद रूस ने वैध पद्धति से काम लिया। व्यवस्थापक सभाएँ बनीं, कानून द्वारा आय की समानता का सिद्धान्त मान्य किया गया। जनता के लिए भोजन, वस्त्र, शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरञ्जन आदि को जिन-जिन चीजों की जरूरत होती है, उन सब को पैदा करने या बनाने के लिए विचार-पूर्ण योजनाएँ तैयार की गयीं; और, लाखों आदमियों को काम में लगा कर उन्हें अमल में लाया गया।

परिस्थिति के अनुसार रूसी क्रान्तिकारियों को समय समय पर अपनी नीति बदलनी पड़ी। पहले उनका लक्ष्य था—'हर आदमी को उसकी आव-

श्यकताओं के अनुसार मिलना चाहिए।' पीछे उन्होंने यह सिद्धान्त अपनाया कि 'हर एक को उसके कार्य के अनुसार मिले।' अवश्य ही इस बात का ध्यान रखा गया कि राज्य के हर एक नागरिक को इतना योग्य बना दिया जाय कि उसे अपना जीवन-निर्वाह अच्छी तरह करने में बाधा न हो। रूस में 'आय की समानता' का आदर्श पूरे तौर पर हासिल नहीं किया गया है; कुछ दशाओं में अभी वहाँ काफी असमानता देखने में आती है। परन्तु वहाँ कोई आदमी भूखा नंगा नहीं है, कोई आदमी शिक्षा और स्वास्थ्य आदि के साधनों से वंचित नहीं है, कोई आदमी अपनी इच्छा के विरुद्ध दूसरों के स्वार्थ-साधन के लिए मेहनत मजदूरी करने को मजबूर नहीं है, हर एक पुरुष और स्त्री स्वाभिमान-पूर्वक जीवन बिताती है। हालाँकि खासकर पूँजीवादियों ने रूस की सामाजिक व्यवस्था पर तरह-तरह के आक्षेप किये हैं, और उसे बदनाम करने में कोई कसर नहीं उठा रखी, वहाँ की मौजूदा हालत की, एक ओर तो जारशाही के रूस से, और, दूसरी ओर इस समय के पूँजीवादी देशों से, तुलना करने पर यह स्पष्ट है कि साम्यवादी व्यवस्था में रूस ने कितनी उन्नति कर ली है। इसमें शक नहीं कि उसे अभी और भी मंजिलें तय करनी हैं। पर जितना काम किया गया है, वह उसके लिए गर्व का विषय है।

साम्यवादी कार्य-क्रम ; परिवर्तन-काल की व्यवस्था—साम्यवादियों के विचार से पूंजीवादी समाज में क्रान्ति हो जाने के बाद काफी समय तक संक्रमण या परिवर्तन-काल रहता है। इस समय साम्यवादी समाज स्थापित करने का काम होता है। क्रान्ति-विरोधी पूंजीपतियों या धर्माधिकारियों की खोज करके उन पर कड़ा नियन्त्रण रखा जाता है या उन्हें समाप्त कर दिया जाता है। इसके वास्ते पुलिस और फौज़ की यथेष्ट शक्ति रखनी आवश्यक है। मज़दूरों को अपने ही वर्ग की सत्ता स्थापित करनी होगी। शासन-प्रबन्ध में मज़दूरों की अधिनायकता या एकाधिपत्य ('डिक्टेटरशिप आफ प्रालिटेरियट') स्थापित की जाएगी, दूसरे वर्ग वालों को इसमें कोई भाग नहीं दिया

जाएगा। सब लोगों को श्रम करना होगा। पुराने पूंजीपतियों को शरीर-श्रम करने के लिए मज़बूर किया जाएगा। भाषण तथा लेखन-प्रकाशन आदि की स्वतन्त्रता न होगी; साम्यवाद के विरुद्ध कोई बात कही, लिखी या छापी जाएगी। साम्यवादी दल के अतिरिक्त दूसरा कोई दल न रहने पाएगा। बालकों को शिक्षा साम्यवादी विचारधारा के अनुसार दी जाएगी।

संक्रमण-काल में सारी पैदावार पर राज्य का अधिकार होगा; हाँ; वह लाभ के लिए न होकर जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होगा। प्रत्येक व्यक्ति को योग्यतानुसार काम करना होगा और उसे उसके कार्य के अनुसार दिया जाएगा, पर किसी को इतना कम न दिया जाएगा कि उसके भरण-पोषण के लिए काफी न हो। सारी पूंजी, रेल, बैंक आदि राज्य के अधिकार में रहेंगे और उन पर मज़दूरों का आधिपत्य रहेगा। कानून सर्व-साधारण के हित की दृष्टि से बनाया जाएगा, पूंजीपतियों के लाभ के लिए नहीं। इसमें धर्माधिकारियों का कोई लिहाज नहीं रखा जाएगा।

संक्रमण-काल की अवधि तब तक रहेगी, जब तक समाज बिल्कुल वर्ग-हीन और समान न हो जाए; जब तक किसी को दूसरे के शोषण की इच्छा होगी, और प्रत्येक वस्तु काफी मात्रा में उत्पन्न या तैयार न होगी। इस प्रकार रूस का समाज अभी संक्रमण अवस्था में है।

राज्य-हीन समाज—जब देश में कोई साम्यवाद-विरोधी न रहेगा और सब साम्यवादी व्यवस्था में विश्वास करने वाले ही होंगे तो संक्रमण-काल समाप्त हो जाएगा। प्रत्येक आवश्यक वस्तु यथेष्ट परिमाण में बनने लगेगी, फिर हरेक आदमी को उसके कार्य के अनुसार ही नहीं, उसकी आवश्कता के अनुसार दिया जाएगा। सब में भाईचारा होगा, न कोई अमीर-गरीब होगा, न कोई शोषक या शोषित होगा। कोई संघर्ष न होगा, किसी को दूसरे की वस्तु पर अधिकार जमाने की बात न रहेगी। झगड़ा या कलह न होगा। ऐसी दशा में राज्य की आवश्यकता न रहेगी। राज्य-हीन समाज का निर्माण हो जाएगा। इस प्रकार साम्यवाद की अन्तिम स्थिति अराजवाद है।

किया जाता है कि जब आदमी भविष्य में अपने अंगों से काम लेना और कम कर देगा और हर काम के लिए यन्त्र बनाने में बुद्धि लगाता रहेगा तो कभी ऐसा समय आना स्वाभाविक है, जब कि आदमी के हाँथ-पाँव आदि बहुत कमजोर होंगे, शरीर छोटा होगा और दिमाग या सिर बहुत बड़ा होगा। पाठकों ने ऐसे व्यंग्य चित्र देखे होंगे; अभी तो यह केवल कल्पन है; पर उसका सत्य हो जाना स्वाभाविक है।

बुद्धि के सहारे आदमी अपनी व्यक्तिगत उन्नति करने के अतिरिक्त अपना संगठन करता है, और सामाजिक उन्नति में योग देता है। यह ठीक है कि चीटियाँ, दीमक या शहद की मक्खियां आदि भी सङ्गठन-कार्य में बहुत कुशल हैं, परन्तु उनका संगठन जैसा सैकड़ों हजारों वर्ष पहले था, उसी तरह अब भी होता है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। उसके विपरीत, आदमी समय-समय पर अपने संगठन में प्रगति करता रहा है।

कोई-कोई जानवर किसी बात में इतना कुशल होता है कि आदमी को अपनी लाखों वर्ष की उन्नति के बाद भी उसे देख कर दङ्ग रह जाना पड़ता है। मिसाल के तौर पर सङ्गीत में कोयल का पंचम स्वर प्रसिद्ध है। आदमी अभी तक उसका मुकाबला नहीं कर सकता। हाँ, वह धीरे-धीरे आगे बढ़ता जा रहा है। निर्माण-कला की बात लें, जैसे घर बनाना, नगर-निर्माण, नहर, पुल और बांध बनाना आदि। जानवर अपनी ज़रूरतें पूरी करने के लिए इस तरह के कार्य प्राचीन काल से कुदरती तौर पर, बिना किसी यंत्र या औज़ार के, करते आ रहे हैं। शहद की मक्खियों, ततैयां, दीमक और चीटियों के घरों की रचना से यह साफ जाहिर है कि वे छोटे-छोटे होने पर भी उनमें जो कला है, और जिन सिद्धान्तों का उपयोग किया गया है, वे किसी प्रकार घटिया दर्जे के नहीं। एक तरह से इस विषय में जानवरों की श्रेष्टता सिद्ध होती है। परन्तु जैसा पहले कहा गया है, जानवर जहाँ हजारों लाखों वर्ष पहले थे, वहीं अब भी हैं, आदमी धीरे-धीरे तरक्की करता जा रहा है। सम्भव है किसी समय वह कलाओं में जानवरों की बराबरी कर सके, और उसके बाद शायद कभी ऐसा भी जमाना आ जाए, जब आदमी इन जानवरों से आगे बढ़ जाए।

रूसी बोलशेविकों ने राज्यहीन समाज का दूसरा ही अर्थ लगाया है। उनका कथन है कि साम्यवादी आचार्यों के मत से राज्य एक वर्गात्मक संस्था है जो दूसरे वर्गों को दबा कर रखती है। संक्रमण-काल के बाद केवल एक (मजदूर) वर्ग होगा। इसलिए दूसरे वर्गों को दबा कर रखने वाली संस्था के रूप में राज्य की जरूरत न रहेगी। पर कुछ अपराधी उस समय भी हो सकते हैं, उनका नियंत्रण करने की जरूरत होगी, फिर, सामूहिक जरूरतों की व्यवस्था करने का भी काम होगा। इस प्रकार के कार्य के लिए राज्य की आवश्यकता हमेशा बनी रहेगी। इसलिए संक्रमण-काल के बाद भी राज्य तो रहेगा, पर उसका रूप बदल जाएगा। वह दमन के सिद्धान्त पर नहीं, बल्कि जनता द्वारा उसके लाभ के ख्याल से उसकी इच्छानुसार व्यवस्था करने के लिए होगा।

विश्व-क्रान्ति का सिद्धान्त और उसका प्रयोग—साम्यवाद का लक्ष्य सम्पूर्ण संसार में वर्गहीन और राज्यहीन समाज स्थापित करना है। यही नहीं, उसके अनुसार ऐसे समाज की स्थापना किसी एक ही देश में नहीं हो सकती, और कुछेक देशों में हो जाने से भी वह स्थायी नहीं समझी जा सकती। इसलिए ऐसी व्यवस्था सारे संसार में कायम की जानी चाहिए, अन्यथा पूँजी-वादियों द्वारा उसके अस्त-व्यस्त किये जाने की आशंका है। जब तक किसी देश या कुछ देशों में पूँजीपति हैं, वे अपना सस्ता व्यापारिक माल साम्य-वादी देश में भेज कर, अथवा कच्चा या अन्य आवश्यक माल वहाँ भेजना बन्द करके उसके उद्योग-धन्धों को संकट में डाल सकते हैं। इसके अलावा वे उसपर सैनिक तथा सशस्त्र आक्रमण भी कर सकते हैं। इसलिए साम्यवाद की यथेष्ट सफलता के वास्ते उसका किसी एक देश या कुछ देशों में परिमित रहना काफी नहीं है, उसके प्रचार के लिए विश्वव्यापी क्रान्ति होनी चाहिए।

रूस की क्रान्ति (१९१७) को प्रेरणा सन् १८४८ की उस कम्युनिष्ट घोषणा से मिली थी, जिसका नारा था 'संसार भर के मजदूरों! एक हो जाओ।' लेनिन ने यह घोषणा की थी कि संसार की पद-दलित जनता रूस के विजयी किसानों और मजदूरों के नेतृत्व में विश्वक्रान्ति की ओर बढ़ेगी।

इसी उद्देश्य से तीसरे अन्तर्राष्ट्रीय कम्यूनिस्ट संघ ('थर्ड इन्टरनेशल') की स्थापना की गयी थी। इस तरह रूसी क्रान्ति के नेता अन्तर्राष्ट्रवादी थे; पर जब इस नीति को अमल में लाने का सवाल सामने आया तो वे एक-मत न हो सके। पूँजीपति और साम्राज्यवादी राष्ट्रों के सामने रूस की कमजोरी का अनुभव करके, स्टेलिन रूस में ही क्रान्ति की जड़ मजबूत करने के पक्ष में रहा। और, अन्तर्राष्ट्रीयता के सिद्धान्तों का समर्थक ट्राट्स्की रूस से भाग कर विदेशों में मारे-मारे फिरा, अन्त में उसे वहाँ ही अपने प्राण गँवाने पड़े।

सन् १६२७ से १६३३ तक रूस आत्म-रक्षा में लगा रहा, उसने किसी राष्ट्र पर हमला नहीं किया, और इसके बाद भी उसने चीन और स्पेन की अग्रगामी शक्तियों को मदद दी। लेकिन वह विश्वक्रान्ति की ओर नहीं बढ़ा, बल्कि यह कहा जा सकता है कि सन् १६४३ में तीसरे अन्तर्राष्ट्रीय कम्यूनिस्ट संघ को भंग करके, उसने विश्वक्रान्ति के विचार को तिलांजलि ही दे डाली। दूसरे महायुद्ध में भाग लेते समय उसने इस बात का आग्रह नहीं किया कि उसके साथी अपनी साम्राज्यवादी नीति को छोड़ दें और हरेक देश की स्वतंत्रता के सिद्धान्त को मान्य करें।

आधुनिक साम्यवाद से लाभ और उनकी असलियत— साम्यवाद से वे सब लाभ बताये जाते हैं, जो समाजवाद से समझे जाते हैं। पिछले अध्याय में 'समाजवाद की आलोचना' शीर्षक के अन्तर्गत यह लिखा जा चुका है कि समाजवाद होने से क्या-क्या लाभ दिखायी देते हैं और उनका दूसरा पहलू क्या है। वे सब बातें साम्यवाद के सम्बन्ध में भी लागू होती हैं।

इसके अतिरिक्त साम्यवाद में व्यक्तिगत स्वतंत्रता या व्यक्तित्व के विकास का महत्व नहीं माना जाता। ट्राट्स्की जैसे महापुरुष को मत-स्वातंत्र्य की कैसी कीमत चुकानी पड़ी, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। ऐसी दशा में लोकतंत्र से साम्यवाद का पूर्ण विरोध स्पष्ट ही है।

साम्यवाद और पूंजीवाद—साम्यवाद का प्रादुर्भाव पूँजीवाद के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया के रूप में हुआ, तथापि इसकी कार्यपद्धति और साधनों सम्बन्धी दृष्टिकोण पूँजीवाद के ही ढङ्ग के हैं। पूँजीवाद और साम्यवाद में दूसरे चाहे जो मतभेद और संघर्ष हों, किन्तु कुछ महत्व की बातों में दोनों के मन्तव्य एकसे ही हैं। उदाहरण के लिए, दोनों पूँजी और जमीन के केन्द्रीकृत नियंत्रण पर, और बड़े पैमाने की खेती और उद्योगों पर विश्वास करते हैं; और दोनों धन की अर्थव्यवस्था मानते हैं। दोनों यंत्रोद्योगों और सम्पत्ति (पूँजी, जमीन आदि) के पूजक हैं। उनका झगड़ा इस बात पर है कि पूँजी और यंत्रोद्योगों के ऊपर अधिकार किस का हो, और फल का बंटवारा कैसा हो। दोनों की कोशिश अपना अधिकार और हिस्सा बढ़ाने की है।*

जिस सीमा तक साम्यवाद पूँजीवादी पद्धति से चिपटा हुआ है, उस सीमा तक उसमें उसके दोष होना स्वाभाविक तथा अनिवार्य हैं। इन दोषों का विचार, पूँजीवाद के प्रसंग में पहले किया जा चुका है।

साम्यवाद और समाजवाद; इनकी समानता—साम्यवाद का जन्म समाजवाद से है, तथापि जैसा पहले कहा गया, अब इसे उससे जुदा माना जाता है। साम्यवादियों और समाजवादियों के संगठन अलग-अलग और प्रायः एक दूसरे के विरुद्ध होते हैं। साम्यवादी और समाजवादी राज्यों की आपस में पटती नहीं, वे एक दूसरे से आशंकित रहते हैं, और एक दूसरे के विरुद्ध युद्ध ठानने तक की भावना रखते हैं। आगे संक्षेप में इनकी समानता तथा इनका अन्तर बताया जाता है। पहले समानता की बात लें—

१—दोनों पूँजीवाद के विरुद्ध प्रतिक्रियाएँ है।

२—दोनों में उत्पादन के साधनों पर किसी व्यक्ति या संस्था का निजी अधिकार मान्य नहीं होता, उन पर सार्वजनिक अधिकार माना जाता है।

३—दोनों का लक्ष्य शोषण को हटाना और वर्गहीन समाज स्थापित करना तथा जनता को विकास के अधिक से अधिक अवसर देना है।

---

* 'गांधी और साम्यवाद'; ले०—श्री किशोरलाल मश्रूवाला।

४—दोनों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को श्रम करना अनिवार्य है।

५—दोनों के अनुसार कोई आदमी अपने जीवन-निर्वाह या भरण-पोषण की सामग्री भोजन, वस्त्र, मकान से, और चिकित्सा तथा शिक्षा से वंचित नहीं रहता।

६—साम्यवाद अन्तर्राष्ट्रीयता का अनुयायी है, वह संसार भर को अपने मत का बनाना चाहता है, और इसके लिए प्रयत्नशील रहता है। उसे राष्ट्रीयता में विश्वास नहीं, कुछ विशेष परिस्थितियों और सीमाओं में ही वह राष्ट्रीय कार्यक्रम अपनाता है। इसके विरुद्ध समाजवाद खासकर राष्ट्रीय विचार-धारा वाला है, यद्यपि वह समय-समय पर अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों या आयोजनों में भी भाग लेता है।

यह कहा जा सकता है कि साम्यवाद समाजवाद का परिवर्द्धित रूप है, इसमें उसकी बातें है, और कुछ और भी हैं।

साम्यवाद और समाजवाद में अन्तर—१—साम्यवाद क्रान्ति का मार्ग ग्रहण करता है, समाजवाद क्रमिक विकास का। साम्यवाद के अनुसार वर्तमान सत्ताधिकारी अपने अधिकारों से स्वच्छा को छोड़ने वाले नहीं; उनसे बल-पूर्वक अधिकार लेने होंगे। इसलिए साम्यवाद को क्रियात्मक रूप देने तथा इसका प्रचार करने के लिए क्रान्ति अनिवार्य है। समाजवादी समझते हैं कि वैधानिक उपायों से काम चल जाएगा।

२—साम्यवाद के अनुसार समय पाकर सरकार सूखे पत्तों की तरह झड़ जाएगी। समाजवादी सरकार को हमेशा बनी रहने वाली मानते है। कुछ साम्यवादियों का मत है कि सरकार रहेगी तो हमेशा ही, पर साम्यवादी व्यवस्था में वह दमन के सिद्धान्त पर न रह कर जनहितकारी कार्यों के लिए रहेगी।

३—साम्यवाद साधनों के प्रयोग में हिंसा-अहिंसा के चक्कर में नहीं पड़ता, उसे अहिंसा से कोई परहेज नहीं है, वरन् उसका उसमें यथेष्ट

विश्वास है। समाजवाद प्रायः शान्ति-पूर्ण और अहिंसात्मक उपायों का ही आसरा लेता है।

४—साम्यवाद उत्पन्न वस्तुओं को लोगों की आवश्यकता तथा रुचि के अनुसार देता है; समाजवाद योग्यता तथा श्रम के अनुसार।

५—साम्यवाद धर्म को अनावश्यक ('सम्पन्न वर्ग की अफीम') समझता है। समाजवाद इस विषय में तटस्थ रहता है।

वर्तमान रूसी व्यवस्था और वास्तविक साम्यवाद—यद्यपि सर्वसाधारण में रूस की वर्तमान व्यवस्था को साम्यवाद कहा जाता है, वास्तव में ऐसा नहीं है। रूस की सरकार अपने को साम्यवादी नहीं कहती; साम्यवादियों के मतानुसार अभी वहाँ संक्रमण अवस्था है। श्री किशोरलाल मश्रूवाला के विचार से रूसी पद्धति को राष्ट्रीय पूँजीवाद कहना गलत नहीं है। उन्होंने लिखा है—पूँजीवाद के सारे तत्व—जैसे पैदावार के साधनों की मालिकी और नियन्त्रण, व्याज, नफा, किराया, तनख्वाहों और भत्तों में फर्क—दोनों में मौजूद हैं। दोनों के लिए शासन चलाने वाले अधिकारियों और कर्मचारियों के बोझिल तन्त्र की जरूरत है जो स्वयं कुछ पैदा न करते हुए भी पैदा करने वालों पर नियंत्रण रखते हैं और उनसे ज्यादा तनख्वाह पाते हैं। दोनों पद्धतियाँ हिंसक साधनों द्वारा अस्तित्व में आयी हैं और उन्हीं के बल पर टिकी हुई हैं। दोनों में बहुत बड़ा जन-समूह मुट्ठी भर लोगों की दया पर जीता है।*

सच्चा साम्यवाद क्या है, इस विषय में श्री मश्रूवाला ने आगे कहा है—"'कम्यूनिज्म या साम्यवाद अर्थशास्त्र का दूसरा पारिभाषिक शब्द है। वह एक कम्यून—जिसे हम भारत में पंचायत कह सकते हैं—द्वारा समाज के शासन का द्योतक है। वह एक ऐसी व्यवस्था है, जिसमें पूँजीवाद का एक भी तत्व मौजूद नहीं है। उसमें न तो शासन, खेती, उद्योग, पैदावार, बंटवारा वगैरा का केन्द्रीकरण है, और न नफा, व्याज, किराया, और व्यापार के तत्त्व मौजूद हैं। उसमें शासन चलाने वाले ऐसे लोग नहीं हैं, जो खुद कोई

*'हरिजन सेवक', ५ अप्रेल १९५२

उत्पादक श्रम नहीं करते और फिर भी उत्पादक श्रम करने वालों द्वारा बढ़िया ढङ्ग से पाले जाते हैं। वह अपना शासन खुद चलाने वाले लोगों का एक छोटा सा समाज है। उसे अस्तित्व में लाने और टिकाये रखने के लिए हिंसा की जरूरत नहीं होती, बल्कि वह एक ऐसे लोगों का कुदरती और स्वेच्छा से बनाया हुआ संघ है, जो एक दूसरे के गहरे सम्पर्क में रहते है।"

ऐसा (वास्तविक) साम्यवाद उस वर्तमान पद्धति से कितना भिन्न होगा, जिसे अब साम्यवाद का नाम दिया जा रहा है! वह तो सर्वोदय के ही रूप का हो जाएगा, जिसके बारे में आगे लिखा जाता है।

सैंतालिसवाँ अध्याय

सर्वोदय (१)

एक के भले में सबका भला ही है। किसी एक के हित के विरुद्ध दूसरे का हित हो नहीं सकता। किसी एक जमात, कौम, वर्ग या देश के हित के विरुद्ध भी दूसरी जमात, कौम, वर्ग या देश का हित नहीं हो सकता। इन सब के हितों में परस्पर विरोध है, यह ख्याल ही गलत है। मैं अगर बुद्धिमान हूँ मेरी सेहत अगर सुथरती है, तो उससे आपका भला ही होनेवाला है। —विनोबा

नर में ही तो नारायण है; यह बात अरे क्यों भूल रहे?
करलो पूजा उन भूखों की, मैं शंख बजाने आया हूँ—
मानव, मानव का पूज्य बने, मैं यही सँदेशा लाया हूँ।
मैं गीत सुनाने आया हूँ॥
—वृन्दावन नामदेव

सर्वोदय क्या है ?—पिछले अध्यायों में समाज-व्यवस्था सम्बन्धी प्रमुख विचारधाराओं के विषय में लिखा गया है। वास्तव में समाज-व्यवस्था वही

सबसे उत्तम है जिसमें समाज के किसी खास हिस्से का ही हित न होकर सारी समाज का, सब लोगों का कल्याण हो; कोई वर्ग दूसरे का शोषण न करे समाज में गरीब अमीर का, मालिक मजदूर का, जमींदार किसान का, शासक और शासित का भेद न हो; ईर्षा द्वेष या विषमता न हो। सब एक दूसरे की भलाई और उन्नति चाहें। इसी को संक्षेप में 'सर्वोदय' कहा जाता है। इसमें मुख्य बात यह है कि आदमी सबसे अहिंसा और प्रेम की भावना रखे, और किसी जाति, किसी धर्म या किसी प्रदेश के आदमियों की दूसरों पर प्रभुता न हो।

सर्वोदय की बात इतनी अच्छी और तर्क-संगत लगती है कि कोई समझदार व्यक्ति इसका विरोध नहीं कर सकता; सब इसका समर्थन ही करेंगे। परन्तु व्यवहार क्या है? हम अपनी भलाई चाहते हैं, अपनों की ही भलाई चाहते हैं, पर बहुधा जिन्हें हम अपना समझते हैं उनमें सबका समावेश नहीं होता, उनका क्षेत्र बहुत ही सीमित होता है। अपने आदमियों में हम अपने परिवारवालों, अपनी जाति-बिरादरी वालों, अपने धर्म या सम्प्रदाय वालों, अपने ग्राम, नगर या प्रान्तवालों और बहुत हुआ तो अपने देश या राष्ट्र वालों की गणना करते हैं। पर वे ही तो 'सब' नहीं होते। इसलिए सर्वोदय की भावना रखने के लिए हमें इन सीमाओं को तोड़कर आगे बढ़ना होता है। इस प्रकार सर्वोदय का व्यवहारिक अर्थ यह है:—

१—पारिवारिक भावना से ऊँचा उठना,

२—जाति-बिरादरी, वर्ण या रंग की भावना से आगे बढ़ना,

३—साम्प्रदायिक भावना का त्याग,

४—प्रादेशिक भावना या प्रान्तीयता का निवारण,

५—संकुचित राष्ट्रीयता का परित्याग,

६—विश्वबंधुत्व की भावना को अपनाना।

सर्वोदय की भावना बहुत पुरानी है—सर्वोदय कोई नया शब्द नहीं है। इसकी विचारधारा संसार के बहुत पुराने साहित्य में मिलती है। भारत के ऋषियों ने हजारों वर्ष पहले कहा था 'सर्वे सुखिनः सन्तु' अर्थात् सब सुखी

हो, किसी को भी दुःख न हो। बहुत पुराने जमाने में उन्होंने यह घोषणा की थी कि 'यह मेरा और यह पराया है—ऐसी बात छोटे हृदयवाले सोचते हैं, उदार हृदयों के लिए तो तमाम संसार अपना ही परिवार है।' इस तरह के कथन सभी देशों के साहित्य में समय-समय पर प्रगट हुए हैं, और इस समय प्रत्येक देश में कुछ ऐसे व्यक्ति हैं, जो ऐसी बातों को अपने जीवन में असली रूप देने का भरसक प्रयत्न करते हैं।

सर्वोदय की आधुनिक विचारधारा—तथापि वर्तमान काल में सर्वोदय कीजो विचारधारा और कार्यक्रम है, यह खासकर महात्मा गांधी की देन है। लगभग पचास वर्ष हुए (सन् १६४० में), उन्होंने अङ्गरेज लेखक रस्किन की 'अन्टु दिस लास्ट' नाम की छोटी सी, महान पुस्तक का गुजराती में सारांश लिखा तो उसका नाम 'सर्वोदय' रखा! पीछे इसका हिन्दी तथा अन्य भाषाओं में अनुवाद हुआ। महात्मा जी की विचारधारा और कार्यप्रणाली सर्वोदय शब्द से पहचानी और सूचित की जाती है। इसमें यह खूबी है कि इससे जिस समाज-रचना का आशय लिया जाता है, वह इस शब्द से स्पष्ट हो जाती है, अर्थात् सबका उदय, अस्त किसी का भी नहीं।

रस्किन की महान पुस्तक—ऊपर रस्किन की जिस महान पुस्तक का उल्लेख हुआ है, उसे लेखक ने 'अन्टु दिस लास्ट' ('इस आखिर वाले को भी') नाम दिया है। इसका आधार बाइबल में दी गयी यह कथा है—

एक आदमी ने कुछ मजदूरों को एक पेनी (लगभग एक आने मूल्य का सिक्का) रोजाना मजदूरी पर अपने अंगूर के बाग में काम करने को भेजा। जब दोपहर के समय वह मजदूरों के अड्डे पर गया तो कुछ और लोगों को वहाँ खड़ा पाया। उसने उन्हें भी अपने बगीचे में काम पर बुला कर उचित मजदूरी देने का आश्वासन दिया। तीसरे पहर जब वह फिर वहां गया तो उसने फिर कुछ बेकार मजदूरों को देखा। उन्हें भी वह बगीचे में ले गया। शाम को जब वह मजदूरों के अड्डे पर पहुँचा तो उस समय भी उसे कुछ मजदूर दिखायी पड़े। उसने उन मजदूरों को भी बगीचे में काम करने भेज दिया। रात होने पर उसने मुनीम से कहा 'सब मजदूरों को

बुलाकर मजदूरी दे दो। सब से पीछे आये हुए आदमी से शुरू करो।' जो लोग आखिर में आये थे, उन्हें भी एक पेनी मिली। पहले से आये हुए मजदूरों को ऐसा लगा कि उन्हें ज्यादा मजदूरी दी जाएगी, पर उन्हें भी एक-एक पेनी दी गयी। इस पर उनमें असन्तोष हुआ। उन्होंने मालिक से कहा, 'जो लोग आखिर में आये, उन्होंने सिर्फ एक घंटा काम किया। मगर हम दिन भर धूप में काम करते रहे, फिर भी हमें उन्हीं के बराबर मजदूरी दी गयी है।'

बाग के मालिक ने उनका समाधान करते हुआ कहा, 'मैंने तुम्हारे साथ कोई अन्याय नहीं किया। एक पेनी रोज पर काम करना तुम्हें स्वीकार था ही। जो उचित था तुम्हें मिल गया। अब घर जाओ। तुम्हें जितना दिया, ठीक उतना ही अन्त में आनेवाले को भी दूँगा। जो चीज मेरी है, उसका अपनी इच्छानुसार उपयोग करने के लिए मैं स्वतंत्र हूँ। मैंने अच्छा वर्ताव किया, इसका तुम्हें दुख क्यों हो रहा है। प्रथम व्यक्ति अन्तिम होगा, और अन्तिम व्यक्ति प्रथम होगा, क्योंकि बहुत लोगों को बुलाने पर भी उनमें से थोड़े ही लोग चुने जाएँगे।'

इस पुस्तक में चार निबन्ध हैं—सच्चाई की जड़, सम्पत्ति की धाराएँ, लौकिक न्याय-दान, और सत्य क्या है (मूल्य निर्धारण)। रस्किन ने इसकी भूमिका में कहा है कि इन निबन्धों को लिखने में मेरा पहला उद्देश्य यह है कि सम्पत्ति की व्याख्या तर्क-पूर्ण और विशुद्ध की जाए; और दूसरा यह कि विशेष नीति नियमों का पालन करते हुए धन कमाना सम्भव है, यह स्पष्ट किया जाए। मनुष्य को विश्वास होना चाहिए कि ईमानदारी एक गुण है और वह ईमानदार रहकर अपना काम कर सकेगा। समाज में ईमानदार व्यक्तियों की संख्या जिस परिमाण में रहेगी, उसी परिमाण में समाज का जीवन चेतना-पूर्ण होकर उन्नत होगा। उद्योगपति और व्यापारी ईमानदारी से कार्य करेंगे तो मजदूरों के संगठन की समस्या तत्काल हल हो जाएगी। डाक्टर, लेखक या सिपाही देश की जितनी सेवा करते हैं, उतनी ही सेवा फावड़ा-कुदाली लेकर मेहनत करने वाला मजदूर भी करता है। इस लिए

सरकार का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि देश के हरेक युवक और युवती को ऐसी शिक्षा दे, जिसमें औद्योगिक शिक्षा की व्यवस्था रहे; और, वह हरेक की मदद करे।

म० गाँधी और सर्वोदय—म० गांधी ने अपनी आत्मकथा में कहा है कि 'मेरा यह विश्वास है कि जो चीज मेरे अन्तरतम में बसी हुई थी, उसका स्पष्ट प्रतिबिम्ब मैंने रस्किन के इस ग्रन्थरत्न में देखा और इस कारण उसने मुझ पर अपना साम्राज्य जमा लिया और अपने विचारों के अनुसार मुझसे आचरण करवाया। सर्वोदय के सिद्धान्त को मैं इस प्रकार समझा हूँ—

१—सब के भले में अपना भला है।

२—वकील और नाई दोनों के काम की कीमत एकसी होनी चाहिए, क्योंकि आजीविका का हक दोनों को एक सा है।

३—सादा, मजदूर का और किसान का, जीवन ही सच्चा जीवन है।

पहली बात तो मैं जानता था। दूसरी का मुझे आभास हुआ करता था। पर तीसरी तो मेरे विचार-क्षेत्र में आयी तक न थी। पहली बात में पिछली दोनों बातें समाविष्ट हैं, यह बात सर्वोदय से मुझे सूर्य-प्रकाश की तरह स्पष्ट दिखायी देने लगी। सुबह होते ही मैं उसके अनुसार अपने जीवन को बनाने की चिन्ता में लगा।'

म० गांधी आजीवन सर्वोदय की दृष्टि से विचार तथा कार्य करते रहे। उनके आदर्श और कार्य का प्रचार करने के लिए गांधी सेवा संघ की ओर से जो मासिक पत्रिका प्रकाशित हुई थी, उसका नाम 'सर्वोदय' ही रखा गया था।

क्या सब का उदय सम्भव है?—बहुत से आदमियों की धारणा है कि मनुष्यों के हितों में परस्पर विरोध होता है; जिस बात में एक का हित होता है, उसमें दूसरे का अहित होता है। उदाहरण के तौर पर कहा जाता है कि मालिक का हित इस बात में है कि मजदूर को कम से कम वेतन दे, और यह बात मजदूर के लिए साफ तौर से अहितकर है।

ऊपर से यह कथन ठीक लगता है। परन्तु जरा गहरा विचार करें तो इसमें

तीन प्रकार की इच्छाएँ—अब इच्छा और प्रवृत्तियों की बात लें। ये तीन तरह की होती हैं। भारतीय शास्त्रकार ने इन्हें 'एषणा' कहा है–वित्तैषणा यानी द्रव्य या धन की चाह; दारैषणा या पुत्रैषणा यानी स्त्री-पुत्र की चाह, और लोकैषणा यानी कीर्त्ति या ख्याति पाने की चाह। ये तीनों इच्छाएँ जैसी मनुष्य में हैं, वैसी पशुओं में पायी जाती हैं। मनुष्य और पशु दोनों इन बातों में अपनी उन्नति, वृद्धि या विस्तार चाहते हैं—धन सम्पत्ति में वृद्धि, परिवार में वृद्धि, यश और प्रसिद्धि में वृद्धि। विचार करने पर मालूम होता है कि इन इच्छाओं का कहीं अन्त नहीं है। सब प्राणी यही चाहते रहते हैं कि कुछ और मिले। कुछ और की माँग कभी समाप्त नहीं होती। इन इच्छाओं को पूरा करने में कुछ पशुओं का ढङ्ग मनुष्य से अच्छा है, यहाँ तक कि उन बातों में आदमी उन पशुओं को अपना आदर्श मानता है। वह उनका अनुकरण करने की कोशिश कर रहा है। लेकिन इसके साथ ही यह भी तो बात है कि आदमी इस विषय में भी धीरे-धीरे प्रगति कर रहा है। यद्यपि इस समय पशु पक्षी मनुष्य से आगे हैं, यह आशा की जाती है कि जबकि पशु पक्षी अपनी वर्तमान स्थिति से आगे बढ़ने वाले नहीं हैं, मनुष्य प्रगति करते करते कभी-न-कभी न केवल पशुओं तक पहुँच जाएगा, वरन् उनसे आगे भी बढ़ सकेगा।

इच्छाओं का नियंत्रण और लोक-कल्याण—जबकि पशु पक्षी अपनी इच्छाओं की पूर्त्ति मे लगे रहते हैं, आदमी यह भी विचार करताहै कि जितनी ही इच्छाओं की पूर्त्ति की जाएगी, उतनी ही वासनाएँ बढ़ती जाएँगी; जीवन अधिक चिन्ता और दुख में बीतेगा। धीरे-धीरे, बहुधा अनेक दुखों को भोग लेने पर आदमी सोचता है, क्या सर्वत्र दुख ही दुख है। क्या धन-सम्पत्ति, दारा, सुत, परिवार, कीर्ति और यश सब दुख ही देनेवाले होते हैं? सुख कैसे मिले? और सुख वास्तव में है क्या चीज़? आदमी को दुख क्यों मिलता है, इससे निवृत्ति कैसे हो? मुझे कौन-कौनसा कार्य करना चाहिए और कौनसा कार्य नहीं करना चाहिए।

इस प्रसंग में संस्कृत की वह कहावत याद आती है, जिसका अर्थ यह है कि खाना, सोना, भय, और मैथुन या काम-वासना—ये चारों बातें मनुष्य में और पशुओं में समान रूप से पायी जाती हैं; मनुष्य में धर्म ही विशेष है, बिना धर्म के

कुछ भी तत्व नहीं है। एक के हित से दूसरों का हित हीं होगा, और एक के अहित से दूसरों का हित होना संभव नहीं। जब मालिक मजदूर को काम वेतन देता है, तो इससे वह अपनी नैतिक हानि और आत्मिक पतन करता है, जिसकी तुलना में उसे होनेवाले आर्थिक या भौतिक लाभ का कोई महत्व नहीं; वास्तव में मालिक को वह बहुत मँहगा पड़ता है। हमें समाज को व्यपक दृष्टि से, एक शरीर के रूप में देखना चाहिए। शरीर के एक अंग को कष्ट देकर या हानि पहुँचा कर दूसरे अंग को सुख पहुँचाने की कल्पना हमारी भूल है, मूर्खता है। सारे शरीर के हित की दृष्टि से जो कार्य किये जाएँगे, उनसे सभी अँगों को लाभ पहुँचेगा।

वर्ग-संघर्ष का दृष्टिकोण दूषित है—जैसा कि हमने 'मानव संस्कृति' में लिखा है, बहुत से आदमियों को मनुष्य के स्वभाव में स्वार्थ-साधन और वर्ग-संघर्ष की प्रधानता रहती हुई और बढ़ती हुई मालूम होती है। पर गहरा विचार करने से स्पष्ट होजाएगा कि वास्तव में मनुष्य में सहयोग और प्रेम की भावना ही अधिक है। यदि ऐसा न हो तो पारिवारिक, सामाजिक या राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय संगठन व्यावहारिक न रहें। समय-समय पर कुछ लड़ाई-झगड़े होते रहने के बावजूद, मनुष्य समाज के ये संगठन बने हुए हैं और आदमी बड़े-बड़े संगठनों की योजना बनाता है, तो यह स्पष्ट है कि सहयोग और प्रेम ही मानव जीवन की वास्तविकता है। संघर्ष या हिन्सा तो व्यापक नियम में एक अपवाद मात्र है। इन्हें मानव जीवन का स्थायी तत्व मान लेना सरासर गलत है। मानव संगठन का इतिहास सहयोग के विकास का इतिहास है। वास्तव में वर्ग-संघर्ष की धारणा ठीक नहीं है।

अधिकतम जनता के अधिकतम हित की बात भी ठीक नहीं—वर्ग-संघर्ष के अतिरिक्त एक विचारधारा उन लोगों की है, जो उपयोगितावादी कहे जाते हैं। इनका सिद्धान्त 'अधिकतम जनता का अधिकतम हित' होता है। स्मरण रहे कि बहुधा इसके उपयोग में जनता का अर्थ देश के सब आदमी न होकर कुछ खास-खास समूह ही होता है। कहीं कुछ खास रङ्ग के ही आदमियों को, और कहीं किसी खास जाति या धर्मवालों को ही जनता

मान लिया जाता है; और इस 'जनता' के अधिकतम भाग के हित का लक्ष्य रखा जाता है। इस प्रकार पूरे समाज की जगह उसके एक अंग-विशेष का विचार किया जाता है, चाहे वह अङ्ग कितना ही बड़ा हो, और कुछ दशाओं में तो वह बहुत बड़ा होता ही नहीं।

अधिकतम जनता के अधिकतम हित का सिद्धान्त स्पष्ट रूप से दूषित है। महात्मा गांधी का कथन है—'मैं ज्यादा से ज्यादा संख्या के ज्यादा से ज्यादा भले के सिद्धान्त को नहीं मानता; उसे नंगे रूप में देखें तो उसका अर्थ यह होता है कि ५१ फी सदी के मान लिये गये हितों की खातिर ४९ फी सदी के हितों का बलिदान कर दिया जाना उचित है। वह सिद्धान्त निर्दय है और इससे मानव समाज की बहुत हानि हुई है।'

सर्वोदय का आदर्श—महात्मा गांधी ने बतलाया कि जिस आचरण से एक भी व्यक्ति का अनहित होता हो, वह किसी के भी हित की चीज नहीं हो सकता; क्योंकि सारी मानवता, मनुष्य जाति एक विशाल कुटुम्ब है। हम सब एक हैं, एक दूसरे के हैं। हम जिसे शत्रु समझते हैं, उसको हानि या अधःपतन हमारी हानि या अधःपतन है। महात्मा जी का कथन है, 'सब का ज्यादा से ज्यादा भला करना ही एक सच्चा, गौरवयुक्त और मानवता-पूर्ण सिद्धान्त है और यह सिद्धान्त अधिकतम स्वार्थत्याग से ही अमल में लाया जा सकता है।' इस सिद्धान्त को मान्यता देने पर धर्मों, जातियों, वर्णों या वर्गों की विभिन्नता का विचार नहीं किया जाएगा; किसानों मजदूरों और कारीगरों को, गोरे, काले, पीले सब रङ्गों के आदमियों को, यूरोप, अमरीका, अफ्रीका आदि सभी भू-भागों के निवासियों को समान समझा जाएगा।

अहिंसा और साधन-शुद्धि की आवश्यकता—यदि हम समाज-संगठन के इतिहास पर विचार करें और यह सोचें कि किस प्रकार समाज ने क्रमशः विकसित होकर अपना वर्तमान स्वरूप प्राप्त किया है, तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि वह हिंसा से अहिंसा की ओर बढ़ता रहा है, और क्योंकि आगे उसकी आकांक्षा विश्वव्यापी संगठन करने की है, उसे अहिंसा की ही दिशा में प्रगति

करते रहना है। इस प्रकार सर्वोदय के लिए अहिंसात्मक साधनों का उपयोग, अनिवार्य है।

कुछ लोगों का मत है कि 'हमें तो साध्य से मतलब है, वह उत्तम होना चाहिए, इसी का हम विचार करें, फिर वह साध्य चाहे जिस प्रकार प्राप्त हो—हिंसा से हो या अहिंसा से; चाहे वह ऐसे साधनों से प्राप्त हो, जिन्हें अनैतिक कहा जाता है, अथवा वह नैतिक साधनों से प्राप्त हो।' पर सर्वोदय को साधन-शुद्धि का पूरा आग्रह रहता है, वह इस विषय में कोई समझौता नहीं करता। महात्मा गाँधी का कथन है, 'लोग कहते हैं कि साधन तो आखिर साधन ही है। मैं कहता हूँ, साधन ही सब कुछ है। जैसा साधन होगा, साध्य भी वैसा ही हो जायगा। साध्य और साधन के बीच कोई दीवार नहीं है। ईश्वर ने हमें साधन पर ही नियंत्रण रखने की शक्ति दी है, और वह भी बहुत सीमित; साध्य पर बिलकुल नहीं। साधन का जितना अमल होगा, साध्य की प्राप्ति भी उसी अनुपात में होगी। इस सिद्धान्त में कोई अपवाद की की गुंजाइश नहीं है।'

सर्वोदय के मूल आधार—सर्वोदय के मूल आधारों का वर्णन कई तरह से किया जा सकता है। अहिन्सा की अनिवार्यता के विषय में तो पहले लिखा ही जा चुका है। अन्य मूल आधार सादगी, विकेन्द्रीकरण, स्वावलम्बन और आर्थिक समानता कहे जा सकते हैं। इनमें से प्रत्येक के अन्दर कई-कई बातों का समावेश है; साथ ही इनका आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

(१) सादगी—प्रायः हम अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाते रहते हैं, और फिर उनकी पूर्ति के लिए दिन-रात परेशान रहते हैं। हरदम हमें अशान्ति और चिन्ता बनी रहती है। इसका इलाज यही है कि कृत्रिम आवश्यकताओं पर नियंत्रण रखा जाए। शौकीनी या विलासिता के पदार्थों के सेवन पर कड़ा प्रतिबन्ध रहे। इससे एक ओर तो हम उनकी प्राप्ति की फिक्र से, उसके लिए भले बुरे उपायों को काम में लाने से बचेंगे; दूसरी ओर हमें कुछ अवकाश मिल सकेगा, जिसे हम अपने सांस्कृतिक विकास में, अपने भाइयों की सेवा-सहायता करने में लगा सकेंगे।

(२) विकेन्द्रीकरण—वर्तमान अवस्था में हमारी अर्थ-व्यवस्था किस प्रकार केन्द्रित है, यह पूँजीवाद के प्रकरण में बताया जा चुका है। इस समय बहुत सा उत्पादन और वितरण केन्द्रित है, पूँजीवादी पद्धति में और समाजवादी तथा साम्यवादी पद्धति में भी। मशीनों द्वारा उत्पदान करने में आदमियों को एक काम का एक क्षुद्र सा भाग करना होता है, उसे पूरी चीज बनाने का गर्व और आनन्द नहीं मिलता। फिर, उपभोक्ता इन पदार्थों को दूर-दूर से मंगाते है, वे उत्पादकों से प्रत्यक्ष सम्पर्क,या जानकारी नहीं रखते, उन्हें पता नहीं होता कि वे पदार्थ कहाँ और कैसे बनते है और उनके बनाने वाले कैसा जीवन बिताते हैं। ऐसी दशा में वे उनके सुख-दुख का विचार ही क्या कर सकते हैं। सर्वोदय में यह बात नहीं होती। यह विकेन्द्रीकरण पद्धति को अपनाता है। इसमें उत्पादक और उपभोक्ता के बीच में कोई खाई नहीं होती, वे एक दूसरे के पास रहते हैं। यही नहीं, उपभोक्ता ही उत्पादक होते हैं।

फिर, इस पद्धति में हजारों आदमी किसी एक उच्च अधिकारी के आदेशों का आँख मीच कर पालन करने वाले नहीं होते। इसमें तो आदमी अपने परिवार के सदस्यों के साथ अथवा सहकारी पद्धति से दूसरे व्यक्तियों के साथ काम करता है। सब का प्रेम-पूर्वक सहयोग होता है। किसी की दूसरों पर हकूमत नहीं होती। इस प्रकार इससे लोक-राज्य के अनुकूल परिस्थितियाँ बनती हैं और उनका उत्तरोत्तर विकास होता है। केन्द्रित उत्पादन से यह काम नहीं हो सकता। यह तो सर्वोदय द्वारा अनुमोदित विकेन्द्रीकरण से ही सम्भव है।

(३) ग्राम-स्वावलम्बन—विकेन्द्रीकरण से मिलता हुआ विषय स्वावलम्बन का है। यद्यपि हम सब प्रेम और सहयोग का भाव रखें, हमें भोजन वस्त्र आदि की अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं के लिए यथा सम्भव दूर-दूर के आदमियों के आश्रित न रहना चाहिए। हमारे गाँवों अथवा छोटी प्रादेशिक इकाइयों का संगठन इस प्रकार हो कि वे स्वावलम्बी रहें, जिससे उनकी रक्षा हो और वे उस लूट से बच सकें जो उत्पादन और वितरण के केन्द्रो-

करण में होनी अनिवार्य है। स्मरण रहे कि इस स्वावलम्बन का उपयोग दूसरों का शोषण करने में नहीं होना चाहिए। हम दूसरों से लूटा जाना पसन्द नहीं करते तो दूसरों को लूटना भी स्वीकार न करें।

म० गाँधी ने कहा था कि 'गाँवों में फिर से जान तभी आ सकती है, जब वहाँ की लूट-खसोट रुक जाए। बड़े पैमाने पर माल की पैदावार गाँवों की प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से होनेवाली लूट के लिए जिम्मेदार है, क्योंकि उसके साथ होड़ और बाजारों की समस्या जुड़ी हुई है। इस लिए हमें इस बात की सबसे ज्यादा कोशिश करनी चाहिए कि गाँव हर बात में स्वावलम्बी और स्वयं पूर्ण हो जाएँ; सिर्फ अपनी जरूरतें पूरी करने जितनी ही चीजें तैयार करें। ग्रामों के इस अंग की अगर अच्छी तरह रक्षा की जाए तो फिर भले ही देहाती लोग आजकल के उन यंत्रों और औजारों से भी काम ले सकते हैं, जिन्हें वे बना और खरीद सकते हैं; शर्त सिर्फ यही है कि दूसरों को लूटने में उनका उपयोग नहीं होना चाहिए।'*

यंत्रों की मर्यादा—यह स्पष्ट ही है कि महात्मा जी का यंत्र मात्र से कोई विरोध नहीं था। यंत्र रहें, पर वे मानव हित के लिए हों, समाज के किसी वर्ग का शोषण करने के लिए नहीं। वे मनुष्यों का थकान कम करने के लिए काम में लाये जाएँ पर उनमें बेकारी फैलानेवाले न हों; वे मनुष्य के लिए हों, मनुष्य पर हावी न हो जाएँ। महात्मा जी का कथन है—'मैं ऐसी मशीन का स्वागत करूँगा, जो झोपड़ों में रहनेवाले करोड़ों मनुष्यों के बोझ को हल्का करती है। करोड़ों सजीव मशीनों के मुकाबले जो भारत के सात लाख गाँवों में हैं; निर्जीव मशीनों को स्थान नहीं दिया जा सकता।'†

ग्रामोद्योग या हाथ से बनी चीजों का उपयोग—ऊपर ग्राम-स्वावलम्बन की बात कही गयी है। इसके लिए यह आवश्यक है कि हम यथा-सम्भव ऐसी ही चीजों का उपयोग करें जो गाँव में हाथ से, अर्थात् बड़े-बड़े यंत्रों की

* 'हरिजन सेवक', २६-८-३६,
† इस विषय पर विस्तार-पूर्वक विचार हमारे 'सर्वोदय अर्थशास्त्र' में किया गया है।

सहायता के बिना, पैदा की जाती या बनायी जाती हैं। खासकर भोजन-वस्त्र के पदार्थों का उपयोग करते समय तो इस बात का ध्यान रखना बहुत ही जरूरी है। इस प्रकार खेती, धान कूटने, आटा पीसने, गुड़ बनाने, तेल पेरने, आदि के लिए हमें ग्रामोद्योगों को ही अपनाना चाहिए। इसी तरह कपड़ा भी चर्खे (या तकली) से कते और करघे से बुने सूत का इस्तेमाल किया जाना चाहिए। इससे सादे जीवन की बात स्वयं पूरी हो जाती है, जिसके महत्व के विषय में पहले लिखा जा चुका है।

(४) आर्थिक समानता—आर्थिक समानता का यह अर्थ नहीं है कि हर एक आदमी को—वह छोटा हो या बड़ा, रोगी हो या तन्दुरुस्त, कमज़ोर हो या बलवान—एक निर्धारित रकम मिला करे, चाहे वह उसके लिए काफी से बहुत ज्यादा हो, अथवा उससे उसका काम ही न चले। आर्थिक समानता का अर्थ यही लिया जाता है कि हरेक व्यक्ति को, स्त्री, पुरुष तथा बालक और बड़े को ऐसी रकम मिलनी चाहिए जिससे उसकी आवश्यकता की वस्तुएँ मिल सकें। इस प्रसंग में प्रश्न यह होता है कि किसकी जरूरत कितनी है, इसका निश्चय कैसे किया जाए। जैसा कि हमने अपने 'सर्वोदय अर्थशास्त्र' में कहा है, यह तो स्पष्ट ही है कि मनुष्य की वास्तविक या बुनियादी आवश्यकताओं के बारे में कोई विवाद नहीं होता। एक परिवार में यदि एक आदमी की खुराक का परिमाण अधिक है या उसकी आयु या तन्दुरुस्ती की दृष्टि से उसे कुछ विशेष ऐसी वस्तुओं के सेवन की आवश्यकता है, जो अपेक्षाकृत महंगी हैं तो इसमें कोई झगड़ा नहीं होता। पर जब कोई आदमी स्वाद के लिए तरह-तरह के पदार्थ खाता है, अथवा शौकीनी के लिए बढ़िया कपड़े पहनता है या परिग्रह की भावना से कई-कई जोड़ी कपड़ों का संग्रह रखता है, जबकि उसके दूसरे भाई बहिनों की साधारण जरूरतें भी पूरी नहीं होतीं—कोई भूखा रहने को, कोई दिगम्बर भेष रखने को, और कोई अर्द्ध-नग्न रहने को बाध्य हो—तो आपस में ईर्षा होने वाली ठहरी। निदान, विषमता का मूल खासकर कृत्रिम आवश्यकताएँ और

परिग्रह की भावना है। आर्थिक समानता लाने के लिए इनका नियंत्रण किया जाना चाहिए।

ट्रस्टीशिप—ऊपर के कथन से स्पष्ट है कि आर्थिक समानता को व्यवहार में लाने के लिए आदमी को अपनी जरूरत के अनुसार ही सम्पत्ति रखनी चाहिए। यों किसी चीज को जरूरत से ज्यादा रखना भी बुरा नहीं, बशर्ते कि दूसरों को उसके अभाव से कष्ट या असुविधा न भोगनी पड़ रही हो, और उस चीज को रखने वाला उसका उपयोग सार्वजनिक हित की दृष्टि से, एक ट्रस्टी की हैसियत से, करे। म० गाँधी ने इस सम्बन्ध में कहा था—

'आज के धनवानों को वर्ग-संघर्ष के, और स्वेच्छा से धन के ट्रस्टी बन जाने के, दो रास्तों में से एक को चुन लेना होगा। उन्हें अपनी मिल्कियत की रक्षा का हक होगा। उन्हें यह भी हक होगा कि अपने स्वार्थ के लिए नहीं, बल्कि मुल्क के भले के लिए, दूसरों का शोषण न करके वे धन को बढ़ाने में अपनी बुद्धि का उपयोग करें। उनकी सेवा और उसके द्वारा होने वाले समाज के कल्याण को ध्यान में रख कर उन्हें निश्चित कमीशन ही राज्य देगा। उनके बच्चे अगर योग्य हुए तो वे भी उस जायदाद के रक्षक बन सकेंगे।' इस विषय पर और प्रकाश म० गाँधी के आगे के कथन से मिलता है—'धनवानों का ठीक व्यवहार न हो तो वे न्यायालय द्वारा अपने अमानतदार के पद से हटा दिये जाएँगे। इसके विपरीत, अगर वे अपना कर्त्तव्य विवेक पूर्वक और ईमानदारी से पालन करेंगे तो उन्हें अपनी धरोहर-सम्पत्ति से होनेवाली शुद्ध आय या मुनाफे में से पांच-छः प्रतिशत भाग को पुरस्कार के रूप में पाने का अधिकारी बनाया जा सकता है; शेष मुनाफा सार्वजनिक हित में लग जाएगा।'

ट्रस्टीशिप की पद्धति में आर्थिक समानता को अहिन्सक रीति से लाने की भावना है और, यह याद रखने की बात है कि अहिन्सक पद्धति ही इसके लिए यथेष्ट हितकर होगी। मनुष्य में दया का भाव चिर-काल से है। इसका क्रमशः विकास होता आया है। अब हमें सोचना चाहिए कि दया समता का विकास करने वाली हो। जब तक दया करने वाले अपने आप को

ऊँचा मानते हैं, उनकी दया अधूरी है। वह सार्थक तभी होगी, जब जिन पर दया की जाती है उन्हें अपने बराबर का माना जाएगा।

अपरिग्रह—सर्वोदय का जीवन के प्रति विशेष दृष्टिकोण है। वह यह मानता है कि शरीर तो आत्मा के लिए एक बन्धन है, एक संग्रह ही है। जब आत्मा को इससे भी मुक्त होना है। तो दूसरे पदार्थों की बात ही क्या। मन में ऐसी भावना जागृत करनी चाहिए कि किसी पदार्थ के प्रति आसक्ति या अनुराग न हो,.उसको संग्रह करके रखने की लालसा न हो। उससे उतना ही सम्बन्ध रहे जितना शरीर-यात्रा के लिए आवश्यक है। बाकी तो वह भगवान का या जनता जनार्दन का है। उसका परिग्रह न किया जाए, यदि हम अपने पास रखें तो उसके ट्रस्टी बन कर रहें। ट्रस्टी बनने में हमारी दृष्टि अपनी प्रतिष्ठा या गौरव बढ़ाने की नहीं, यह तो कर्तव्य-रूप है, इससे हम पर एक उत्तरदायित्व आता है। जैसे हम अपने शरीर का उपयोग लोक-सेवा में मानें, उसी प्रकार अन्य पदार्थों का भी उपयोग लोकहित के लिए ही करें। इस प्रकार हम पूर्ण अपरिग्रह के सिद्धान्त पर पहुँचते हैं, और सादगी और सेवा के जीवन के निकट आते हैं।

राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति सर्वोदय-दृष्टिकोण— व्यक्तिगत तथा सामाजिक विषयों की तरह राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के लिए भी सर्वोदय सत्य और अहिन्सा के ही उपयोग का आदेश करता है। प्रायः राजनीति को 'दुष्टों का खेल' समझा जाता है। इसमें छल-कपट, झूठ, जबरदस्ती सब जायज मानी जाती है। राजनीतिज्ञों का मुख्य सिद्धान्त 'कंटकेनैव कंटकम्' रहा है। सर्वोदय में यह बात नहीं। म० गांधी ने स्पष्ट घोषणा की कि 'मेरे नजदीक धर्म-विहीन राजनीति कोई चीज नहीं है। नीति-शून्य राजनीति सर्वथा त्याज्य है।' उनके नेतृत्व में भारत का स्वाधीनता-आन्दोलन अधिकांश में अहिन्सक ही रहा, सर्वोदय की नीति का पालन किया गया। इंगलैंड का अहित नहीं सोचा गया, उसके संकटों से लाभ नहीं उठाया गया। उसका व्यवहार जैसा भी रहा, भारत अपनी न्याय-नीति पर दृढ़ रहा। इससे दोनों ही देशों का हित हुआ। भारतीय जनता ने वह

विकार पैदा नहीं हुआ जो हिन्सक आन्दोलनों में होना अनिवार्य है। इंगलैंड में भी भारत के प्रति कटुता नहीं बढ़ी। वह भारत की मित्रता के लिए लालायित रहता है। अस्तु, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को हल करने के लिए भी सर्वोदय सत्य और अहिन्सा की ही नीति अपनाता है। वह शत्रु का बुरा न चाह कर उसके भी उद्धार की बात करता है।

आज की दयनीय दशा, हृदय और बुद्धि में विरोध—इस जमाने के अधिकांश राजनीतिज्ञों को सर्वोदय की उक्त नीति में विश्वास नहीं होता। पर इससे भी बढ़कर चिन्तनीय बात यह है कि जिन्हें इसमें श्रद्धा और विश्वास है, वे भी इसे कार्य-रूप में परिणत करने का साहस नहीं करते। इसका कारण यह भी है कि उन्हें सर्वसाधारण जनता से इसके समर्थन की आशा नहीं है। इस विषय पर सर्वोदय सम्मेलन के पांचवें अधिवेशन (मार्च १९५३) में आचार्य विनोबा ने स्पष्ट और मार्मिक विचार प्रकट किये। उन्होंने कहा था—

'एक-दो माह की बात है, दिल्ली में कुछ ज्ञानी विद्वान एकत्रित हुए थे। उन्होंने अहिंसा के बारे में चिन्तन, मनन, विमर्श आदि किया। उसमें हमारे पूज्य राजेन्द्र बाबू ने कहा था कि आज कोई देश यह हिम्मत नहीं कर रहा कि हम सेना के बगैर चलाएँगे। आपने इस पर दुख भी प्रकट किया कि बावजूद इसके कि हमने पूज्य गांधी जी की सिखावन प्रत्यक्ष उनके मुंह से सुनी और उनके साथ काम भी किया, हम हिन्दुस्तानी भी उतनी हिम्मत नहीं कर सके।

'हमारे महान नेता पं० नेहरू भी कई बार कह चुके हैं कि दुनिया का कोई भी मसला हिंसा से हल नहीं हो सकता। इससे मालूम होता है कि उनका हिंसा पर कोई विश्वास नहीं है फिर भी सेना को सुदृढ़ बनाने की जिम्मेवारी उन्हें व हमें महसूस होती है। यह विचित्र परिस्थिति है। श्रद्धा एक ओर है और दूसरी ओर है व्यवहार। चाहते तो यह हैं कि हम सारी दुनिया को अहिंसा से, प्यार से जीतें क्योंकि प्यार से ही सच्ची विजय प्राप्त हो सकती है।

'हृदय कहता है हिन्सा से कोई मसला हल नहीं होगा। एक हल होता दिखाई देगा तो दूसरे दस उससे अधिक कठिन मसले सामने खड़े होंगे। पर हमारी सम्मिश्र बुद्धि हमें कहती है कि हम सेना को हटा नहीं सकते, क्योंकि जिस जनता के हम प्रतिनिधि हैं, उसमें इतनी हिम्मत और बुद्धि नहीं है, इसलिए हम उनके प्रतिनिधि के नाते सेना को मजबूत बनाना चाहते हैं।

'हृदय कहता है, ग्रामोद्योग और छोटे-छोटे घरेलू उद्योग चलाएँ पर दूसरी ओर बुद्धि कहती है युद्ध यन्त्र को मजबूत बनाने के लिए यह छोटे-छोटे ग्रामोद्योग सफल नहीं हो सकते।

'आज अमरीका व रूस आपस में भयभीत हैं। पाकिस्तान और भारत में भी इसी प्रकार का परस्पर भय समाया हुआ है। इसी से हम शस्त्र-बल का आधार नहीं छोड़ना चाहते। अहिंसा पर विश्वास रखते हुए भी हम शस्त्रबल, सैन्यबल का आधार नहीं छोड़ सकते। यह स्थिति दाम्भिकता-पूर्ण भले ही न हो पर दयनीय अवश्य है।'

जनता का कर्तव्य—आगे इसका उपाय बताते हुआ विनोबा ने कहा—'हम में से मन्त्री बन कर मन्त्र या तन्त्र के जरिये जो काम नहीं कर सकते, वह बाहर रह कर बिना शस्त्रबल के कर दिखाना है। हमें हिन्सा अथवा दण्डशक्ति से भिन्न प्रबल लोकशक्ति का निर्माण करना है। हमें ऐसी परिस्थिति निर्माण करना है ताकि सरकार की दण्डशक्ति का उपयोग न किया जा सके। तभी हम अपना सच्चा कर्तव्य पालन कर सकेंगे।'

भारत में सर्वोदय; ग्यारह व्रत—जैसा पहले कहा गया है, सर्वोदय की आधुनिक विचारधारा का प्रादुर्भाव खासकर भारत में हुआ है। इसलिए इस देश के सर्वोदय कार्य का कुछ परिचय देना आवश्यक है। मं० गांधी यहाँ जन्म भर अहिन्सा का प्रचार और प्रयोग करते रहे। आपका विचार था कि सत्य और अहिन्सा के आधार पर वर्गहीन समाज स्थापित किया जाए। आपने अपने आश्रम के कार्यकर्ताओं तथा अन्य साथियों में यह भावना भरी कि जीवन में अहिन्सा और सत्य का व्यवहार करें।

मनुष्य भी पशु ही है। मनुष्य यह सोच सकता है, कि कौनसा काम करने योग्य है, और कौनसा नहीं। वह अपनी गलती पर विचार करके, आगे उसे न करने का निश्चय कर सकता है, वह यह सोच सकता है कि कौनसा सुख क्षणिक है, और कौनसा स्थायी। इस तरह वह अपनी इन्द्रियों को वश में करके अपनी शक्ति को दूसरों के हित-साधन में लगा सकता है। यह ठीक है कि आदमी से अनेक गलतियां होती हैं। लेकिन वह इन बातों से लाभ उठा सकता है, और धीरे-धीरे अपना सुधार या विकास कर सकता है।

विशेष वक्तव्य—जानवर गलती नहीं करते; जो बातें वे बचपन में करते हैं, उन्हें बड़े होने पर भी करते हैं, और जिन बातों को उनकी एक पीढ़ी करती है, उसी को दूसरी, तीसरी, चौथी पीढ़ी भी करती है। यहाँ तक कि सैकड़ों हजारों वर्ष बाद भी उनके कामों में विशेष अन्तर नहीं आता। अनेक कीट-पतङ्ग दीपशिखा को देख कर जिस तरह पहले अपने प्राण गँवाते थे, उसी तरह अब भी गँवाते हैं। सांप सपेरे की बीन की आवाज सुनता हुआ पकड़ा जाता है। भौंरा कमल के रस का आनन्द लेते-लेते उसमें फंसा रहा जाता है। इस तरह अनेक जानवर केवल एक-एक इन्द्रिय के वशीभूत होकर अपने प्राणों से हाथ धो बैठते हैं। आदमी पर तो पाँच इन्द्रियों की प्रभुता हो सकती है; यदि वह विवेक बुद्धि से से काम न ले, उन्हें वश में न रखे तो उसकी गुजर कैसे हो! लेकिन सौभाग्य से आदमी यह समझ सकता है कि इन्द्रियों के भोगों यानी विषय-वासनाओं के पीछे दौड़ना मूर्खता है। यह समझ कर वह इन्द्रियों की दासता से छुटकारा पा सकता है। निदान, विवेकशील आदमी बीते हुए कल की भूल पर आज प्रयाश्चित करता है, और बचपन की गलतियों को बड़े होकर छोड़ देता है, और हर एक पीढ़ी पिछली पीढ़ियों के काम और विचारों से शिक्षा लेकर आगे बढ़ती है; भौतिक जगत में ही नहीं, मानसिक और आध्यात्मिक जगत में भी। यह प्रगतिशीलता ही मनुष्य की विशेषता है। मनुष्य और पशु में यही खास फरक है।

———:※:———

म० गांधी ने सन् १९३० में, जबकि वे यरवदा जेल में थे, ग्यारह व्रतों को, व्याख्या की, उन्हें सर्वोदय के मुख्य तत्व कहा जा सकता है। वे ये हैं:—

(१) सत्य, (२) अहिन्सा, (३) ब्रह्मचर्य, (४) अस्वाद, (५) अस्तेय, (६) अपरिग्रह, (७) अभय, (८) अस्पश्यता-निवारण, (९) शारीरिक श्रम, (१०) सर्वधर्म समभाव और (११) स्वदेशी।* इनका एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध है और इनमें से कुछ के बारे में कुछ बातें पहले कही जा चुकी हैं। यहाँ अन्य खास बातों की ओर ध्यान दिलाया जाता है।

अहिन्सा को सर्वोदय का मूलाधार कहा गया है, पर वह सत्य से जुदा नहीं है। सत्य और अहिन्सा का अनिवार्य सम्बन्ध है। महात्मा जी का कथन है कि सत्य ही परमेश्वर है, और बिना अहिन्सा के, यहाँ तक कि बिना अहिन्सा के द्वारा सत्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। यह दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

ब्रह्मचर्य का साधरणतया जो अर्थ लिया जाता है उसकी अपेक्षा महात्मा जी ने उसमें विशेष भाव माना है। उनके ब्रह्मचर्य का अर्थ 'समस्त इन्द्रियों पर पूर्ण नियंत्रण और मनसा वाचा कर्यणा वासना का निवारण है।

अस्वाद की ओर आदमी प्रायः बहुत कम ध्यान देते हैं, तथापि यह बहुत महत्व का है, और हाँ, कठिन भी है। इसका आशय यह है कि हमारा आदर्श जीने के लिए खाना हो, न कि खाने के लिए जीना।

अपरिग्रह का अर्थ है, अपना और अपनी सम्पत्ति का मानव सेवा के लिए समर्पण। मनुष्य को अपना सर्वस्व परमेश्वर द्वारा दी हुई धरोहर के रूप में मानना चाहिए।

अभय की आवश्यकता तो जीवन के पग-पग पर पड़ती है। जो आदमी

---

*ये सूत्र-रूप से इस प्रकार हैं—

अहिन्सा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य असंग्रह।
शरीरश्रम अस्वाद सर्वत्र भयवर्जन॥
सर्वधर्मी समानत्व स्वदेशी स्पर्श भावना।
हीं एकादश सेवावीं नम्रत्वे व्रतनिश्चयें॥

अपने से बड़े से, अधिक धनवान से, या किसी सत्ताधारी से डरता रहता है वह सत्य का व्यवहार कैसे कर सकता है ! इस प्रकार निर्भयता 'आध्यात्मिकता की प्रथम आवश्यकता है।'

अपृश्यता-निवारण का नागरिक या मानवी जीवन में कितना महत्व है, इसके बिना समाज के ठीक संचालन में कितनी बाधा होती है, इसका भारत-वासियों को अच्छी तरह अनुभव है। कई सभ्य देशों में अस्पृश्यता नहीं है, पर वर्ण भेद है, वह भी इसी की तरह एक कलंक है। उसका निवारण होना ही चाहिए।

गीता में कहा है कि यज्ञ किये बिना खाने वाला चोरी का अन्न खाता है। महात्माजी ने इस का अर्थ यही लिया है कि शरीर-श्रम न करने वाले को खाने का अधिकार नहीं। बाइबल कहती है 'अपनी रोटी तू अपना पसीना बहा कर कमा और खा।' इसके अनुसार चलने से समाज का ढर्रा कितना सुधर सकता है।

प्रायः आदमी धार्मिक सहिष्णुता या सहनशीलता की बात किया करते हैं। पर इससे उन धर्मों में कुछ कमी की भावना का आभास मिलता है। कोई आदमी अपने धर्म का अहंकार क्यों करे, सम्पूर्ण सत्य को कौन देख पाया है ! इसलिए सहिष्णुता ही नहीं, सब धर्मों में समभाव रखने की जरूरत साफ जाहिर है।

हम लोग विश्व सम्बन्धी बड़ी-बड़ी बातें करते हैं, पर व्यवहार में स्वदेश को भी भूले रहते हैं। स्वदेशी कोई जबानी जमा-खर्च नहीं, यह क्रियात्मक है। इसमें अपने पड़ोसी की सेवा और सहायता करने की भावना है। कुछ आदमी खादी को और ग्रामोद्योग की दूसरी वस्तुओं को महंगी कहते और काम में नहीं लाते। परन्तु क्या कारीगरों की बेकारी, उनका भूखा मरना या पेट भरने के लिए निन्दनीय उपायों को काम में लाना कोई सस्ता सौदा है ? सादगी के बारे में पहले कहा जा चुका है, स्वदेशी में उसकी भावना है ही स्मरण रहे कि हमें अपने यहाँ की भी बीड़ी, सिग्रेट, शराब, बहुत ही महीन कपड़ा आदि चीजें खरीद कर उन्हें प्रोत्साहन न देना चाहिए।

सर्वोदय पथ के पथिकों को चाहिए कि इन ग्यारह व्रतों का 'दृढ़ निश्चय और नम्रता के साथ' पालन करें।

सर्वोदय समाज और सेवा संघ—म० गांधी के निर्वाण के बाद मार्च १६४८ में सेवाग्राम (वर्धा) में रचनात्मक कार्यकर्ताओं का एक सम्मेलन हुआ और उन्होंने निश्चय किया कि गांधी जी की विचारधारा को मानने वालों का एक भाईचारा कायम हो। यहीं से सर्वोदय-समाज का जन्म हुआ और उसके पथ-प्रदर्शन के लिए सर्व सेवा संघ का भी संगठन किया गया। सर्वोदय समाज का उद्देश्य रखा गया सत्य और अहिंसा पर एक ऐसा समाज बनाने की कोशिश करना, जिसमें जात-पांत न हो, जिसमें किसी को शोषण करने का मौका न मिले और जिसमें समूह और व्यक्ति दोनों को पूरा-पूरा (सर्वांगीण) विकास करने का अवसर मिले। जो सज्जन इस उद्देश्य और बुनियादी सिद्धांत को मानता है और उनके अनुसार काम करने की कोशिश करता है, वह सर्वोदय समाज का सेवक माना जाता है। उसे इसकी सूचना सर्वोदय-समाज, वर्धा, के मंत्री को दे देनी होती है। ऐसे समस्त सेवकों का नाम व पता समाज के रजिस्टरमें लिख लिया जाता है। सबसे विशेष बात यह है कि इस समाज का रूप सलाह देने वाली संस्था का रखा गया है न कि हुकूमत करने वाली संस्था का।

सर्वोदय कार्यक्रम—सर्वोदय समाज के उद्देश्य को पूरा करने के लिए निम्नलिखित कार्यक्रम निर्धारित किया गया:—

(१) साम्प्रदायिक एकता (२) अस्पृश्यता-निवारण (३) जाति-भेद निराकरण (४) नशाबन्दी (५) खादी और दूसरे ग्रामोद्योग (६) गाँव-सफाई (७) नई तालीम (८) स्त्री के लिये पुरुषों के बराबरी के हक और समाज में स्त्री-पुरुष की बराबरी की प्रतिष्ठा (६) आरोग्य और स्वच्छता (१०) देश की भाषाओं का विकास (११) प्रांतीय संकीर्णता का निवारण (१२) हिन्दुस्तानी का राष्ट्रभाषा के तौर पर प्रचार (१३) आर्थिक समानता (१४) खेती की तरक्की (१५) मजदूर संगठन (१६) आदिम जातियों की सेवा (१७) विद्यार्थी

संगठन (१८) कुष्ठ रोगियों की सेवा (१६) संकट-निवारण और दुखियों की सेवा (२०) गो-सेवा (२१) प्राकृतिक चिकित्सा, और (२२) इसी तरह के दूसरे काम।

सर्वोदय प्रचार-कार्य—सर्वसाधारण में—नगर-नगर, गाँव-गाँव और मुहल्ले-मुहल्ले में—सर्वोदय भावना का प्रचार करने के लिए सर्व सेवा संघ द्वारा नीचे लिखे कार्य किये जाते हैं—

(१) सर्वोदय दिन मनाना। प्रतिवर्ष अधिक से अधिक स्थानों में ३० जनवरी (म० गांधी के निर्वाण दिवस) को अपने-अपने गाँव या मुहल्ले में सुबह को घर, आँगन तथा मुहल्ले की सफाई, दोपहर को एकाध घंटा सामूहिक मौन कताई और उसके बाद सामूहिक प्रार्थना।

(२) सर्वोदय मेला। १२ फरवरी को (म० गांधी के अस्थि-विसर्जन के दिन) ऐसे स्थानों पर, जहाँ महात्मा जी की अस्थियाँ बहायी गयीं। सर्वोदय में श्रद्धा रखने के चिह्न-स्वरूप सूतांजली (अपने हाथ की कती एक गुंडी सूत) समर्पण, सामूहिक मौन कताई और मौन प्रार्थना। सूतांजलि से होने वाली आयका उपयोग अपने श्रम पर या श्रमदान पर चलने वाली संस्थाओं की स्थापना या मदद करने में होगा।

(३) सर्वोदय पखवारा। ३० जनवरी से १२ फरवरी तक। ऊपर का या वैसा ही कार्यक्रम, जैसे सर्वोदय साहित्य का प्रचार आदि।

(४) सर्वोदय सम्मेलन। सर्वोदय समाज के सेवकों के आपस के सम्पर्क और विचार-विनिमय के लिए आमतौर से फरवरी या मार्च में, तीन-चार दिन शिविर के रूप में।

(५) 'सर्वोदय' मासिक पत्र। इसके सम्पादक आचार्य विनोबा और दादा धर्माधिकारी हैं। इसमें सर्वोदयी विचारधारा एवं प्रवृत्तियों का विवेचन रहता है। वार्षिक चन्दा आठ रुपये है। यह वर्धा से प्रकाशित होता है।

भू-दान यज्ञ—जब समाज में कुछ भी आदमी भूखे-नंगे और बेकार हों तो सर्वोदय की बात ही क्या हो सकती है! सन्त विनोबा ने अप्रैल सन् १९५१ में तैलंगाना की पैदल यात्रा में अनुभव किया कि समाज के बड़े हिस्से

के पास उत्पादन के साधन न होना अन्याय है। उन्होंने अधिक भूमि वालों का हृदय-परिवर्तन कर उनसे गरीबों के लिए उपहार या दान के रूप में भूमि प्राप्त करना शुरू किया। पहले साल भर तक विनोबा जी स्वयं ही भूमि-दान-यज्ञ के प्रचारक थे। परन्तु सेवापुरी सम्मेलन (१९५२) के बाद भू-दान यज्ञ को एक आन्दोलन का रूप प्राप्त हो गया है। जगह-जगह इस कार्य के लिए समितियाँ बन गयी हैं। विनोबा जी इस समय बिहार में जमें हैं, और इस राज्य में भूमि की समस्या हल करके ही अन्यत्र जाएँगे। विविध राज्यों में अभी तक नौ लाख एकड़ भूमि मिली है। मार्च १९५४ तक २५ लाख एकड़ भूमि प्राप्त करने का निश्चय है। वैसे देश भर में पाँच करोड़ भूमि प्राप्त करनी है, जिससे प्रत्येक किसान परिवार को छः-सात एकड़ मिल सके; यह लक्ष्य सन् १९५७ तक प्राप्त करना है।

भूदान-यज्ञ की यह पद्धति अहिन्सात्मक क्रान्ति का मार्ग प्रशस्त करती है। इसके पीछे विकेन्द्रीकरण और स्वावलम्बन की कल्पना है। सर्व-सेवा-संघ ने अपने प्रस्ताव में कहा है। कि सर्वोदयसमाज का निर्माण ग्राम-राज्य की स्थापना से ही हो सकता है। इसलिए हरेक गाँव की ऐसी तैयारी होनी चाहिए, जिससे वह कम से कम जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं के यानी अन्न, वस्त्र, मकान, आरोग्य और तालीम के बारे में स्वावलम्बी हो। उत्पादन विकेन्द्रित पद्धति से करना होगा, तभी सत्ता का विकेन्द्रीकरण होगा। संघ ने लोगों से अपील की है कि उन्हें केन्द्रित उत्पादन का—कारखानों में तैयार होने वाले खासकर खाद्य और कपड़े का - वहिष्कार करना चाहिए। [संघ ने राज्यों से मद्य निषेध लागू करने का भी अनुरोध किया है।]

सम्पत्ति-दान-यज्ञ—भू-दान के साथ सम्पत्तिदान का भी कार्यक्रम चलाया जा रहा है। जो लोग भूमि-दान करने की स्थिति में नहीं है, अर्थात् जिनके पास देने के लिए भूमि नही है, वे अपनी सम्पत्ति का या आय का छठा भाग अपने भाइयों के लिए दे सकते हैं। सम्पत्ति के ट्रस्टी वे स्वयं रहेंगे, परंतु उसका विनियोग विनोबा (या इस कार्य के लिए नियुक्त समिति) के आदेशा-

नुसार किया जाएगा। इसमें यह बात नहीं होगी कि चाहे जैसे भले-बुरे मार्ग से सम्पत्ति कमाते रहें और उसका छठा हिस्सा दान में देते रहें। इसमें तो नीति-विरोधी और पापमय व्यवसाय को छोड़ देने की प्रेरणा होगी। म० गाँधी के ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त की बात पहले कही गयी है, सम्पत्ति दान-यज्ञ में उसका अंशतः परन्तु प्रत्यक्ष उदाहरण स्थापित करने की बात है।

श्रमदान—जिन लोगों के पास देने के लिए भूमि और सम्पत्ति इन चीजों में से कोई भी नहीं है, वे अपनी मेहनत से दूसरों को, सर्वसाधारण को लाभ पहुँचाएँ। इस युग में पैसे को बहुत अधिक महत्व मिलने से आर्थिक विषमता ने भयंकर रूप धारण कर रखा है। यदि लोगों में श्रम-दान की भावना का यथेष्ट प्रचार होगा, और हरेक आदमी श्रम की प्रतिष्ठा समझ कर अपने भाइयों के लिए इस का दान करने लगेगा तो समाज में ऊँच-नीच की घातक भावना का सहज ही लोप होगा और आर्थिक समानता का मार्ग प्रशस्त होगा, जो सर्वोदय का एक मूल आधार है।

विशेष वक्तव्य—श्रम-दान का प्रचार होने पर हमारी अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति कितनी सुगम हो जाएगी और सामाजिक जीवन कितना सुखमय होगा, इसका सहज ही अनुमान हो सकता है। सड़क, अस्पताल, स्कूल, दफ्तर, पंचायत घर, पार्क या उद्यान, आदि के निर्माण के कितने काम इस समय धनाभाव के कारण रुके रहते हैं! सरकार टैक्स लगाती है, लोगों को कष्ट होता है, काम जल्दी नहीं होता, अच्छा भी नहीं होता। काम करने वालों को उसमें कोई रस नहीं मिलता, यंत्र की तरह एक खानेपूरी सी हो जाती है। जब सब आदमी सेवा-भाव से श्रमदान करके ऐसे निर्माण-कार्य करेंगे तो उन्हें कितना आनन्द होगा, और काम कितना सुन्दर होगा! और, मानसिक कार्य करने वाले भी अपनी बुद्धि का उपयोग सेवा के लिए करने की भावना रख कर बौद्धिक-श्रम का दान करेंगे तो शिक्षण, स्वास्थ्य, चिकित्सा आदि की व्यवस्था का रूप ही बदल जाएगा, और अहिन्सक तथा राज्य-रहित समाज का, सर्वोदय का, चित्र सामने आजाएगा।

अड़तालिसवाँ अध्याय

सर्वोदय (२)

आपको सोचना पड़ेगा कि आप किस विचार को मानते हो। कम्यूनिज्म को, पूँजीवाद को या अहिन्सा को? साम्यवाद, समाजवाद और गांधीवाद इन में से क्या चुनना है। आज तो समाजवाद और गांधीवाद एक दूसरे के नजदीक आ गये हैं और कम्यूनिज्म दूर जा रहा है। इसलिए असल में चुनाव तो कम्यूनिज्म और गांधीवाद में होगा। —विनोबा

अगर युगों के अनुभव से हम यह बड़ा सबक सीख सकें कि हिन्सा के द्वारा कोई स्थायी हित नहीं सिद्ध किया जा सकता या सिद्ध हुआ है और समाज में महान क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने के लिए हमें अहिन्सक तरीका—ऐसा तरीका जो स्वेच्छा से किये जाने वाले त्याग और मानव प्रेम की बुनियाद पर खड़ा है—ही खोजना चाहिए तो हम महान से महान खूनी क्रान्तियों के बनिस्बत ज्यादा निश्चित रूप से सर्वोदय की स्थापना कर सकेंगे।

—किशोरलाल मश्रूवाला

पिछले अध्याय में सर्वोदय विचारधारा का परिचय दिया जा चुका है। उसे अच्छी तरह समझने के लिए उसकी समाजवाद और साम्यवाद से तुलना करना और यह विचार करना उपयोगी होगा कि उसमें क्या विशेषताएँ हैं।

सर्वोदय और समाजवाद; इनमें समानता— सर्वोदय और समाजवाद में समानता का अभाव नहीं है। खुद महात्मा जी ने इस विषय के एक

प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा था—"समानता तो काफी है। 'सबै भूमि गोपाल की' बन जाए, यह तो मैं भी मानता हूँ। सब सम्पत्ति प्रजा की है, यह भी मैं मानता हूँ।" इसके आगे महात्मा जी ने भेद की बात बतायी थी, उसका जिक्र पीछे किया जाएगा। अस्तु, समाजवाद और सर्वोदय दोनों जाति-भेद, वर्ण या रंग-भेद, अस्पृश्यता आदि की सामाजिक विषमता, स्त्री-पुरुष की असमानता, देश भेद, धर्म-भेद, या साम्प्रदायिकता आदि के भाव नष्ट करने वाले हैं।

सर्वोदय और समाजवाद में अन्तर--अब इन दोनों के प्रमुख भेदों का विचार करें—

(१) समाजवाद का सिद्धान्त है कि राज्य भर के सब आदमियों की सम्पत्ति का अधिकार राज्य को हो, किसी आदमी के पास कोई निजी सम्पत्ति न हो। हरेक आदमी की निजी सम्पत्ति राज्य द्वारा छीन ली जाए, और सम्पत्ति का राष्ट्रीकरण हो। इसके विरुद्ध, सर्वोदय में किसी भी आदमी के पास अपनी निजी सम्पत्ति हो सकती है, और वह चाहे जितनी हो सकती है। हाँ, सम्पत्ति का अधिकारी अपने आपको उसका ट्रष्टी समझे और उसका उपयोग समाज की एक अमानत या धरोहर के रूप में करे। अगर कोई धनी यह शर्त पूरी नहीं करता तो जनता को अधिकार है कि वह उसे ट्रष्टी न रहने दे; हाँ, इसमें अहिन्सात्मक उपायों से ही काम लिया जाए।

(२) समाजवाद केन्द्रीय उत्पादन के पक्ष में है। उसके अनुसार राज्य के अधिकार में बहुत बड़े-बड़े खेत और विशाल कारखाने हों और उनमें मशीनों या यंत्रो द्वारा बड़े पैमाने पर उत्पादन किया जाए। इसके विरुद्ध, सर्वोदयी मत यह है कि उत्पत्ति का केन्द्रीयकरण न हो, गृह उद्योग धंधों का विकास और विस्तार हो।

(३) समाजवाद का आधार भौतिकवाद है। इसके अनुसार मनुष्य की आवश्यकताएँ उत्तरोत्तर बढ़ती रहनी चाहिए और उन आवश्यताओं की पूर्ति के लिए नया-नया सामान अधिकाधिक बनता रहना चाहिए।

सर्वोदय आध्यात्मिक या धार्मिक पहलू पर जोर देता है। यह आवश्यकताओं पर नियंत्रण करके सादा जीवन और लोक सेवा का आदर्श रखता है।

(४) समाजवाद की दृष्टि से राज्य या सरकार हमेशा बनी रहने वाली है। इसके विरुद्ध, सर्वोदय के अनुसार सत्ता संगठित हिन्सा की द्योतक है। यह ऐसी समाज-व्यवस्था चाहता है, जिसमें अधिकार छोटी-छोटी संस्थाओं में बंटे हुए हों; वे संस्थाएँ स्वावलम्बी हों, और उन सब का आपस में सहयोग हो। इस तरह सर्वोदय का लक्ष्य राज्य हीन समाज की स्थापना है, और इस दिशा में वह निरंतर बढ़ता रहता है।

(५) म० गांधी का कथन है कि वे लोग (समाजवादी) कहते हैं कि इसका (समाजवाद का) प्रारम्भ सब एक साथ करें। मैं कहता हूँ कि अपने व्यक्तिगत आचार में तो इसका प्रारम्भ हमें तुरन्त कर देना चाहिए। यदि इसमें श्रद्धा है तो कम-से-कम हम निजी जायदाद तो समाज को अर्पण करदें। एक भी कौड़ी जब तक कोई रखेगा, तब तक वह समाजवादी नहीं है। वे कानून से काम लेना चाहते हैं; कानून में दबाव होगा।

(६) समाजवाद में व्यक्ति का महत्व नहीं, वैयक्तिक स्वतन्त्रता नहीं; स्वतन्त्र व्यक्तित्व के विकास की गुंजायश नहीं। इसमें वास्तविक लोकतन्त्र की स्थापना नहीं हो सकती। इसमें व्यक्ति का स्थान समाज रूपी यंत्र के एक पुर्जे के समान है। सर्वोदय में व्यक्ति के विकास के लिए मार्ग प्रशस्त रहता है, और विकास निरंतर होता रहता है।

म० गांधी का समाजवाद—सर्वोदय—म० गांधी ने अमरीकी पत्रकार श्री लुई फिशर के प्रश्न के उत्तर में कहा था—"मेरे समाजवाद का अर्थ है, 'सर्वोदय'। मैं गूंगे, बहरे और अंधे को मिटा कर उठना नहीं चाहता। उनके समाजवाद में शायद इनके लिए कोई जगह नहीं है। भौतिक उन्नति ही उनका एक मात्र मकसद है। मसलन अमरीका का मकसद है कि उसके हर शहरी के पास एक मोटर हो। मेरा यह मकसद नहीं। मैं अपने व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए आजादी चाहता हूँ। अगर मैं चाहूँ तो आसमान में टिमटिमाते तारों तक पहुँचने की निसैनी बनाने की आजादी मुझे मिलनी

चाहिए। इसका मतलब यह नहीं कि मैं ऐसी कोई बात करूँगा ही। दूसरी किस्म के समाजवाद में व्यक्तिगत आजादी नहीं है, वहाँ आपका कुछ नहीं, आपका अपना शरीर भी आपका नहीं।*

सर्वोदय में ही सच्चा समाजवाद; श्री जयप्रकाश नारायण के विचार—पाँचवे सर्वोदय सम्मेलन के दूसरे दिन के अधिवेशन में (६ मार्च १९५३) प्रजा-समाजवादी नेता श्री जयप्रकाश नारायण ने कहा कि यदि हम समाजवाद के उद्देश्यों को लें तो हमें मालूम होगा कि समाजवाद को सारी बातें सर्वोदय में हैं। ऐसे समाज का निर्माण, जिसमें समता हो, शोषण न हो, व्यक्तिगत आज़ादी हो—ये उद्देश्य दोनों को ही मान्य हैं। जहाँ हिंसा से इन उद्देश्यों की सिद्धि हुई है, वहाँ सिद्धान्त और उद्देश्य ताकपर रह गये हैं और वहाँ न तो समता आयी है और न शोषण का अन्त हुआ है और न वहाँ व्यक्तियों को स्वतंत्रता ही मिली है। इसी प्रकार केवल पूँजीवाद के अंत और उद्योगों के राष्ट्रीकरण से समाजवाद नहीं हो जाता। उदाहरण के लिए अपने देश में रेलों के राष्ट्रीकरण से कोई खास नतीजा नहीं निकलता। अतः हम समाजीकरण और भूमि के ग्रामीकरण पर पहुँचे हैं। हम सच्चे समाजवादी हैं तो सच्चे सर्वोदयवादी भी हैं। विनोबा जी ने ग्रामराज्य पर जोर दिया है। सच्चे समाजवादी को ग्राम-राज्य चाहिए ही। इस प्रकार यहाँ दोनों धाराएँ समाजवाद और सर्वोदयवाद एक जगह मिल जाती हैं। सच्चा समाजवाद हमें बनाना है तो हम अहिंसा से ही बना सकते हैं। हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि हम समाजवाद के बदले सर्वोदय का ही नाम लें, क्योंकि उसी में सच्चा समाजवाद है।

सर्वोदय और साम्यवाद; ऊपरी समानता—साम्यवादी सज्जनों ने रूस में और पिछले चार वर्ष चीन में लोकहित का बहुत कार्य किया। भारत में भी खासकर हैद्राबाद, त्रावणकोर-कोचीन और मद्रास आदि में अच्छा सेवा-कार्य किया। इनका दावा है कि हम एक वर्गहीन, शोषणहीन और राज्य हीन समाज की स्थापना करना चाहते हैं। सर्वोदय इसी लक्ष्य को धीरे-धीरे

*'हरिजन सेवक', ४ – ८ – १९४६

तीसरा अध्याय

प्रगति की अवस्थाएँ

—※※※—

हमने कहा है कि मनुष्य जाति प्रगति की अनेक मंजिलें तय करके अपनी मौजूदा हालत को पहुँची हैं। प्रगति की इन मंजिलों के बारे में लेखकों और विचारकों में बहुत मत-भेद है। बात यह है कि बहुत पुराने जमाने के पूरे और ब्योरेवार इतिहास से हम परिचित नहीं है। जो अनुसंधान या खोज हुई है, उससे एक ही तरह का नतीजा नहीं निकलता। नये-नये अनुसंधान होते जा रहे हैं। बहुत सी बातों में थोड़े-बहुत अनुमान से काम लेना पड़ता है। निदान, एक लेखक प्रगति की अवस्थाओं का एक तरह से बयान करता है, दूसरा दूसरी तरह से।

तीन अवस्थाएँ—अधिकांश योरपियन विद्वानों, वैज्ञानिकों और इतिहास-लेखकों का कथन है कि आदमी बहुत समय तक पशुओं की तरह रहा। पीछे उसने धीरे-धीरे सामाजिक जीवन तथा भाषा का व्यवहार आरम्भ किया। उसके बाद उसकी प्रगति की तीन अवस्थाएँ रहीं हैं—(१) जंगली, (२) बर्बर (असभ्य), और (३) सभ्य। इन तीन अवस्थाओं के तीन-तीन भाग किये जाते हैं। स्पष्ट रहे कि इनके वर्णन में कल्पना या अनुमान का काफी भाग है।

जंगली हालत—जंगली अवस्था में आदमी के सामने मुख्य कार्य यह था कि वह अपने जीवन-निर्वाह की चीजें पा सके, इसमें जो भौगोलिक या प्राकृतिक बाधाएँ हों उन्हें दूर करे, या वह स्वयं उनसे दूर चला जाए। इस अवस्था का पहला भाग उस समय समाप्त हुआ, जब आदमी ने आग का आविष्कार किया और उसका उपयोग करना सीखा। अब आदमी फल मूल के अलावा मांस को

प्राप्त करने का विचार करता है, साम्यवाद इसे बहुत जल्दी प्राप्त करना चाहता है। कुछ लोग तो यह भी कह दिया करते हैं कि सर्वोदय और साम्यवाद में साध्य का तो अन्तर है ही नहीं, केवल साधन का अन्तर है। साम्यवाद जल्दी सफलता पाने के लिए हिन्सा के प्रयोग से परहेज नहीं करता। इसके विपरीत-सर्वोदय का आधार सत्य और अहिन्सा है। वह किसी भी दशा में हिन्सा से काम न लेगा। इस प्रकार कुछ लोगों ने यह सूत्र या 'फारमूला' बना लिया है, कि साम्यवाद में से हिन्सा निकाल देने पर जो शेष रहता है वह सर्वोदय ही होता है। इसी प्रकार यदि सर्वोदय में अहिन्सा की बात छोड़ दे तो साम्यवाद बन जाता है।

साम्यवाद — हिन्सा = सर्वोदय

सर्वोदय — अहिन्सा = साम्यवाद

असल में बात इतनी सीधी नहीं है। सर्वोदय और साम्यवाद में जो समानता दिखायी देती है, वह ऊपरी ही है; जरा गहरा विचार करके देखें तो यह समानता समाप्त हो जाती है।

भेद की मुख्य बातें—सर्वोदय और साम्यवाद के मूल सिद्धान्त ही जुदा-जुदा है। उनके आदर्श और उद्देश्यों में भिन्नता होने से उनके नैतिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक सिद्धान्त तथा कार्यक्रम अलग-अलग है। यहाँ कुछ मुख्य भेदों का विचार किया जाता है।

(१) सर्वोदय की दृष्टि यह है कि यह संसार चेतन शक्ति का विहार है, मूल वस्तु आत्मा या सत्य है, आत्मा का शरीर से वैसा ही सम्बन्ध है, जैसा शरीर का कपड़े से। हमारे प्रत्येक कार्य में आत्मा के विकास का ध्यान रहना चाहिए। यही हमारे जीवन की कसौटी है। हमें अपनी इन्द्रियाँ वश में रखना, अपनी भौतिक जरूरतों पर नियंत्रण रखना और सेवा-भाव से जीवन बिताना चाहिए।

साम्यवादी को आत्मा-परमात्मा जैसी दिखायी न देनेवाली चीजों में विश्वास नहीं है। वह प्रत्यक्षवादी है। उसका मत है कि मनुष्य हजारों-लाखों वर्ष में, पशु योनि से क्रमशः विकसित होकर, इस अवस्था में आया है। यह सृष्टि

आरम्भ में जड़-रूप थी। जड़ प्रकृति से ही प्राणियों का जन्म हुआ। आदमी पशुओं का वंशज है; हाँ, उसमें चेतना का विकास हुआ है उसकी आवश्यकताएँ बढ़ती जाती हैं, इसमें कोई दोष नहीं। वह प्रकृति पर विजय पाता जा रहा है, और उसे इस दिशा में बढ़ते रहना चाहिए।

(२) सर्वोदय यह सोचता है कि जो चेतन शक्ति मुझमें है, वह दूसरों में भी है इसलिए मुझे हिन्सा से काम लेने का कोई अधिकार नहीं, मैं तो अपने विरोधी का हृदय-परिवर्तन करने का ही प्रयत्न कर सकता हूँ।

साम्यवादी को किसी साधन का परहेज नहीं होता, वरन् उसे हिंसा में विश्वास होता है; उसे सब प्रकार के हथियार, सामान और कारखाने आदि चाहिएँ। और इनकी सार-संभार और वृद्धि के लिए उसे पैसे या पूँजी की जरूरत होनी स्वाभाविक ही है। इस तरह वह अपने आप को पूँजीवाद का विरोधी कहते हुए भी पूँजी-प्रेमी होता है।

(३) सर्वोदयी को अपने आत्मिक विकास के लिए विविध व्रत या नियम पालन करने होते हैं। महात्मा गांधी के बताये ग्यारह व्रतों का वर्णन पहले किया जा चुका है।

साम्यवादी इनमें से केवल अपरिग्रह और अस्तेय को मानते हैं, ब्रह्मचर्य की उन्हें परवाह नहीं, सत्य का उन्हें कोई बंधन नहीं। शरीर-श्रम उनकी निगाह में बुरा नहीं, पर उसकी बौद्धिक श्रम से अधिक प्रतिष्ठा नहीं, कम ही है। अस्वाद को वे बुद्धुपन समझते हैं। अभय ठीक है। धर्म कोरा पाखंड या मादक पदार्थ है। अस्पृश्यता उन्हें ध्यान देने योग्य नहीं जचती। स्वदेशी की बात दकियानूसी है; वे सादगी, स्वावलम्बन और विकेन्द्रीकरण का मजाक उड़ाते हैं।

(४) साम्यवाद यह मानकर चलता है कि समाज में दो जुदा-जुदा स्वार्थ-वाले वर्ग हैं, जिनमें संघर्ष होना स्वाभाविक है। शोषित वर्ग अर्थात् सर्वहारा दल को यह अधिकार है कि वह शोषक (पूँजीपति) या शासक वर्ग का क्रान्ति द्वारा अन्त करके अपनी सत्ता कायम करले। इसमें हिन्सक क्रान्ति को खुल खेलने का पूरा अवसर है। इसके विरुद्ध, सर्वोदय यह विश्वास करता है कि

हरेक मनुष्य में सत्प्रवृत्ति होती है, किसी में कम और किसी में ज्यादा। वह चाहता है कि मनुष्य की सत्प्रवृत्ति को, सारी सृष्टि में अपनापन अनुभव करने की भावना को,जगाया जाए। यह कार्य अहिन्सा, प्रेम और सेवा से ही हो सकता है। उसका तरीका सत्याग्रह का तरीका है, हिन्सा का नहीं। वह हृदय-परिवर्तन में विश्वास करता है, और संघर्ष, दमन या शारीरिक बल के प्रयोग को त्याज्य मानता है।

(५) सर्वोदयी को आर्थिक समानता आदि का उद्देश्य प्राप्त करने के लिए राजसत्ता की प्रतीक्षा में बैठे रहना नहीं पड़ता। वह अपना कर्तव्य प्रत्येक अवस्था में, और अकेला ही आरम्भ कर देता है।

इसके विरुद्ध, साम्यवादियों के कार्य करने का अवसर तब आता है, जब उनके मतवालों की सरकार स्थापित हो जाए, सारा समाज उनके मत को अपनाले।

म० गांधी—सच्चे कम्यूनिस्ट—म० गांधी ने रचनात्मक कार्यकर्ताओं के सम्मेलन में कहा था—'साम्यवादियों और समाजवादियों का कहना है कि आज वे आर्थिक समानता को जन्म देने के लिए कुछ नहीं कर सकते। वे उसके लिए प्रचार भर कर सकते हैं। इसके लिए लोगों में द्वेष या बैर पैदा करने और उसे बढ़ाने में उनका विश्वास है। उनका कहना है कि राजसत्ता पाने पर वे लोगों से समानता के सिद्धान्त पर अमल करवाएँगे। मेरी योजना के अनुसार राज्य प्रजा की इच्छा को पूरी करेगा, न कि लोगों को हुक्म देगा या अपनी आज्ञा जबरन उनपर लादेगा। मैं घृणा से नहीं, प्रेम की शक्ति से लोगों को अपनी बात समझाऊँगा और अहिन्सा के द्वारा आर्थिक समानता पैदा करूँगा। मैं सारे समाज को अपने मत का बनाने तक रुकूँगा नहीं, बल्कि अपने पर ही यह प्रयोग शुरू कर दूँगा। इसमें जरा भी शक नहीं कि अगर मैं ५० मोटरों का तो क्या, १० बीघा जमीन का भी मालिक होऊँ तो मैं अपनी कल्पना की आर्थिक समानता को जन्म नहीं दे सकता। उसके लिए मुझे गरीब बन जाना होगा। यही मैं पिछले पचास सालों से या उससे

भी ज्यादा वक्त से करता आया हूँ। इसलिए मैं कट्टर कम्यूनिस्ट होने का दावा करता हूँ।'*

सर्वोदयी व्यवहार की आवश्यकता—इस से सर्वोदय और साम्यवाद के अन्तर का विचार सहज ही किया जा सकता है। हमें सर्वोदय की विशेषता दिखाने के लिए विशेष तर्क-वितर्क करने की जरूरत नहीं। मुख्य बात है इस मार्ग पर चलने की। आदमी शुद्ध हृदय से, लोक-सेवा के भाव से, इसे अमल में लाएँ। इस विषय में श्री मशरूवाला की आगे लिखी चेतावनी का ध्यान रखना आवश्यक है—

'अगर गांधी जी का मार्ग सचमुच अमली तौर पर और पूरी ईमानदारी के साथ नहीं अपनाया जाता तो साम्यवाद भारत में आकर ही रहेगा। उसका आना अनिवार्य है, क्योंकि आधी जागी हुई, गम्भीर तथा लोकपक्षी नेता-विहीन जनता के पास इस अन्धेर और अव्यवस्था का विरोध करने के लिए, जो लोकशाही और सुनियंत्रित विकास के नाम पर आज चल रही है, कोई दूसरा रास्ता नहीं है।'†

विविध देशों द्वारा समर्थन—पूर्वी और पश्चिमी सभी देशों के विचारकों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ है। वे अपने-अपने क्षेत्र में इसके सम्बन्ध में विविध-कार्य कर रहे हैं। पिछले दिनों नैतिक पुनरुत्थान आन्दोलन के प्रवर्तक डा० बुशमेन अपने साथ दो सौ प्रतिनिधियों को लेकर भारत आये थे। उन्होंने इस विचारधारा में अपना विश्वास प्रकट किया था। और लोगों से हृदय-परिवर्तन, सेवा और त्याग की नीति अपनाने के लिए अनुरोध किया था। दिल्ली में होने वाले 'गांधी-सेमीनार' में देश-विदेश के विविध विचारकों ने गांधी-मार्ग की प्रशंसा करते हुए यह मत प्रकट किया था कि वर्तमान संकट से बचने के लिए यही एक मात्र सफल मार्ग है।

---

*'हरिजन सेवक', २१-२-४६

†'गांधी और साम्यवाद'

हमारा कर्तव्य कार्य—क्या यह बात हमें ठीक जचती है? क्या हम हिंसात्मक मार्ग से बचना चाहते हैं? तो फिर हमें उसके लिए यथेष्ट कीमत चुकानी चाहिए। जैसा कि श्री मश्रूवाला ने कहा है, 'हम अपनी इच्छा से एक क्रम के अनुसार आज का जीवन बदलते जाएँ। दर्जा, जाति, छूआ-छूत आदि को मिटा देना चाहिए। प्रान्तीयता और साम्प्रदायिकता को क्षीण कर देना चाहिए। राष्ट्रीयता में खुदगर्जी, लड़ने की हवस, साम्राज्य बढ़ाने की लालसा आदि का लेश भी नहीं होना चाहिए। रहन-सहन के ऊँचे से ऊँचे और नीचे से नीचे स्तरों का भेद बहुत बड़ी हद तक कम हो जाना चाहिए। और, लोकतन्त्र के मौजूदा दिखावे की जगह सच्चा लोकतन्त्र स्थापित होना चाहिए। सरकार के न्याय और शासन तन्त्र में जल्दी काफी नैतिक सुधार दीखना चाहिए और, लोगों तथा सरकारी कर्मचारियों में आज के गैर-जिम्मेदारी भरे बरताव की जगह शुद्ध कर्तव्यनिष्ठा की भावना आनी चाहिए। ये सब परिवर्तन भी एक-दम गाँधी जी के आदर्श तक नहीं पहुँचा देंगे, लेकिन वे वहाँ पहुँचने की अभीष्ट सीढ़ियाँ तो हैं।'

विशेष वक्तव्य—पहले कहा गया है कि मानव प्रगति के अनेक स्थूल और आश्चर्यजनक प्रमाण मिलने पर भी मनुष्य जाति अपने को सुखी अनुभव नहीं कर रही है। इसका कारण यह है कि हमारी समाज-व्यवस्था, आर्थिक-राजनैतिक संगठन ठीक नहीं है। पिछले पृष्ठों में विविध समाज व्यवस्थाओं का विचार करते हुए हमें यह विश्वास हो गया है कि वर्तमान संकट से बचने और मानव का भविष्य सुधारने का एक मात्र मार्ग सर्वोदय है। उसके सम्बन्ध में हमारा क्या कर्तव्य है, यह ऊपर बताया जा चुका है। आवश्यकता है कि हम धैर्य और दृढ़तापूर्वक उस दिशा में एक-एक कदम बढ़ते जाएँ।

यहाँ हम पाठकों का ध्यान एक खास बात की ओर दिलाना चाहते हैं। जब हम यह कहते हैं कि समाजवाद और साम्यवाद में ये कमी है या इनकी अपेक्षा सर्वोदय में अमुक विशेषताएँ हैं तो हम इस समय के अधिकांश समाजवादियों और साम्यवादियों के वर्तमान रवैये को सामने रख कर ही ऐसी बात कहते हैं। अन्यथा हमें याद रखना चाहिए कि एक ओर म० गाँधी ने

कहा है कि मेरे 'समाजवाद का अर्थ है सर्वोदय', और 'मैं कट्टर कम्यूनिस्ट होने का दावा करता हूँ'; दूसरी ओर प्रजा समाजवादी नेता श्री जयप्रकाश नारायण का कथन है कि 'सर्वोदय ही सच्चा समाजवाद है।' इससे स्पष्ट है कि वास्तव में समाजवाद, साम्यवाद और सर्वोदय एक दूसरे से बिल्कुल जुदा नहीं हैं। सबका उद्देश्य एक ही है। अच्छे, नेकचलन, सेवाभावी और स्वार्थत्यागी सज्जन समाजवाद और साम्यवाद को भी सर्वहितकारी (सर्वोदय) बना सकते हैं, और शब्दों पर झगड़ने वाले, अविवेकी, अन्धविश्वासी आदमियों के हाथ में जाकर सर्वोदय की भी दुर्गति हो सकती है। इस बात पर ध्यान देने की खास जिम्मेवारी अपने आपको सर्वोदयी कहने वालों की है कि वे सर्वोदय को कोई अलग वाद न बनाएँ। मानव समाज में दुर्भाग्य से पहले ही काफी दल या पार्टियाँ है, सर्वोदय समाज कोई नया दल न हो। वह सब के शुभ कार्यों में सहयोग दे, और सब लोकहितैषियों को अपना माने और उनका स्वागत करे। अन्त में नाम चाहे जो रहे, समाजवाद, साम्यवाद और सर्वोदय सबको आपस में मिलना है, और मानवता का, विश्व का, कल्याण करना है! शुभम्

———

परिशिष्ट

कुछ महत्वपूर्ण घटनाएँ

—:o:—

मनुष्य-जाति की प्रगति की शुरू का बहुत सा इतिहास ठीक तौर से मालूम नहीं है; उसके बारे में अनुमान किये जाते हैं, और उन अनुमानों की वैज्ञानिक परीक्षा करके उनमें संशोधन किया जाता है। बहुत सी बातें तो ऐसी पुरानी हैं कि अब उनके बारे में ठीक-ठीक हिसाब नहीं लग सकता। अलग-अलग विचारकों का उनके बारे में जुदा-जुदा मत है। योरप के इतिहास की अब से दो-ढाई हज़ार वर्ष पहले की बहुत सी बातों का समय निश्चित नहीं हो सका है। भारतवर्ष आदि एशियाई देशों की तो अब से दो हजार वर्ष के भीतर की भी बहुत सी बातों का समय विवादग्रस्त है। अमरीका, अफ्रीका आदि की घटनाएँ अधिकतर उस समय के बाद की ही मालूम हो पायी हैं, जब से योरपियन लोग वहाँ पहुँचे, यानी सिर्फ पाँच सौ वर्ष के भीतर की। हिन्दुओं के हिसाब से अब सृष्टि-सम्वत् १,९७,२९,४९,०५३ है, इसी को वैदिक सम्वत् कहते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक ऐसा सूक्ष्म हिसाब मानने को तैयार नहीं है। कुछ विद्वानों के मत से पृथ्वी पर मनुष्य का प्रादुर्भाव हुए लगभग पाँच लाख वर्ष हुए हैं। आर्य जाति के मूल निवास के विषय में भी बड़ा मतभेद है। प्रायः हिन्दुओं का विश्वास है कि उनके पूर्वज यहाँ ही रहने वाले थे। बहुत से आधुनिक विद्वानों का मत है कि आर्यों का मूल निवास मध्य एशिया था, वहाँ से वे विविध देशों में गये और उनकी एक शाखा भारतवर्ष में आकर बसी। पर ये लोग, भी इस विषय में एक-मत नहीं है कि भारतवर्ष में आर्य कब आये।

अब से पाँच छः हजार वर्ष पहले की तो इतनी अधिक बातें अज्ञात हैं कि इतिहास-लेखकों ने उस समय को पूर्व-इतिहास काल ही कह डाला है।

उस समय शिकार खेलने के लिए जैसे-जैसे औजार काम में लाये जाते थे, उनके भेदों के अनुसार पुरातत्ववेत्ताओं ने उस काल के विविध भाग किये हैं—

१—पूर्व पाषाण काल।

२—उत्तर पाषाण काल।

३—ताम्र और लौह काल, आदि।

आगे उदाहरण-स्वरूप कुछ थोड़ी सी महत्वपूर्ण घटनाओं का समय दिया जाता है। स्मरण रहे कि आम तौर से जो घटना जितनी अधिक पुरानी है, उतना ही उसके समय का कुछ ठीक-ठीक अनुमान करना कठिन है। और, आधुनिक घटनाएँ इतनी अधिक हैं कि सब का उल्लेख नहीं किया जा सकता।

काल, लगभग	विवरण
२ अरब वर्ष पूर्व से ६०-७० करोड़ वर्ष पहले।	भाप के रूप में पृथ्वी का सूर्य से पृथक् होकर क्रमशः जल थल भाग जुदा होना।
६०-७० करोड़ वर्ष पूर्व से ५ लाख वर्ष पहले।	प्राण का उदय। क्रमशः विविध प्रकार के प्राणी, पक्षी, पशु आदि की उत्पत्ति।
५ लाख वर्ष पूर्व से ५० हजार वर्ष पहले।	मनुष्य का प्रादुर्भाव। प्राचीन पाषाण युगी सभ्यता।
५० से १५ हजार वर्ष पहले	उत्तर पाषाण युगी सभ्यता, आग का आविष्कार।
१० हजार वर्ष पहले।	पशुपालन और खेती।
१० से ५ हजार वर्ष पहले।	प्राचीन मिस्र, सुमेर और सिंधु की सभ्यता।
४६५० वर्ष पहले।	मिस्र के मीनार। चीन का प्रथम सम्राट्।

कुछ महत्वपूर्ण घटनाएँ

४३१०—४१५६ वर्ष पहले	चीन के यू-चिन और शू-चिन ग्रंथों का निर्माण।
	मिस्र का सम्राट् हखनातन
३३२८ वर्ष पहले।	यहूदी राजा सुलेमान ।
२८५३ वर्ष पहले।	यूनानी महाकवि होमर का म[हा]काव्य।
२७०० वर्ष पहले।	

ई० पूर्व	
६७५-६७०	लीडिया में मुद्रा-पद्धति
५६३-४८३	गौतम बुद्ध
५५१-४७८	कन्फ्यूसियस (चीन में)
४८४-४२५	यूनानी इतिहास-लेखक हीरोडोटस (हीरोदत्त)
४६९-३९९	सुकरात
४६०-३७७	यूनान का पहला औषधशास्त्र निर्माता
४५१	रोम में कानून-संग्रह
४२९-३४७	अफलातून (प्लेटो)
३८४-३२२	अरस्तू (एरिस्टोटल)
३५६-३२३	सिकन्दर (एलेग्जेंडर)
३२५	चन्द्रगुप्त का गद्दी पर बैठना
३२३-२८३	युकलिड (गणितज्ञ)
२८७-२१२	आर्शमीडीज (एञ्जीनियर और गणितज्ञ
२७४-२३२	अशोक का भारत में राज्य
२१४	चीन की बड़ी दीवार बनना आरम्भ
६ (?)	ईसा का जन्म

२६	ई०	ईसा सूली पर चढ़ाया गया
१२१-१५१	,,	टालमी द्वारा ज्योतिष के अन्वेशण
३१६-५३०	,,	भारत में गुप्त साम्राज्य; संस्कृत साहित्य की उन्नति
३३०	,,	कुस्तुनतुनिया की स्थापना
३६५	,,	रोम साम्राज्य का पूर्वी और पश्चिमी भागों में विभाजन
४१०	,,	रोम पर गाथ लोगों का अधिकार
४४६-६१३	,,	जूट, ऐंग्ल और सेक्सनों द्वारा इंगलैंड की विजय
४७५	,,	भारतवर्ष में हूणों के आक्रमण
४७६	,,	पश्चिमी रोम-साम्राज्य का अन्त
५७०	,,	मोहम्मद का जन्म
५८८	,,	बौद्ध धर्म का जापान में प्रचार
६२२	,,	मोहम्मद का मक्का से भाग कर मदीना जाना; हिजरी सम्वत् आरम्भ
६३२	,,	मोहम्मद की मृत्यु
७१२	,,	अरबों की भारत में विजय
७१५	,,	अरब साम्राज्य का अधिकतम विस्तार
७६८-८१४	,,	शार्लमन, फ्रैंक लोगों का बादशाह
८२७	,,	एगबर्ट, पूरे इंगलैण्ड का बादशाह
६१६	,,	हेनरी फाउलर, जर्मनी का बादशाह
६८७	,,	ह्यू केपट द्वारा फ्राँस का एकीकरण
१०००	,,	भारत पर अफगानों के आक्रमण
१०६६-८७	,,	नार्मन विजेता विलियम, इङ्गलैण्ड का बादशाह
१०६५-१२७१	,,	क्रूसेड (धर्मयुद्ध);फिलिस्तीन लेने के लिए

भून कर खाने लगा। पहले आदमी पत्थर के जैसे-तैसे टुकड़ों से हथियार का काम लेता था, धीरे-धीरे वह पत्थर की धार और नोक तेज कर के उसकी छुरी और बर्छी बनाने लगा। पर इनसे दूर का निशाना नहीं लगता था। जंगली अवस्था का दूसरा भाग समाप्त होने तक उसने धनुष बाण का आविष्कार कर लिया। पीछे उसने मिट्टी के बर्तन बनाने और उन्हें आग में पकाने की बात मालूम की। इस प्रकार जंगली अवस्था के तीसरे भाग में आदमी अपने खाने की चीजों को भूनने के बजाय मिट्टी के बर्तनों में पकाने लगा।

असभ्य अवस्था—जंगली हालत पार करके आदमी बर्बर या असभ्य अवस्था में आया। अब उसकी विजय का क्षेत्र पशु, पक्षी, वनस्पति, और खान से निकलने वाली चीजों तक पहुँच गया। इस अवस्था का पहला भाग पशु-पालन के साथ समाप्त हुआ। अब पशुओं की मदद से आदमी खेती करने लगा। उसकी आवारागिर्दी कम हुई। वह घर बना कर रहने लगा। वह पशुओं पर सवारी करने, और माल असबाब ढोने लगा। इस तरह व्यापार का भी कार्य आरम्भ हुआ। बर्बर अवस्था के दूसरे भाग में आदमी खान से कच्चा लोहा निकालने और उसे गला कर साफ करने लगा। लोहे के अनेक औजार, हथियार, सवारियाँ और घरों के सामान बनने लगे। बर्बर अवस्था के तीसरे भाग में व्यापार बढ़ने के साथ पत्रव्यवहार की भी आवश्यकता हुई। अपने विचार दूर रहनेवालों पर प्रगट करने के लिए लेखन-शैली का आविष्कार हुआ। लेकिन पहले चित्र-लिपि का ही उपयोग हुआ। अक्षर या वर्ण-लिपि तो बर्बर अवस्था के अन्त और सभ्य अवस्था के प्रारम्भ में आयी, समझनी चाहिए।

सभ्य अवस्था—बर्बर अवस्था के बाद आदमी ने सभ्य अवस्था में प्रवेश किया। अब उसकी विजय का क्षेत्र अधिक मानसिक और सूक्ष्म हो गया। वह स्थूल पदार्थों के अलावा प्रकृति की शक्तियों का भी अध्ययन और प्रयोग करने लगा। इस अवस्था के प्रथम भाग का अन्त होने तक उसने बारूद का आविष्कार कर लिया। दूसरे भाग में उसने भाप के एंजिनों का प्रयोग किया। तीसरा भाग तो अभी चल ही रहा है, जिसमें गैस और बिजली आदि से चलने वाले नित्य नये यंत्रों का निर्माण हो रहा है, जिसके द्वारा समय और दूरी के

११०५	ई०	इङ्गलैण्ड में हवाई चक्की
११६२-१२२७	,,	चंगेज खाँ, तातारी सम्राट्
११६६	,,	इङ्गलैण्ड में जूरी प्रथा आरम्भ
११७५	,,	मोहम्मद गोरी का मुलतान जीतना
१२१४-६४	,,	राजर वेकन, वैज्ञानिक
१२१५	,,	मेग्ना चार्टा; अंगरेजों का महान अधिकार-पत्र
१२३८-४१	,,	योरप पर मंगोलों का धावा
१२६५	,,	इङ्गलैण्ड की पहली पार्लिमेंट
१२६५-१३२१	,,	इटली का महाकवि दांते
१२७१-६५	,,	मार्को पोलो की यात्रा, सुदूर पूर्व में
१३०२	,,	फ्राँस की पहली पार्लिमेंट (स्टेट्स जनरल)
१३५३	,,	आटमन तुर्कों का योरप में प्रवेश
१३७६	,,	इंगलैंड में पार्लिमेंट द्वारा मंत्रियों पर अभियोग
१३७८	,,	योरप में दो पोप; एक रोम में, दूसरा एवेगनन (फ्रांस में)
१३६६-१४१८	,,	कबीरदास
१४००-१६००	,,	योरप में जाग्रति-काल
१४२६	,,	जोन-आफ-आर्क ने फ्रांस की सेनानायिका बन कर अंग्रेजों पर धावा किया
१४४०	,,	छापेखाने का आविष्कार
१४६६-१५३८	,,	गुरू नानक
१४७३-१५४३	,,	कापरनिकस, ज्योतिष-शास्त्रवेत्ता
१४८३-१५६३	,,	सूरदास
१४६२-६८	,,	कोलम्बस द्वारा अमरीका की खोज

१४६८	ई०	वास्कोडेगामा का अफरीका के गिर्द होकर, भारत आना
१५१७-५५	,,	योरप में (धार्मिक) सुधार-काल
१५१७-३१	,,	जर्मनी में ल्यूथर द्वारा धार्मिक सुधार
१५१६-२२	,,	मेगलेन की संसार-यात्रा, समुद्र-मार्ग से
१५२६	,,	भारत में मुगलों की विजय
१५३२	,,	मेक्याविली (इटली) की 'प्रिंस' पुस्तक
१५३२-१६३३	,,	तुलसीदास
१५४६ के लगभग		दूरबीन का आविष्कार
१५५६-१६०५	,,	भारत का सम्राट् अकबर
१५५८-१६०३	,,	इङ्गलैंड की सम्राज्ञी एलिजेबेथ
१५६१-१६२६	,,	फ्रैंसिस बेकन, वैज्ञानिक
१५६४-१६१६	,,	शेक्सपियर
१५६५-१६२६	,,	गेलिलियो, ज्योतिष-शास्त्रवेत्ता
१५६६	,,	जेबी घड़ी का आविष्कार
१५७७	,,	इंगलैंड में सूई का चलन
१५६०	,,	कागज की मिल
१६०१	,,	भारतवर्ष में अंगरेजों की पहली व्यापारी कोठी
१६२७-८०	,,	छत्रपति शिवाजी
१६२८	,,	हारवे का शरीर में रक्त-संचार का आविष्कार
१६२६-५०	,,	ताजमहल का निर्माण
१६४२-१७२७	,,	सर आइजक न्यूटन, वैज्ञानिक और गणितज्ञ
१६४३	,,	बेरोमीटर या वायुमापक यंत्रका आविष्कार
१६६६-१७२५	,,	रूस में पीटर महान्
१७०४	,,	भाप के एंजिन का आविष्कार
१७०६-६०	,,	बेंजमिन फ्रेंकलिन
१७५०-१८५०	,,	इंगलैंड में औद्योगिक क्रान्ति

१७५७	ई०	प्लासी की लड़ाई
१७६२	,,	रूसो का 'सोशल कंट्राक्ट' ग्रन्थ
१७६४	,,	हारग्रीव की सूत कातने की मशीन
१७६४-७६	,,	कप्तान कुक की खोज संबन्धी समुद्र-यात्रा
१७६५	,,	इंगलैंड में भाप-ऐंजिन का आविष्कार
१७६५-७५	,,	कताई बुनाई की मशीनें
१७७४-१८३३	,,	राजा राममोहन राय
१७७५-८३	,,	अमरीका का स्वाधीनता-युद्ध
१७८०-१८३६	,,	पंजाब-केसरी रणजीतसिंह
१७८७	,,	अमरीका के विधान का अमल में आना
१७८६	,,	फ्राँसीसी राजक्रान्ति का प्रारम्भ
१७८६-६७	,,	वाशिंगटन, संयुक्त-राज्य अमरीका का राष्ट्रपति
१७६०	,,	लोहे का पहला जहाज
१७६२	,,	कोयले की गेस से रोशनी
१७६४	,,	टामसपेन की 'एज-आफ-रीजन' पुस्तक
१७६६	,,	चेचक के टीके का प्रारम्भ
१७६६-१८१४	,,	नेपोलियन की प्रभुता
१८०१	,,	लेमार्क का विकास-सिद्धान्त
१८०४	,,	डाल्टन का परिमाणु-सिद्धान्त
१८०७	,,	इंगलैंड में दासों के व्यापार का निषेध
१८१७-६८	,,	सर सैयद अहमद खाँ
१८१६-१६००	,,	जान रस्किन, सर्वोदयी लेखक
१८२२	,,	चम्पोलियन ने मिस्री भाषा के लेखों का अर्थ लगाया
१८२४-८३	,,	स्वामी दयानन्द
१८२५	,,	स्टीफेनसन का, रेल के एंजिन का आविष्कार

१८२७	ई०	दियासलाई का आविष्कार
१८२८-१९१०	,,	महर्षि टाल्स्टाय
१८२९	,,	भारत में सती प्रथा बन्द होना
१८३१	,,	फेरेडे ने डायनेमा का आविष्कार किया
१८३३-१९०२	,,	रामकृष्ण परमहंस
१८३५	,,	पहली तार की लाइन
१८४०	,,	पेनी पोस्टेज (पत्र भेजने का महसूल एक पैंस)
१८४६	,,	सीने की मशीन
१८४८	,,	योरप में क्रान्तियों का वर्ष
१८४९	,,	मेजनी की अधीनता में, इटली में रिपब्लिक
१८४९-७३	,,	लिविंगस्टन की अफ्रीका-यात्रा
१८५०-८५	,,	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
१८५१	,,	इंगलैंड और फ्रांस के बीच समुद्री तार
१८५७	,,	कलकत्ता, बम्बई, और मद्रास के विश्वविद्यालयों की स्थापना
१८५८	,,	भारतीय स्वाधीनता-युद्ध की असफलता; भारतवर्ष का शासन ईस्ट इंडिया कम्पनी से ब्रिटिश पार्लिमेंट ने लिया
१८५९	,,	डारविन का 'ओरिजिन-आफ-स्पीसीज' ग्रन्थ
१८६०-६५	,,	एब्राहम लिंकन, संयुक्त राज्य अमरीका का राष्ट्रपति
१८६१	,,	इटली का एकीकरण
१८६३	,,	संयुक्तराज्य अमरीका से गुलामी का हटना
१८६७	,,	कार्ल मार्क्स का 'दास केपिटल' ग्रन्थ
१८६८-७१	,,	टाइपराइटर का आविष्कार

१८६६	ई०	स्वेज नहर
१८६६-१६४८	,,	महात्मा गाँधी
१८७०-१६२४	,,	लेनिन
१८७१	,,	जर्मन साम्राज्य की स्थापना
,,	,,	जापान से सामन्त-प्रथा हटायी गयी
,,	,,	भारत में आर्य समाज और थियोसोफीकल सोसायटी की स्थापना
१८७२-१६५०	,,	अरविन्द
१८७६	,,	टेलीफोन का प्रथम प्रयोग
१८७७	,,	रोगों का कीटाणु-सिद्धान्त
१८८४	,,	देशरत्न राजेन्द्र प्रसाद का जन्म; ३ दिसम्बर
१८८५	,,	भारतवर्ष में कांग्रेस (राष्ट्र-सभा) की स्थापना
१८८६	,,	जवाहरलाल नेहरू का जन्म, १४ नवम्बर
१८६०	,,	खान अब्दुल गफ्फार खाँ का जन्म
१८६५-६६	,,	मच्छरों से मलेरिया होने का सिद्धान्त
१८६६	,,	बेतार का तार। बम्बई में प्लेग।
१८६७	,,	सुभासचन्द्र बोस का जन्म
१८६८	,,	मैडम क्यूरी द्वारा रेडियम का आविष्कार
१८६६-१६०७	,,	हेग की शान्ति-परिषदें
१६००	,,	आस्ट्रेलिया की कामनवेल्थ की स्थापना
१६०३	,,	हवाई जहाज की पहली उड़ान अमरीका में
१६०६	,,	पीयरी उत्तरी ध्रुव पहुँचा
१६११	,,	एमंडसन दक्षिणी ध्रुव पहुँचा
१६१२	,,	चीन में रिपब्लिक (प्रजातंत्र) की स्थापना
१६१४-१८	,,	पहला योरपीय महायुद्ध
१६१७	,,	रूस की राजक्रान्ति
१६१८	,,	इंगलैंड में स्त्रियों का मताधिकार

१६१६	ई०	राष्ट्र-संघ की स्थापना
१६२०	,,	भारतवर्ष में सत्याग्रह आन्दोलन
,,	,,	अमरीका में स्त्रियों का मताधिकार
१६२२	,,	म० गाँधी को छः साल कैद की सजा
१६२३	,,	इंगलैंड में मजदूर-दल की सरकार
१६२४	,,	खिलाफत का हटना
१६३३-४५	,,	हिटलर की प्रभुता
१६३६-४५	,,	दूसरा योरपीय महायुद्ध
१६४२	,,	भारत में काँग्रेस का 'भारत-छोड़ो' प्रस्ताव
१६४३	,,	बङ्गाल का मनुष्य-कृत अकाल
१६४५	,,	जापान के दो नगरों पर 'एटम बम'।
,,	,,	एशिया के कई देशों में 'एशिया छोड़ो' नारा
,,	,,	संयुक्त राष्ट्र-सङ्घ की स्थापना
१६४७	,,	भारतवर्ष की स्वतंत्रता
१६५०	,,	स्वतंत्र भारत का संविधान अमल में आने लगा
१६५३	,,	स्टेलिन का देहान्त

956

———

सहायक साहित्य

विश्व प्रपञ्च— मूल लेखक—हेकल; अनु०—श्री० रामचन्द्र शुक्ल

मानव की कहानी — रामेश्वर गुप्ता

समाज विज्ञान — चन्द्रराज भंडारी

मार्क्सवाद— यशपाल

विश्व संस्कृति का विकास — कालीदास कपूर

गांधीवाद : समाजवाद — काका कालेलकर

सर्वोदय का इतिहास और विज्ञान — शंकरराव देव

सर्वोदय का सिद्धान्त — नव जीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद

Early Civiisations. — A.A. Goldenwaisar

How man coquered Nature — M.J. Reynolds

The Story of Human Progress — L.C. Marshall

Social Evolution — Benjamin Kidd

History of Social Development — Mullar Lyer

Epochs of Civillisation — P.N. Bose

Modern Ideas of Evolution — D.C. Babcock

The Century of Hope — F.S, Morwin

A brief history of Civilisation — J.S. Hoyland

सर्वोदय, विश्वमित्र, लोकवाणी, विश्ववाणी, हरिजन सेवक, आज, नव हिन्द, भारत आदि पत्र-पत्रिकाएँ।

———

सर्वोदय ग्रन्थमाला

(१) सर्वोदय अर्थशास्त्र—सर्वोदय की दृष्टि से अर्थशास्त्र की रूप रेखा। संसार में सुख-शान्ति चाहने वाले राजनीतिज्ञों, अध्यापकों और पाठकों के लिए बहुत आवश्यक। [मूल्य, चार रुपया]

(२) सर्वोदय अर्थव्यवस्था—पूँजीवादी और साम्यवादी अर्थव्यवस्थाओं की अपेक्षा सर्वोदय अर्थव्यवस्था की विशेषताओं का सुन्दर विवेचन। [मूल्य, डेढ़ रुपया]

(३) हमारा अर्थशास्त्र कैसा हो ?—अर्थशास्त्र में सर्वोदय दृष्टिकोण रखने की आवश्यकता का विचार। [मूल्य, चार आने]

(४) सर्वोदय राज—क्यों और कैसे ?—स्वदेशी राज्य होने पर भी वास्तविक स्वाराज नहीं हुआ। सर्वोदय राज की रूप-रेखा देखिए और विचार कीजिए। [मूल्य, दस आने]

(५) मानव संस्कृति—संस्कृति क्या है, इसके विविध पहलू कौन-कौन से हैं। इसका विकास किस तरह होता है, विविध देशों ने इसमें क्या योग दिया है—इन प्रश्नों का विचार कर मानवता और विश्व-कल्याण में भाग लीजिए। [मूल्य, ढाई रुपये]

(६) समाजवाद, साम्यवाद और सर्वोदय—मानव प्रगति में पूँजीवाद, समाजवाद, अराजवाद, फासिस्टवाद, नाजीवाद तथा साम्यवाद का भाग; और सर्वोदय की विशेषता। [मूल्य, बारह आने]

भारतीय ग्रन्थमाला, दारागंज, इलाहाबाद

अन्तर को मिटाने का प्रयत्न हो रहा है; और, उसमें सफलता मिलती जा रही है।

बाहरी दुनिया से सम्बन्ध बढ़ने के साथ, आदमी का अपने साथियों से सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक सम्बन्ध भी बढ़ता रहा है। उसने परिवार, कबीलों और कुलों का संगठन किया। ग्राम और नगर बसाये। नागरिकता की भावना बढ़ायी। नगर-राज्यों और राष्ट्रों का संगठन किया। इस समय तो कई साम्राज्य और संघ-राज्य भी मौजूद हैं; और, विश्व भर में एक ही राज्य स्थापित करने का विचार हो रहा है।

प्रगति की दृष्टि से समय-विभाग—ऊपर जो प्रगति की तीन अवस्थाओं की बात कही गयी है, वह बहुत स्थूल या मोटे हिसाब से ही है। खासकर जंगली और बर्बर अवस्था का कोई निश्चित विवरण हमारे सामने नहीं है; कारण उसे बीते हुए बहुत मुद्दत हो गयी। फिर, उस समय लेखन-प्रणाली का चलन नहीं हुआ था। और, जो थोड़े-बहुत पुराने निशान अब मिलते हैं, उनसे कुछ ठीक सर्वसम्मत नतीजा नहीं निकाला जा सकता। जंगली, और बर्बर अवस्था की बात तो दूर रही, 'सभ्यता'-काल के भी शुरू के बहुत से हिस्से की हालत का हमें यथेष्ट परिचय नहीं। कितनी ही सभ्यताएँ उत्पन्न हुईं और नष्ट भी हो गयीं। जातियाँ बनीं और बिगड़ीं, उठीं और गिरीं, पर प्रायः वे अपने पीछे कोई ऐसा इतिहास नहीं छोड़ गयीं, जो अब तक सुरक्षित रहता और जिसे आधुनिक मनुष्य अच्छी तरह समझ सकता। इसलिए प्राचीन काल की जातियों के उत्थान और पतन का समय और घटनाएँ भी बहुत कुछ अन्दाज से ही बतायी जाती हैं, और कितनी ही जातियों के बारे में तो कुछ ठीक कहते ही नहीं बनता। अलग-अलग इतिहासकारों के जुदा-जुदा विचार हैं।

कुछ विद्वानों का मत है कि मानव प्रगति के विचार से साधारण इतिहास-काल के तीन भाग किये जा सकते हैं—

(१) ई० पू० ८००० से, ई० पू० २००० तक—सुमेर, भारत, चीन और मिस्र की सभ्यता का पहला रूप।

(२) ई०पू० २००० से सन् ७००ई०तक—सुमेर, चीन और मिस्र की सभ्यता का पिछला रूप; और असीरिया, ईरान, यूनान और रोम की सभ्यता का उदय।

(३) सन् ७०० ई० के लगभग से खासकर पश्चिमी सभ्यताओं का उदय।

सभ्यता के तीन भेद—सभ्यता तीन तरह की होती हैं। पहली तरह की सभ्यता में भौतिक, आर्थिक या औद्योगिक उन्नति करने का विचार मुख्य होता है। सैनिक शक्ति बढ़ाने पर जोर दिया जाता है; अच्छे बलवान शासक और सेनापति सामने आते हैं। आदमियों का ध्यान ज्यादातर शारीरिक सुखों की ओर रहता है। दूसरी तरह की सभ्यता का विशेष लक्षण मानसिक उन्नति है। इसमें तर्क, विज्ञान, दर्शन आदि की उन्नति होती है; युद्ध और सेनाओं का महत्व कम हो जाता है। तीसरी तरह की सभ्यता नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति की होती है। इसे प्राय: संस्कृति कहा जाता है।

ऊपर सिर्फ उदाहरण के तौर पर थोड़े से देशों की सभ्यता का समय दिया गया है, और वह भी मोटे अन्दाज से। प्राचीन सभ्यताओं में से जिन्होंने नैतिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में उन्नति की, उनमें से सिर्फ चीन और भारत की ही सभ्यता इस समय तक रहपायी हैं। यूनान इस क्षेत्र में आने लगा था, पर विशेष आगे न बढ़ा। तीसरे युग की अर्थात् आधुनिक सभ्यताएँ तो अभी कुछ अंश में पहली (भौतिक)और कुछ अंश में दूसरी (मानसिक) कोटि में हैं। भौतिक विज्ञान की उन्नति ने उन्हें पूँजीवादी बनने में सहायता दी है। वे अपने देशों से बाहर बाजार ढूँढ़ने और उन पर कब्जा जमाये रखने में लगी हैं। इसके लिए विशाल सेनाएँ और सैनिक सामग्री की जरूरत होती है। इन देशों का आपस में तथा दूसरों से संघर्ष होना स्वाभाविक है। इसका नतीजा युद्ध, महा-युद्ध और विश्व-युद्ध है।

विशेष वक्तव्य—जब तक किसी सभ्यता में नैतिक गुणों की अपेक्षा भौतिक उन्नति बहुत अधिक रहती है, तब तक उसमें स्थिरता नहीं मानी जा सकती; यही शङ्का रहती है कि वह न-मालूम कब नष्ट हो जाए। किसी सभ्यता की स्थिरता

इस बात पर निर्भर होती है कि वह भौतिक उन्नति के साथ नैतिक उन्नति भी काफी परिमाण में करे। यह ठीक है कि एक सीमा तक भौतिक उन्नति बहुत ही जरूरी है, उसके बिना काम नहीं चल सकता; परन्तु अकेली वही काफी नहीं है। किसी जाति की सभ्यता को विशेष समय तक बने रहने के लिए उसकी नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति भी यथेष्ट होनी चाहिए। इसी तरह नैतिक और आध्यात्मिक बातों में लगी रहने वाली, भौतिक उन्नति की अवहेलना करने वाली, संसार को मायाजाल समझने वाली, और परलोक की बातों में ही अधिकतर समय और शक्ति लगाने वाली सभ्यता का जीवन भी कण्टकमय ही रहता है। असल में जरूरत इस बात की है कि हरेक जाति, देश या राष्ट्र भौतिक, मानसिक, और नैतिक या आध्यात्मिक उन्नति उचित अनुपात में करे; इन तीनों का ठीक समन्वय ही यथेष्ट प्रगति है।

——:०:——

दूसरा भाग

शारीरिक आवश्यकताएँ

यदि हमें यह देखने को मिले कि अमुक समाज के लोग बड़े आलीशान मकानों में रहते हैं, अच्छे-अच्छे कपड़े पहनते हैं, कई प्रकार का भोजन करते हैं, उनके मनोरंजन खेल-कूद की अच्छी व्यवस्था है तो हम कहेंगे कि यह समाज अत्यन्त उन्नत और सभ्य है। इसका अर्थ यह हुआ कि सभ्यता का एक प्रमुख लक्षण समाज के जीवन की इन बाहरी बातों से सम्बन्ध रखना है जैसे खान-पान, वेष-भूषा, मनोरंजन, खेल-कूद, साहित्य-कला-विज्ञान, उद्योग धन्धे, व्यापार व्यवस्था तथा जीवन की अनेक प्रकार की दूसरी सुविधाएँ।

—प्रेमनारायण माथुर

चौथा अध्याय

भोजन

—※—※-※-※-

दूसरे प्राणियों की तरह आदमी की यह स्वाभाविक इच्छा है कि अपने आप को जिन्दा रखे। इसके लिए वह अपने खाने-पहनने और रहने का इन्तजाम करता है। इस काम में आदमी ने क्या प्रगति की है, इसका विचार करने के लिए पहले भोजन का विषय लिया जाता है।

शुरू में मनुष्य का भोजन—जहाँ तक मालूम हो सका है, और साधारणतः समझ में आता है,शुरू में आदमी के खाने की चीजें या तो जङ्गली तौर पर पैदा होने वाले पेड़ पौधों के फल मूल कन्द थीं,या जानवरों का मांस और मछलियां। उस समय वहअघोरी यानी सब तरह की चीजें खानेवाला था। उसे जो कुछ मिल जाता, उसे ही खा लेता। वह जानबूझ कर न फलाहारी था और न मांसाहारी ही। उसका भोजन इस बात पर निर्भर था कि जिस जगह वह रहता, वहाँ क्या मिल सकता था। सम्भव है कुछ जगह ऐसी उपजाऊ हो कि वहाँ कुदरती तौर से बहुत समय तक काफ़ी फल, शाक, मूल, कन्द आदि मिलते रहे। वहाँ आदमी का, मांस न खाना या बहुत ही कम खाना स्वाभाविक था। दूसरी जगहों में जहाँ कुदरती फल आदि की कमी रही,वहाँ आदमी के लिए मांस, मछली खाने के सिवाय कोई चारा ही न था। शुरू में उसे किसी भी पशु पक्षी आदि के मांस से परहेज़ न था।

यह तो खाने की चीजों के भेद की बात हुई। आदमी की खुराक के परिमाण के बारे में बात यह थी कि अगर उसे मिल सकता तो वह अपनी मामूली खुराक से बहुत ज्यादा खा जाता था। लेकिन अकसर ऐसा अवसर आता था कि उसे खाने को काफी नहीं मिलता था, और कभी-कभी तो कुछ भी नहीं मिल पाता था। ऐसी हालत में आदमी कई-कई दिन तक भूख सहता और ——— — ———

करता था। उस जमाने में आदमी के खाने का कोई समय नियत न था; बिलकुल सवेरा हो, कुछ दिन चढ़ा हो, दोपहर हो, तीसरा पहर हो या शाम या रात हो—जब भी कुछ मिल जाता, वह खाने को तैयार रहता था।

आग का आविष्कार होने पर—आग के आविष्कार से पहले आदमी हर चीज़—मांस हो या जङ्गली फल या अनाज—कच्ची ही खाता था। जब उसे आग का उपयोग करना आ गया,तो वह चीजों को भून कर खाने लगा। इसके भी बहुत समय बाद उसने खाना पकाना सीखा। शुरू में उसके पास मिट्टी या धातुओं के बर्तन तो थे ही नहीं; वह चमड़े के बर्तनों से ही काम चलाता था। वह उनमें पानी डालकर रख लेता और पास ही आग जला कर पत्थर के टुकड़े खूब गरम करता और उन गरम पत्थरों को लकड़ी या पत्थर के सहारे चमड़े के बर्तनों में डालता, पीछे उन बर्तनों में मांस या अन्न आदि डाल देता। इस तरह पानी उबलने लगता और आदमी का भोजन पकता था।

चरवाहे का भोजन—आदमी धीरे-धीरे तरक्की करके, पशुओं को पालने लगा और चरवाहे का जीवन बिताने लगा। चरवाहा बनकर भी आदमी ने मांस खाया तो सही, पर बहुत ज्यादा नहीं। चरवाहा अपने पशु को मांस के लिए मारने का जल्दी विचार नहीं करता; पशु उसका धन है, जिसे बढ़ाने की तरफ़ उसका ध्यान रहता है। चरवाहा किसी जानवर को अकसर उसी हालत में मारना पसन्द करता है जब कि जानवर बीमार हो, या कोई त्योहार या उत्सब हो अथवा किसी 'धार्मिक' काम के लिए कुर्बानी करनी हो। फिर, चरवाहों को दूध का बहुत शौक होता है, इसलिए दुधारू पशुओं की तो जहाँ तक बने वे रक्षा ही करते हैं। अस्तु, चरवाहे की हालत में आदमी ने मांस का उपयोग पहले से कम किया।

खेती का आविष्कार होने पर—शुरू में आदमी ऐसी चीज खाता था, जिसे पैदा करने के लिए उसे कोई मेहनत नहीं करनी होती थी, यानी जो कुदरती तौर से मिल जाती थीं। वह जङ्गल में अपने आप पैदा होनेवाले फल आदि खाता था, या शिकार अथवा मछलियों आदि पर गुजर करता था। खेती की बात मालूम होने पर आदमी तरह तरह के फल, शाक या अन्न पैदा करने लगा। अब वह कुदरती तौर से मिलनेवाली चीजों के अलावा, अपनी मेहनत से पैदा हुई चीजें

भी खाने लगा। मांसाहार इस समय कम हो जाना स्वाभाविक ही था। ध्यान देने की एक खास बात यह है कि शुरू में आदमी ने अपना रहनसहन और जीवन अपने भोजन को दृष्टि में रखकर बनाया। पीछे आवश्यकता के अनुसार वह शिकारी, चरवाहा या किसान रहा है। पहले, विद्वानों की प्रायः यह समझ थी कि आदमी शिकारी की अवस्था पार करके चरवाहे की अवस्था में आया और उसके बाद किसान बना; और जो भी समूह इस समय किसान की अवस्था में हैं, वे पहले शिकारी और चरवाहे की दशा में रह चुके हैं। लेकिन जांच और खोज से मालूम हुआ कि यह जरूरी नहीं है कि खेती करने वाले समूह पहले चरवाहे अवश्य ही रहे हों। आम तौर से यह कहा जा सकता है कि प्रगति या विकास का कोई एक निश्चित क्रम या सिलसिला नहीं है, बल्कि कई अलग-अलग क्रम हैं; वे देश काल या वातावरण पर निर्भर रहे हैं। इतिहास में ऐसी भी मिसालें मौजूद हैं कि खेती करनेवाले आदमी पीछे पशु-पालन में लग गये जबकि या तो उनके देश में कोई खास परिवर्तन हो गया या वे दूसरी ऐसी जगह चले गये जहाँ की हालत पशु-पालन के अनुकूल थी।

खेती ने आदमी को अपने भोजन के लिए तरह-तरह की चीजें पैदा करनी सिखायी। अब उसका भोजन उन्हीं चीजों तक परिमित न रहा, जो उसे प्रकृति से खुद ही मिल जाएँ। अब उसकी, आविष्कार और प्रयोग करने की प्रवृत्ति को प्रकट होने का खूब मौका मिलने लगा। वह जांच करता कि कौन-सी चीज खाने में अच्छी है, कौनसी कड़वी, कसैली, चरपरी या जहरीली है, और कौनसी स्वादिष्ट, मीठी, पौष्टिक आदि है। अच्छी-अच्छी चीजों को वह पैदा करता गया। आगे और प्रगति का नतीजा यह हुआ कि कुदरती तौर से मिलनेवाली चीजों का भोजन और कम हो गया; ज्यादातर वे चीजें खायी जाने लगीं, जो आदमी की अपनी मेहनत से पैदा होतीं।

खाद्य पदार्थों के गुणों का विचार—ज्यों-ज्यों आदमी का ज्ञान बढ़ा, उसने खायी जाने वाली चीजों के गुणों पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया। उसने मालूम किया कि किस चीज को खाने से शरीर पर क्या प्रभाव पड़ता है, वह शरीर के किस तत्व को बनाने में सहायक या बाधक होती है, और किन-किन

चीजों के मिश्रण में क्या गुण या अवगुण हो जाते हैं। भारतवर्ष का आयुर्वेद संसार का बहुत पुराना साहित्य है, इसमें मनुष्य की आयु या स्वास्थ्य के सम्बन्ध में बहुत उत्तम ज्ञान मिलता है। यहां संस्कृत में ऐसा बहुत सा साहित्य है, जिसमें खाद्य पदार्थों के गुण दोष बहुत ब्योरेवार बताये गये हैं। अब तो सभी देशों में इस तरह का थोड़ा-बहुत साहित्य है, और वह बढ़ता जा रहा है। आदमी इससे ज्ञान प्राप्त करके बहुत लाभ उठा सकता है।

विटामिन—कुछ वर्षों से विटामिन (पोषक तत्व) की बड़ी चर्चा है। विटामिन सभी ताजे पदार्थों में होते हैं, पर अभी तक उन्हें अलग नहीं किया जा सका है। यह माना जाता है कि विटामिन 'ए' शरीर के बढ़ने के लिए आवश्यक है। यह मक्खन, मलाई, हरे शाक-भाजी, मांस और मछली के तेल में मिलता है। भोजन में इस विटामिन की कमी होने से हड्डियों की बीमारी होती है। चीजों को उबालने, औटाने, तलने या छौंकने से यह विटामिन कम रह जाता है। विटामिन 'बी' पाचन शक्ति या हाजमे को ठीक करता है। यह फल, सब्जी, अनाज, मटर, और सेम की फली आदि में होता है। विटामिन 'सी' खून साफ करता है; यह टमाटर और रसदार फल में, और अन्न के अंकुर निकले हुए रूप में, अधिक होता है। इसी तरह 'डी', 'ई', 'एफ' आदि विटामिन भी हैं। जिन चीजों में विटामिन नहीं होते या बहुत ही कम होते हैं, उनमें से कुछ ये हैं—डिब्बे में बन्द रहने वाली खुराक, चाय, कहवा, मैदा, बेसन, शरबत आदि। विटामिन के सम्बन्ध में अभी शोध और आलोचनाएँ हो रही हैं, क्रमशः इस विषय पर और प्रकाश पड़ने की आशा है।

कृत्रिम भोजन—इधर कुछ समय से आदमी कृत्रिम भोजन बनाने की फिक्र में हैं। पिछले महायुद्ध के समय जर्मनी ने ऐसा भोजन तैयार किया था। इसमें अभी पूरी सफलता नहीं मिली, लेकिन प्रयोग और प्रयत्न जारी हैं। सुना है भारतीय योगी कुछ जड़ी बूटियों का सेवन करते हुए कई-कई दिन या हफ्ते भोजन नहीं करते। आजकल कई प्रकार के भोजन-सार (कान्सेंट्रेटेड फूड) बन रहे हैं। जिनकी थोड़ी सी मात्रा से ही आदमी की पूरी खुराक का काम चल जाता है। वैज्ञानिक यह आशा करते हैं कि धीरे धीरे कुछ समय में

ऐसा कृत्रिम भोजन तैयार करने में सफलता मिल जायगी कि उसकी कुछ छोटी-छोटी गोलियाँ खा लेने पर आदमी को दिन भर भोजन की जरूरत न हो। इस समय आदमी की बहुत सी क्रियाएँ भोजन के लिए ही होती हैं। जब ऊपर लिखा कृत्रिम भोजन काम में आने लगेगा तो आदमी के जीवन में कितना परिवर्तन हो जाएगा! घर-घर चूल्हे चौके का काम न रहेगा, चकला-बेलन और तवे कढ़ाई आदि का सवाल न रहेगा। शहरों में होटल, रसोई घर, हलवाई, आदि की जरूरत न रहेगी। रोजमर्रा का साधारण काम इनके बिना ही मजे में चल सकेगा।

वैज्ञानिक भोजन—वैज्ञानिक भोजन बनने लगने पर एक खास बात यह होगी कि हर एक आदमी को उसके शरीर और प्रकृति के अनुसार ही भोजन दिया जायगा। अब तो कुछ रोगियों को छोड़कर अकसर घर भर के सब आदमियों के लिए एक ही तरह का भोजन बनता है; चाहे कोई लम्बे कद का हो या ठिंगना, कोई मोटा हो या दुबला, कोई बलवान हो या कमजोर। विज्ञान ऐसी प्रगति की सूचना दे रहा है, जब हरएक आदमी को—मोटे, पतले, तन्दुरुस्त या किसी प्रकार के रोगी को—अलग-अलग ऐसा भोजन मिलेगा, जिसमें उसके लिए सब आवश्यक तत्व हों जिसमें कोई भी हानिकारक या अनुपयोगी अंश न हो।

वर्तमान अवस्था; स्वाद के लिए हानिकारक भोजन—अच्छा, हम भविष्य की बातों को छोड़ कर मौजूदा हालत का विचार करते हैं। इस समय आदमी प्रायः खाने पीने की चीजों के गुण दोषों का विशेष विचार नहीं करता। वह खाना खाने में अपनी रुचि, शौक या परम्परा का ही ध्यान ज्यादा रखता है। वह भूल जाता है कि भोजन के मुख्य उद्देश्य ये हैं—(१) शारीरिक परिश्रम से टूटे हुए शरीर-तंतुओं की मरम्मत करना तथा शरीर को पोषक तत्व प्रदान करना, (२) शरीर की खर्च होनेवाली शक्ति की पूर्ति करना, और (३) शरीर को गरम बनाये रखना। जो आदमी इस बात को जानता है, वह भी अपने खाने की चीजों का चुनाव करने में ऐसे विचार को गौण समझता है। उसका लक्ष्य प्रायः यह रहता है कि जीभ को तरह-तरह के पदार्थों का स्वाद

मिले। यही कारण है कि अनेक प्रकार के मीठे या नमकीन पकवान बनाये जाते हैं, चटपटी मसालेदार चीजों की भी संख्या कम नहीं होती। आदमी अपने भोजन में कितने ही ऐसे मसाले खा जाता है, जो शरीर के लिए कुछ लाभदायक नहीं, बल्कि कुछ अंश में नुकसान ही पहुँचाते हैं।

जब आदमी एक ही समय में तरह-तरह की चीजें खाता है, तो वह हर चीज को थोड़ी-थोड़ी खाते हुए भी सब मिला कर अपनी जरूरत से ज्यादा खा जाता है। इससे उसका स्वास्थ्य बिगड़ता है और उसका रोगी होना स्वाभाविक है। मध्य और ऊँची श्रेणी के बहुत से आदमियों की अधिकांश बीमारियों का कारण यही है कि वे तरह-तरह की बहुत सी चीजें खा जाते हैं और स्वाद के कारण जरूरत से ज्यादा खा जाते हैं।

एक और दृष्टि से भी एक समय में अलग-अलग तरह की बहुत सी चीजें खाना अनुचित है। कोई चीज जल्दी हज्म होती है, कोई देर में। पेट में पहुँचने पर कुछ का रस जल्दी बनने लगता है, और कुछ का बहुत देर बाद। इससे पाचन क्रिया में बड़ी गड़बड़ मचती है। इसके अलावा कुछ चीजें ऐसी भी होती हैं कि उनका एक दूसरे के साथ मेल नहीं बैठता। बेमेल भोजन से शरीर में बहुत विष और विकार पैदा होता है।

दूर दूर के तथा अनेक प्रकार के पदार्थों का भोजन—आदमी को चहिए कि एक समय में न तो ज्यादा चीजें खाए, और न बेमेल भोजन ही करे, जीभ को वश में रखे, जिससे शरीर के हित के लिए जो चीज जितनी आवश्यक हो उतनी ही, खायी जाय। लेकिन होता क्या है? जो अन्न, शाक-भाजी, फल आदि जमीन में पैदा होता है, या जो दूध और मांस पशु पक्षियों से मिलता है, उसको सभ्य आदमी बहुत सी ऐसी क्रियाओं के बाद खाता है कि उनका रूप रंग और स्वाद बिलकुल बदल जाता है। आधुनिक आदमी कितनी तरह की जुदा-जुदा चीजें तैयार करके खाता है, इसका हिसाब लगाना बहुत ही कठिन है। अब वह पशुओं या जङ्गली आदमी की तरह देश काल का बन्धन नहीं मानना चाहता। वह कितनी ही चीजें ऐसी खाता है जो सैकड़ों या हजारों मील दूर से आती हैं। मिसाल के तौर पर भारतवर्ष में बड़े-बड़े शहरों में ही नहीं, कितने ही भीतरी

कस्बों में जहाँ रेल आदि की पहुँच नहीं है, कंधारी अनार, कशमीर के सेव, नागपुर के सन्तरे, कलकत्ते या बम्बई के केले आदि बिकते हैं। यहाँ हर वर्ष लाखों रुपये की खाने की चीजें विदेशों से डिब्बों में बन्द की हुई आती हैं। बे-मौसमी फलों या शाक-भाजी को खाने में अलग ही शान समझी जाती है। इसलिए कितनी ही चीजें इस अन्दाज से पैदा की जाती हैं कि वे शौकीन लोगों को ऐसे समय में मिल जाएँ, जबकि ये आम तौर से नहीं मिल सकतीं। फिर, खाने की एक-एक चीज कई-कई तरह से बनायी जाती है। रोटी को ही लीजिए—फुलका, सादी रोटी, पूरी, परांठा, पुआ, मीठी रोटी, नमकीन रोटी, डबल रोटी, बिसकुट आदि कितने ही भेद हैं। शाक-भाजी, मिठाइयां और नमकीन चीजों की कुछ गिनती ही नहीं। चटनी अचार, मुरब्बे भी बहुत किस्म के होते हैं। पीने के लिए सादे पानी या दूध से आधुनिक आदमी को सन्तोष नहीं। हर मौसम में जुदा-जुदा पेय पदार्थों का सेवन किया जाता है; ठंढाई, शर्बत और सोडावाटर बहुत तरह के बनाये जाते हैं। चाय का प्रचार घर-घर हो चला है। शराब पीनेवालों के लिए कई तरह की शराब तैयार है। इस तरह खाने की देशी और विदेशी चीजों का कोई अन्त नहीं। पाठक जानते ही हैं कि दावतों में कहीं-कहीं खाने-पीने की तीस-चालीस से भी अधिक चीजें परोसी जाती हैं। अगर किसी एक देश की भी खाने-पीने की सब चीजों की सूची बनायी जाए तो आश्चर्य होगा कि आदमी कितनी चीजों का उपभोग करता है।

पिछले महायुद्ध के समय की बात है, करांची में कुछ अमरीकी सैनिक उतरे थे। उनके भोजन का प्रबन्ध एक बढ़िया होटल में किया गया। होटल के मेनेजर को उनके आने की सूचना सिर्फ चौबीस घण्टे पहले मिली थी, और उससे कहा गया था कि भोजन के लिए दूसरी चीजों के अलावा एक खास किस्म की मुर्गी का मांस भी होना चाहिए। मेनेजर ने कई जगह जरूरी (अर्जेण्ट) तार देकर उस मुर्गी के मिलने की बात पूछी। उसे मालूम हुआ कि वे मुर्गियां इलाहाबाद में मिल सकती हैं। फौरन हवाई जहाज इलाहाबाद भेजकर वे मुर्गियां मँगायी गयीं, और सैनिकों के भोजन के साथ उन मुर्गियों का मांस भी तैयार कर दिया गया।

लोगों का जुदा-जुदा भोजन—अब दूर-दूर के आदमियों में सम्पर्क बढ़ता

जाता है, इससे रहनसहन में समानता होती है। तथापि अभी इसमें कितनी भिन्नता है, यह हिन्दुओं के खानपान का विचार करने से स्पष्ट हो जायगा। एक ही हैसियत के वनियों का भोजन कुछ और तरह का होता है, ब्राह्मणों का, कायस्तों का और खत्रियों का कुछ और तरह का। पूर्व पश्चिम का, गांव और शहर का, शाकाहारी और मांसाहारी का अन्तर भी रहता ही है। अक्सर जब किसी आदमी को जगह जगह जाने का प्रसंग आता है, तो उसे सोचना होता है कि न-मालूम यहां भोजन किस प्रकार का मिले। शहरों के भोजनालयों आदि पर हम जुदा-जुदा नाम की तख्ती ('साइन बोर्ड') देखते हैं, यथा ब्राह्मण भोजनालय, खत्री भोजनालय, वैश्य भोजनालय, पंजाबी होटल, महाराष्ट्रीय होटल, बंगाली होटल, मद्रासी होटल आदि। बहुत से आदमियों की आदत कुछ खास-खास पदार्थ खाने की, तथा खास-खास पदार्थों से परहेज करने की होती है। फिर, वे एक विशेष प्रकार से तैयार किया हुआ भोजन ही खाने के अभ्यस्त होते हैं। जहाँ इससे कुछ भिन्नता होती है, उन्हें कुछ कठिनाई या अरुचि प्रतीत होती है। वह समय कब आएगा, जब आदमी हर प्रकार के भोजन को समान रूप से रुचिकर मानेगा। यह स्पष्ट ही है कि सादगी के खान-पान से इस दिशा में विशेष प्रगति हो सकेगी।

विशेष वक्तव्य—आदमी के भोजन का लक्ष्य यह होना चाहिए कि शरीर स्वस्थ रहे और हृष्ट-पुष्ट हो। अनुभव और प्रयोग से यह मालूम हो गया, और मालूम होता जाता है कि खाने-पीने की किस-किस चीज में क्या-क्या तत्व है, और शरीर को किन-किन तत्वों की जरूरत होती है। लेकिन कुछ आदमी तो अज्ञान से, और कुछ आदमी शौकीनी या स्वाद के कारण, उस ज्ञान का उपयोग नहीं करते। पाठक अपने देश-काल को ध्यान में रख कर, और शरीर-शास्त्र की जानकारी रखने वालों से सलाह-मशविरा करके यह विचार कर सकते हैं कि उन्हें अपने भोजन में क्या सुधार करना है। आदमी ने भोजन के बारे में समय-समय पर परिवर्तन किया है; आदर्श के विचार से उसे अभी काफी मंजिलें तय करनी है। आशा है, वह धीरे-धीरे इस ओर प्रगति करेगा।

———

पांचवाँ अध्याय

कपड़ा

-※-※-※-※-

आगे चलकर कागज, तरह तरह की धातुओं और कांच के कपड़े पहनने की सम्भावना पैदा हो रही है। कपड़े चमकीले तो होंगे ही, मैले भी न होंगे, और उनके पहिननेवालों को धोबियों की जरूरत बहुत ही कम पड़ेगी। यही बात निकल आदि धातुओं से बने कपड़ों के बारे में समझनी चाहिए।

—सत्यभक्त

कपड़ा क्यों पहना जाता है?—आज कल करीब-करीब सभी आदमी कपड़े पहिनते हैं। पहले ऐसा न था। शुरू में आदमी पशु पक्षियों की तरह नङ्गा रहता था। उसके, नग्न अवस्था को छोड़ कर कपड़ा पहिनने के तीन कारण माने जाते हैं—(१) शरीर की सर्दी-गर्मी से रक्षा, (२) शर्म या लज्जा का भाव, और (३) शरीर की सजावट। आम तौर से इनमें से पहली दो बातों को बड़ा महत्व दिया जाता है। परन्तु इतिहासकारों का कथन है कि आदमी में लज्जा का भाव शुरू में था ही नहीं, यह तो बहुत पीछे पैदा हुआ। यह भाव कपड़ा पहनने का कारण नहीं, बल्कि उसका परिणाम है। इसी तरह सर्दी-गर्मी से शरीर की रक्षा की बात है। जब आदमी जङ्गली हालत में रहता था तो उसे सर्दी-गर्मी ज्यादा नहीं सताती थी। उसमें पशुओं की तरह सहन करने की शक्ति काफी थी, पर पीछे धीरे-धीरे कम हो गयी। इस तरह शुरू में आदमी को कपड़े की जरूरत सर्दी और गर्मी से बचने के लिए नहीं थी। चाहे यह बात पाठकों को कुछ अजीब मालूम हो, खोज से यह पता लगा है कि आदमी को पहले-पहल कपड़े पहनने की जरूरत अपना शरीर सजाने की इच्छा से हुई। जब आदमी बहुत समय तक कपड़ा पहनता रहा तो उसे ऐसा करने की आदत हो गयी;

यहाँ तक कि कपड़ा न पहनने पर उसे बुरा लगने लगा। धीरे-धीरे वह यह अनुभव करने लगा कि बिना कपड़े पहने सर्दी लगती है, इसलिए सर्दी से बचने के लिए कपड़ा पहनना जरूरी है। इसके बहुत अर्से बाद आदमी में यह भावना पैदा हुई कि कपड़ा पहनना इसलिए जरूरी है कि उससे लज्जा का निवारण होता है। समाज में जो लोग कपड़ा पहने न हों, वे निर्लज्ज या बेशर्म समझे जाने लगे। वस्त्र हमारी सभ्यता या शिष्टाचार का चिन्ह या निशानी बन गया।

इस सम्बन्ध में 'चाँद' के मारवाड़ी अङ्क के नीचे लिखे अंश से अच्छा प्रकाश पड़ता है—"अत्यन्त प्राचीन काल में, जब मनुष्य जाति आज की तरह सभ्य नहीं हुई थी और वस्त्रों का निर्माण नहीं हुआ था—तब मनुष्य पशुओं की तरह नंगे रहते थे। धीरे-धीरे मनुष्यों के हृदयों में भावुकता पैदा होने लगी, और शरीर को सजाने तथा कृत्रिम रीति से रंगने की रीति चली। उन्होंने रंग-बिरंगी मिट्टी से शरीर को रंगना शुरू किया। बाद में उन्होंने गोदने गुदवा कर शरीर पर स्थायी रंगीन चिह्न अङ्कित करने भी सीख लिये। इसके बाद उन्होंने यह पसन्द किया कि केवल रङ्ग लगाने की अपेक्षा पत्तियों, वृक्षों की छालों, और पशु-चर्मों से शरीर को जहाँ तहाँ से ढक लिया जाय, जिससे चाहे जब ये आवरण उतार दिये जाँय, और चाहे जब बदल लिये जायँ।

"इस समय तक गुप्ताङ्ग की तरफ किसी का ध्यान न था। पुरुष और स्त्रियाँ प्रायः टांग सिर एवं गर्दन को विविध वस्तु लपेट कर ढकते और सजाते थे—गुप्तांगों को प्रायः खुला छोड़ देते थे। परन्तु शीघ्र ही उन्होंने देखा कि शरीर में उपस्थेन्द्रिय अधिक कोमल है और उसकी रक्षा की खास तौर से आवश्यकता है। इसके सिवा मल-मूत्र विसर्जन करना भी एक ऐसी आवश्यकता थी, जिसे मनुष्य विचारशील होने के कारण एकान्त में करना उचित समझने लगे। सर्वत्र मल-मूत्र विसर्जन करने से घृणा उत्पन्न होने का भय था। फिर, उन अंगों को शुद्ध करना भी आवश्यक था। इन सभी बातों के कारण इन अङ्गों को गुप्त रखने, ढकने आदि की तरफ मनुष्य-समाज का ध्यान बढ़ चला। लज्जा अब तक उत्पन्न नहीं हुई थी। पर यह बात अनुभव से देखी गयी कि इन अवयवों को यत्न से ढकने पर काम के वेग को उत्तेजना मिलती है। इस

अनैसर्गिक उत्तेजना के प्रादुर्भाव ने स्त्री पुरुषों में गुप्तांङ्गों को यत्नपूर्वक ढकने की रीति के साथ ही 'लज्जा' का भी समावेश कर दिया। इसके बाद ही वस्त्रों की कड़ी आवश्यकता ने वस्त्रों का आविष्कार करा दिया और मनुष्य जाति सभ्यता के युग में एक कदम आगे बढ़ी।"

कपड़े का विकास; चमड़े की पोशाक—जङ्गली हालत में आदमी पहले वृक्षों की छाल या पत्तों को अपने शरीर से लपेट लिया करता था, पीछे वह समूर या चमड़े से काम लेने लगा। स्त्री चमड़े को शरीर पर लिपटे रहने के काबिल बना लेती थी। तेज नोकवाली हड्डी से वह चमड़े के सिरों पर छेद करती, और छेदों में किसी पशु की सूखी हुई नस या किसी पौधे के मजबूत रेशे पिरोकर सिलाई का काम करती। अब सूई और डोरे का रूप सुधरते-सुधरते बहुत ही बदल गया है, इसके सामने पुराने जमाने के साधन बहुत ही पिछड़ी हुई दशा के सूचक हैं, तो भी उस समय उनका आविष्कार होना बड़ी बात थी।

बटन का आविष्कार—एक-एक काम को करने की विधि, जो अब बिलकुल मामूली दिखायी देती है, आदमी को शुरू में बहुत से प्रयोगों और अनुभवों से मालूम हुई। मिसाल के तौर पर चमड़े के कपड़े में बटन लगाने की बात लें। "पुरातत्ववेत्ताओं ने इस बात का पता लगाया है कि बटन का आविष्कार प्रस्तर-युग में हो चुका था—जब मनुष्य पत्थर के सिवा और किसी धातु से परिचित नहीं था। यह अनुमान किया जाता है कि एक दिन शीतकाल में, जब तेज और तीखी हवा चली होगी, और प्रस्तर-युग के किसी एक अपेक्षाकृत समझदार व्यक्ति का चमड़े का लबादा उड़ने से वह जाड़े से ठिठुरने लगा होगा, तो उसने चमड़े की बाईं तरफ एक छेद बनाया होगा, और दाहिनी तरफ का एक हिस्सा उस छेद के भीतर डालकर उसे बाहर को खींच लिया होगा। इस प्रकार कुछ समय तक वह जाड़े से छुट्टी पा गया होगा। पर उसके हिलने-डुलने से कुछ ही समय बाद वह फिर खुल गया होगा। उस दिन उस प्रस्तर-युग के बर्बर मनुष्य ने रात के समय अपनी गुफा के भीतर वाली आराम कोठरी में लेटे-लेटे कोई ऐसी तरकीब सोचनी शुरू की होगी, जिससे उसका लबादा हवा के जोर से न खुलने पाए। अन्त में निश्चय ही उसे एक तरकीब सूझ गयी होगी।

वह तरकीब यह थी—अपने भोजन में से वची हड्डियों से उसने एक छोटी सी खूंटी तैयार की और अपने लवादे के दाहिनी ओर एक स्थान पर एक छोटे से छेद के जरिये उस खूंटी को जमा दिया। उसके बाद बांई तरफ वाले छेद के भीतर वटन की तरह उस खूंटी को लगा दिया। तव से उसका लवादा खुलने नहीं पाया। इस प्रकार वटन का आविष्कार हुआ।"*

ऊन, सन, पटसन का कपड़ा—अभी तक चमड़े की पोशाक की वात हुई। धीरे-धीरे स्त्री ने भेड़ों से ऊन संग्रह की; उस ऊन के डोरे वनाये और उनका कपड़ा बुना। पीछे कभी किसी समय उसका ध्यान सन या पटसन के पौधे की तरफ गया। उसने देखा कि इसका रेशा वहुत वारीक, मुलायम और मजवूत है। इसका उपयोग कपड़ा वनाने के लिए किया जा सकता है। और, यह कपड़ा ऊनी कपड़े जैसा गरम नहीं होता, इस लिए गरमी की मौसम में या धूप के समय भी पहना जा सकता है। इस तरह सन पटसन की खेती की जाने लगी।

सूती कपड़ा—संयोग से किसी समय कपास का डोडा देखने में आया। मालूम हुआ कि उसमें से वीज (विनौला) अलग कर दिया जाय तो उसका रेशा भी कपड़ा बुनने के काम आ सकता है। हाँ, हाथ से उसका एक-एक वीज अलग करना कुछ आसान काम न था। उसमें वहुत देर लगती थी। इसीलिए पुराने जमाने में इसका वहुत से देशों में प्रचार नहीं हुआ। आदमी को यह फिक्र लगी रही कि कपास में से विनौले अलग करने की कोई आसान तरकीव निकल आए। भारी उधेड़-बुन के वाद चर्खी का आविष्कार हुआ। चर्खी से कपास 'ओटी' जाने लगी, यानी रूई और विनौले अलग-अलग किये जाने लगे। फिर तो रूई का कपड़ा वनना आसान हो गया। यह काम भारतवर्ष में वहुत पुराने जमाने से होता आ रहा है। मिस्र में भी सूती कपड़ों का इस्तेमाल हजारों वर्षों से हो रहा है। योरप वालों ने यह काम वहुत पीछे सीखा; यहाँ तक कि अव से सवा दो हजार वर्ष पहले जव सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में

* "साप्ताहिक भारत" से।

यूनानी यहाँ आये तो उन्हें कपास की खेती देखकर वहुत आश्चर्य हुआ था; उन्होंने कपास के पौधों को 'ऊन के पौधे' समझा था।

रुई के प्रयोग का ज्ञान हो जाने पर इसका प्रचार चारों ओर वहुत तेजी से होता गया। इस समय संसार भर में गर्मियों में पहनने के लिए अधिकाँश कपड़े सूती ही होते हैं। इसका एक कारण यह भी है कि ये सन पटसन आदि के कपड़ों से वहुत सस्ते पड़ते हैं। वहुत से आदमी सर्दियों में भी सूत का ही कपड़ा पहनते हैं; हाँ, ठण्ढ से वचने के लिए वे मोटा कपड़ा काम में लाते हैं, या उसे दोहरा वनवाकर वीच में रुई भरवा लेते हैं।

रेशमी कपड़ा—आदमी कपड़ा वनाने के लिए एक कीड़े की भी मदद लेता है। यह है रेशम का कीड़ा। यह कच्चा रेशम कातकर गोली वनाता है, जिसे कोवा या कोश कहते हैं। यह मकड़ी के जाले की तरह होता है। आदमी इस कोवे या कोश को लेकर उधेड़ता है, फिर उसका डोरा वनाकर उससे रेशम तैयार करता है। यह काम, जहाँ तक मालूम हो सका है, संसार में सव से पहले चीन में हुआ। भारतवर्ष में भी रेशमी कपड़ों का चलन हजारों वर्ष से है। इन देशों से रेशम का प्रचार सव जगह हुआ। रेशमी कीड़े की खूराक शहतूत के पत्ते हैं। जो देश गर्म और तर होते है, जहाँ शहतूत के पत्ते साल में कई वार आते हैं, वहाँ इन कीड़ों की पैदावार हर महीने हो सकती है। चीन, जापान और भारतवर्ष इसके लिए वहुत उपयुक्त हैं।

यन्त्रों का उपयोग—आजकल ज्यादातर कपड़ा ऊन, रेशम, सन और रुई का वनता है। ऊन पशु से तैयार होता है, रेशम कीड़े से, और सन और रुई खेती से। रुई का इस्तेमाल सव से अधिक होता है। हाँ, अव कुछ चीजें नकली भी वनायी जाने लगी हैं। इन चीजों के डोरे शुरू में किस तरह काते जाने लगे और फिर उनकी वुनाई का ज्ञान कैसे हुआ, चर्खे और करघे का आविष्कार होने के लिए कौन-कौनसी मञ्जिलें पार की गयीं, आदि व्यौरे में जाने की आवश्यकता नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जो चर्खा, चर्खा और करघा आजकल के सभ्य आदमी की निगाह में वहुत तुच्छ जँचते हैं, वे अपने जमाने के वड़े खोज-पूर्ण आविष्कार थे।

एक बार चर्खा, चर्खा और करघा बन जाने पर आदमी उसका सुधार और उन्नति करने की फिक्र में लगा रहा। इसमें उसे थोड़ी-बहुत सफलता तो मिलती ही रही, पर सोलहवीं-सतरहवीं सदी में भाप से चलनेवाले एञ्जिन के प्रयोग से इसका रास्ता बहुत साफ हो गया। योरप में, अठारहवीं सदी में भाप के एञ्जिनों से दूसरे कामों के अलावा कपड़ा बनाने की क्रियाओं में मदद ली जाने लगी। धीरे-धीरे इस काम में उन्नति होती गयी। अब तो बहुत से देशों में कपास ओटने ('जिनिंग') सूत कातने और कपड़ा बुनने के बड़े बड़े कारखाने और मिलें चल रही हैं, उनमें से एक-एक में हजारों आदमी इकट्ठे एक जगह काम करते हैं।

कपडा तैयार करने में स्त्रियों का भाग—इस नयी व्यवस्था मे स्त्रियों का काफी भाग है—बहुत सी जगहों में तो कपड़े के कारखानों में काम करने वालों में से तीन-चौथाई से भी अधिक संख्या स्त्रियों या लड़कियों की है। इसमें आश्चर्य की कुछ बात नहीं है। पहले यह काम घरों में होता था, और प्रायः औरतें ही इसे करती थीं। अब यह काम बाहर कारखानों में होने लगा है, वहाँ भी इसे करने के लिए औरतें पहुँच गयी हैं। अमरीका की मिलों में शुरू में केवल औरतें ही कपड़ा बुनती थीं। जब आदमी उनमें काम करने लगे तो लोग उनकी हँसी करने लगे और कहने लगे कि अब आदमी भी 'औरतों का काम' करते हैं। भारतवर्ष में राष्ट्रीय आन्दोलन में जब कुछ आदमी सूत कातने का काम करने लगे तो दूसरों ने बड़ी हँसी की, और कहा कि म० गाँधी आदमियों से औरतों का काम कराते हैं। इसमें कोई शक नहीं कि यह काम अधिकतर औरतों ने ही किया है, परन्तु अगर आदमी भी इसे करें तो हर्ज क्या है!

कपड़े की रंगाई—कपड़े की बुनाई के साथ-साथ रंगाई का भी काम खूब बढ़ा है। आदमी चीजों का इस्तेमाल उनकी उपयोगिता के कारण ही नहीं करता, वह उन्हें इसलिए भी काम में लाता है कि देखने में अच्छा मालूम हो। पुराने जमाने में, जब स्त्री कपड़ा बुनने लगी तो वह बर्तनों को रंगा करती थी। उसने कपड़े को भी रंगना चाहा। उसे मालूम हुआ की कुछ पौधों के फूल,पत्तों या कुछ खानिज पदार्थों को पानी में घोल कर उसमें कपड़ा डुबोने से कपड़े पर

रंग आ जाता है, और रंग के पानी में कपड़े को उबालने से रंग गहरा या पक्का हो जाता है। इस तरह कपड़ा रंगने की कला का आविष्कार हुआ। अब तो यह एक स्वतंत्र धंधा है, और बहुत से आदमी इसमें लगे हुए हैं।

कपड़ों के विविध उपयोग—आजकल कपड़े का इस्तेमाल आदमी अपने पहनने के लिए ही नहीं करता, वह इसे और भी बहुत-से कामों में लाता है। घरों में फर्श पर दरियाँ और चद्दरें आदि बिछायी जाती हैं। छत के नीचे के हिस्से में चाँदनी लगायी जाती है, कुर्सी और मेजों पर कपड़ा लगा रहता है, कमरों के दरवाजों पर कपड़े के पर्दे टाँगे जाते हैं, सन्दूकों और बाजों आदि पर भी कपड़े का इस्तेमाल बढ़ता जाता है।

कपड़ों का उपयोग; प्राचीन काल में और अब—कपड़े के इस्तेमाल के बारे में अगर हम पुराने समय की और अब की हालत पर विचार करें तो ये बातें सामने आती हैं—

१—अब पोशाक में कपड़ों की तादाद बहुत अधिक है। पहले आदमी एक चद्दर और एक धोती में काम चलाता था। आजकल की (विलायती ढङ्ग की) एक पोशाक में देखिए कितने कपड़े चाहिएँ—बनयान, कमीज, वास्कट, कोट कालर, नेकटाई, टोप, जाँघिया (अण्डरवियर), पतलून और उसके साथ पेटी या गेलिस, मोजे, गेटिस, और जूते।

२—पहले कपड़ा ढीला-ढाला रहता था, अब ज्यादातर बदन से चिपका हुआ (फिट) कपड़ा अधिक पसन्द किया जाता है।

३—अब फैशन का बहुत ध्यान रखा जाता है। पहले हर एक देश के आदमियों का कपड़ा, वहाँ की आबहवा, रस्म-रिवाज, और वहाँ पैदा होने वाली चीजों के अनुसार होता था और उसमें हेरफेर बहुत ही कम होता था। अब तो नित्य नये फैशन निकलते जाते हैं। धनवान लोग नहीं चाहते कि गरीबों की और उनकी वेष-भूषा एक हो। वे समाज में अलग दिखायी देना पसन्द करते हैं। इसके लिए अगर वे हर समय हीरे-मोती या सोने-चाँदी के बहुत से जेवर पहनें तो वह अच्छा नहीं लगता। बस, वे अपनी पोशाक के पुराने ढंग को

बदल कर नये-नये फैशन चलाते हैं, या बहुत बढ़िया कपड़े पहनते हैं। कुछ आदमी ऐसा कपड़ा इस्तेमाल करते हैं, जो चांदी सोने के तार मिला होने के कारण बहुत कीमती होता है। योरप अमरीका में बहुत सी स्त्रियाँ अपनी पोशाक में ऐसे परों का उपयोग करती हैं, जो बहुत ही महंगे मिलते हैं।

४—पहले दूर-दूर के, आदमियों का आपस में मिलना-जुलना कम था, इसलिए हर देश के आदमियों का रहन-सहन और पोशाक जुदा-जुदा ढङ्ग की होती थी। अब लोगों का सम्पर्क बढ़ गया है और बढ़ता जा रहा है, इसलिए किसी जाति या देश का कोई ऐसा पहनावा नहीं रहा, जो दूसरों से पूरी तरह भिन्न या जुदा हो। मिसाल के तौर पर, हैट या टोप पहनने वाले थोड़े-बहुत आदमी सभी जगह मिल सकते हैं। ज्यों-ज्यों दूर-दूर के लोगों का मेलजोल बढ़ेगा, उनके पहनावे का अन्तर दूर होना स्वाभाविक है। हाँ, फैशन, शौकीनी या अमीरी की भावना इस भेद को मिटाने में बाधक है; धनवान लोग दिन में कई बार कपड़ा बदलते हैं, और अलग-अलग अवसर के लिए जुदा-जुदा पोशाक रखते हैं। इसलिए एक ही स्थान के गरीब अमीर के, अमीर-अमीर के और देहाती और शहराती की वेष-भूषा में बहुत अन्तर है, और यह सामाजिक एकता में बाधक है।

पहनावे में विचार की आवश्यकता—ज़रूरत है कि आदमी जो कपड़ा पहने, वह जलवायु के विचार से अनुकूल हो, स्वास्थ्य के लिए हितकारी हो। हम याद रखें कि कपड़ा शरीर के लिए है, न कि शरीर कपड़े के लिए, और यह कि वह ख़ासकर हमारे लिए है, न कि दूसरों को दिखाने के लिए। जब तक आदमी में इस तरह की भावना न होगी, वह नित्य नये और कीमती कपड़े बनवाकर भी सन्तुष्ट नहीं हो सकता। इसके साथ ही वह अपने गरीब भाईबन्दों से दूर होता जाएगा। मानव प्रगति का उद्देश्य दूर-दूर रहनेवाले, सभी जातियों, रङ्गों या धर्मों के आदमियों को एक-दूसरे से मिलाना होना चाहिए न कि उनके बीच की खाई को अधिकाधिक बढ़ाना।

एक बात और। शुरू में आदमी कपड़े नहीं पहनता था, नङ्गा रहता था।

इस तरह के कुछ आदमी पहाड़ों या जंगलों में अब भी मिलते हैं। जब आदमी ने कपड़ा पहनना शुरू कर दिया तो उसके बाद वह धीरे-धीरे अधिक परिमाण में पहनने लगा और किसी भी समय नङ्गा न रहने लगा। इस तरह वह सूर्य की किरणों से मिलने वाली रोगनाशक शक्ति से वंचित रहने लगा। अब कुछ वर्षों से इसकी प्रतिक्रिया होने लग गयी है। योरप-अमरीका में कितने ही नगर निवासी धूप का लाभ उठाने के लिए पहाड़ों पर समुद्र के किनारे, या दूसरी जगह जाते हैं, और कई-कई घण्टे धूप में नंगे पड़े रहते हैं। इससे उनका स्वास्थ्य बहुत सुधर जाता है। बहुत जगहों में बड़े-बड़े मैदान इसलिए सुरक्षित हैं कि पुरुष और औरतें वहाँ नंगे घूम सकें।

विशेष वक्तव्य—कुछ डाक्टरों ने धूप-स्नान का बड़ा महत्व बताया है। उनका मत है कि 'जब से आदमी ने अपने गुप्त अङ्गों को ढकना और कपड़े पहनना शुरू किया, उसी समय से उसमें विषय-वासना बढ़ गयी है और उसके स्वास्थ्य को बड़ा धक्का पहुँचा है; इसलिए आदमी को फिर से नङ्गा रहने लगना चाहिए।' मनुष्य को अपनी नङ्गा रहने की हालत छोड़े इतना समय हो गया है और कपड़ा पहनने का उसे इतना अभ्यास हो गया है कि अब फिर शुरू की हालत में जाना उसके लिए करीब-करीब नामुमकिन ही है। तो भी यह विषय विचार करने योग्य है, और इस दिशा में कुछ कदम बढ़ाया जा सकता है। दिन में थोड़ा-बहुत समय आदमी को नंगे बदन अवश्य रहना चाहिए, जिससे उसे धूप और हवा के संसर्ग का अवसर मिले। इसके अलावा हमें अपने बदन को बहुत अधिक या तंग कपड़ों से ढके नहीं रखना चाहिए। इस दृष्टि से खासकर गर्मी में आधी बाँहों की कमीज और हाफ पैण्ट या धोती का पहनावा अच्छा है। हम इस समय पूरे तौर से प्राकृतिक दशा में नहीं रह सकते तो जहाँ तक कृत्रिमता या दिखावटी वेष-भूषा आदि से बच सकें, वहाँ तक तो उसकी कोशिश करनी ही चाहिए।

———:※:———

छठा अध्याय

घर

—❊❊❊❊—

मनुष्य का प्रारम्भिक निवास;गुफा आदि—शुरू में आदमी कहीं एक जगह जमकर नहीं रहता था। जहाँ उसे भोजन के लिए शिकार या कन्द मूल फल आदि की सुविधा होती,और जहाँ पीने के लिए किसी नदी या झरने का पानी मिल जाता, वहाँ ही रह जाता। कुछ समय बाद जब एक जगह भोजन की सुविधा न रहती, तो वह किसी दूसरी जगह जा रहता। लेकिन जहाँ भी वह रहता, उसे धूप, सर्दी, वर्षा, ओले आदि से अपनी रक्षा करने की जरूरत मालूम पड़ती थी। इसलिए वह या तो किसी पहाड़ या टीले की गुफा में रहता, या जमीन में गड्ढा खोदकर, गुफा सी बना लेता था। कभी-कभी वह किसी छायादार पेड़ के नीचे मोटे पेड़ के खोखले तने में ही अपनी गुजर कर लेता था। इस समय भी संसार के बहुत से हिस्सों में कुछ आदमी जङ्गलों में रहते पाये जाते हैं।

डेरा या तम्बू—जब आदमी ने पशुओं को पालना शुरू कर दिया और उनके लिए उसे कुछ दिन किसी एक ही स्थान पर रहने की जरूरत मालूम हुई तो वह अपने रहने की जगह की तरफ ज्यादा ध्यान देने लगा। चरवाहे या गड़रिये की हालत में उसने लकड़ी के चौखटों पर चमड़ा या खाल फैला कर एक डेरा या तम्बू सा बनाया। जब आदमी को अपने खाने को, और पशुओं के चरने को एक जगह काफी न रहती और वह किसी दूसरी जगह जाने लगता

तो वह इस डेरे को अपने साथ ले जाता था। डेरे को एक जगह से दूसरी जगह लाने-लेजाने की सुविधा रहती ही है।

झोपड़ी—खेती करनेवाले को एक जगह स्थाई रूप से रहने की जरूरत होती है। ऐसी हालत में रहने का स्थान भी ज्यादा टिकाऊ होना ठीक रहता है। किसान ने झोपड़ियाँ आदि बना कर रहना शुरू किया। आदमी का अपने रहने के लिए जगह निश्चित करना, उसके विकास की एक बड़ी मंजिल है। पहले वह सोचता था कि यहाँ थोड़े ही समय तो रहना है,किसी तरह काम चला लिया जाय। पर जब वह बहुत मुद्दत तक एक ही जगह रहने लगा तो वह उस जगह को अपने लिए अधिक-से-अधिक अनुकूल बनाने की कोशिश करने लगा। वह वहाँ खाने पीने, सोने, बैठने, काम करने—सभी बातों की सुविधा रखने का विचार करने लगा। जहाँ तक उसका वश चला, उसने उस जगह को सर्दी गर्मी बरसात सभी मौसमों के लिए अच्छा बनाया।

स्थाई निवास-स्थान का महत्व—स्थाई रूप से एक जगह रहने पर आदमी को घर गृहस्थी का सामान जोड़ कर रखने की सुविधा हो गयी, और वह उन चीजों को इकट्ठा करने लगा जो उसे भविष्य के लिए उपयोगी मालूम हुईं। अब आदमी अपने रहने की जगह को ज्यादा-ज्यादा प्यार करने लगा। बात यह है कि जो घटनाएँ हमारे जीवन में विशेष महत्व की होती हैं, उनके साथ हमें उस जगह की भी याद आये बिना नहीं रहती, जहाँ वे घटनाएँ होती हैं। फिर, हम उस जगह को कैसे भूल सकते हैं, जहाँ हम बहुत समय तक रहे हैं, खाया-पिया है, खेले-कूदे हैं, जहाँ हमने अपने साथियों,सम्बन्धियों या रिश्तेदारों के साथ अपने सुख दुख का बहुत सा समय बिताया है। खासकर अगर हमारा जन्म भी उसी जगह हुआ हो, और हमारे बचपन का ज़माना वहाँ ही गुजरा हो, जब तो उस जगह का महत्व और भी बढ़ जाता है। घर, दौलतखाना, जन्मस्थान, जन्मभूमि, वतन, मातृभूमि आदि का हमारे मन पर कितना प्रभाव है, यह सब जानते हैं।

प्राचीन काल का 'घर'—छोटे-छोटे खेड़े गाँवों की झोपड़ियों से हम इस बात की कल्पना कर सकते हैं कि बहुत पुराने ज़माने के आदमी ने अपने रहने के लिए कैसा 'घर' बनाया था। उसने मिट्टी या गारे की थोड़ी-थोड़ी ऊंची दीवारें बनायीं,

और उनपर फूस या पत्तों का छप्पर सा डाल लिया। इस तरह छोटी-छोटी मड़ैया या झोपड़ी बनने लगीं। इनमें दरवाजे छोटे-छोटे और कम ऊँचे होते थे। धुआँ निकलने या रोशनी और ताज़ी हवा आने के लिए धुआँरा, रोशनदान और खिड़कियाँ प्रायः होती ही नहीं थी। धीरे-धीरे इन झोपड़ियों की बनावट और शक्ल-सूरत में भी सुधार होने लगा।

घरों का निर्माण और विकास—आदमी ने, कुछ और तरक्की करने पर, झोपड़ियों की जगह घर बनाने शुरू किये। जहाँ पत्थर आसानी से मिल सका वहाँ पत्थर से, और दूसरी जगह ईंटों से काम लिया जाने लगा। ईंटें पहले गारे या मिट्टी की बनाकर धूप में सुखा ली जाती थीं, पीछे वे पजावे या भट्टी में पकाई जाने लगी। छत और दीवारों में बाँस बल्ली और लकड़ी की मदद ली जाती थी। पहले अच्छी मज़बूत चौरस छत बनाना बहुत मुश्किल था, इसलिए बारिश का पानी आसानी से बहने देने के लिए छत ढलुआँ बनायी जाती थी, या मकान का ऊपर का हिस्सा गुम्बज या मीनार की शक्ल का बनाया जाता था। अब भी बहुत से मंदिर, मसजिद या गिरजों की बनावट इसी तरह की होती है लोहे का इस्तेमाल मालूम होने पर, उससे मकानों की बड़ी बड़ी चौरस छत बनाने का बहुत सुभीता हो गया है। कई जगहों में, जहाँ लकड़ी बहुत मिली, या भूकम्प आदि की शंका हुई, मकान लकड़ी के बनाये जाने लगे, पत्थर या ईंट का उपयोग बहुत कम किया गया अब साधारण तौर से ईंट या पत्थर का चलन अधिक है। चिनाई में सीमेंट या चूना भी बहुत काम में लाया जाता है। अब तो कहीं-कहीं मकान शीशे आदि के भी बनाये जाने लगे हैं।

पहले मकानों का दरवाजा छोटा और नीचा होता था, जिससे उसे पत्थर आदि से बन्द करने में सुभीता हो। भारतवर्ष में बहुत से मंदिरों का दरवाजा इस समय भी बहुत नीचा है। कुछ लोगों का विचार है कि नीचा दरवाजा होने का उद्देश्य यह है कि दर्शक मन्दिर में झुक कर, सिर नीचा करके (भक्ति भाव से) जाएँ। हमें तो इससे मकान बनाने की पुरानी शैली की याद आती है।

धीरे-धीरे मकानों की बनावट में उनके छतों, दरवाजों, खिड़कियों, बरामदों, छज्जों आदि का बहुत सुधार हुआ है। अब मकान बहुत लम्बे चौड़े बनने लगे हैं।

आजकल मकानों की सजावट भी बहुत होने लगी है। एक खास बात यह है कि पहले मकान एक ही मंजिल के होते थे, अब तो तीन-चार मंज़िल के होना मामूली बात है। अमरीका आदि में तो कुछ मकान पचास-साठ से अधिक मंजिल वाले हैं। इसमें खास उद्देश्य यह रहता है कि जमीन पर जगह कम घिरे। बहुत ऊँचे मकानों की नीचे की मञ्जिलों में हवा इतनी ख़राब हो जाती है कि उनमें रहनेवाले आदमियों का स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता। इसलिए उनमें अच्छी हवा लाने के लिए कृत्रिम या वैज्ञानिक उपायों से काम लिया जाता है। ऊँची मञ्जिलों पर चढ़ने के लिए पहले सीढ़ियाँ या ज़ीने होते थे, अब तो बहुत सी ज़गहों में आदमियों को ऊपर ले जाने के लिए 'लिफ्ट' नाम की मशीन रहती है।

घर बनाने के काम में कितनी प्रगति हुई है, इसका कुछ अन्दाज़ उस योजना से भी होता है जो इंग्लैण्ड में इस समय अमल में लायी गयी है। वहाँ राज्य ने विचार किया कि महायुद्ध समाप्त होने पर जब सैनिक घर लौटें, और सिपाहियों की सेवा-शुश्रुषा करने वाली औरतें वापिस आवें तो उन्हें रहने के लिए मकानों की दिक्कत न हो। इसलिए उसने पचास लाख कामचलाऊ मकान तैयार करा लिए। ये इस्पात के बने हुए हैं, इनका हर एक हिस्सा नाप तोल कर कारख़ानों में बनाया गया है। इस्पात में, बाहरी हल्ला गुल्ला, सर्दी और गर्मी रोकने के लिए एलुमिनियम की परतें अन्दर की तरफ मढ़ दी गयी हैं। हवा और रोशनी का काफी इन्तजाम किया गया है। चौके चूल्हे, स्नान-घर, सामान रखने की आलमारी, पानी बहने की मोरी आदि की व्यवस्था इंगलैण्ड की प्रथा के अनुसार की गयी है। अब मकान बनाने में इतनी प्रगति हो गयी है कि कुछ घंटों में ही एक साफ-सुथरा आरामदेह मकान नट बोल्ट जोड़कर खड़ा किया जा सकता है।

मकान का भावी स्वरूप—इमारतों सम्बन्धी नये प्रयोगों से यह आशा की जाती है कि कुछ समय में मकानों का रंग ढङ्ग बिलकुल बदलने वाला है। "प्लेस्टिक द्रव्यों (चूना सीमेंट आदि पलस्तर करने की चीज़ों), प्लाईउड, एलुमिनियम, मेग्नेशियम इन सब के प्रयोग से घर बनाने और बसाने की कला एकदम बदल जायगी। एलुमिनियम का प्रयोग अब तक केवल सजावट के लिए कभी-कभी होता था। अब खिड़कियों के चौखटे लकड़ी के न होकर एलुमिनियम के ही होंगे। इस्पात की जगह अधिकतर एलुमिनियम से ही काम लिया जायगा।

घर की दीवारें, सीढ़ियाँ, किवाड़ चौखठ सब इन्हीं से बनेंगे। घरों की छतें एस्बेस्टस सीमेंट की होंगी, जिनमें आग नहीं लग सकेगी; पानी या गर्मी सर्दी का असर नही होगा। दीवारों पर बैठाने के लिए पटरियाँ सोयाबीन, ईख, या लकड़ियों के गूदे से बनेगी, पर सुन्दर और मज़बूत होंगी। अनेक प्रकार के कृत्रिम पत्थर अभी से बनाये जाने लगे हैं। फ्लिंट शीशे का व्यवहार होने से घर आल्ट्रावायलेट किरणें भी आती रहेंगी। आज की तरह घरों की दीवारें बराबर एक दूसरे से सटी नहीं रहेंगी—उन्हें जब जी चाहे, उखाड़ा-जोड़ा जा सकेगा। इससे कमरों की बनावट इच्छानुसार बदली जा सकेगी। घरों में प्रकाश की बहुतायत होगी। घरों का वजन इतना कम हो जायगा कि उन्हें आसानी से इधर-उधर लुढ़काया जा सकेगा।"*

गांव, कस्बे और नगर—घरों के साथ साथ गाँवों और नगरों के बारे में भी कुछ विचार कर लिया जाए। पहले ज्यादातर आदमी खेती करते थे, वे झोपड़ियों या कच्चे घरों में रहते थे। धीरे-धीरे-आदमियों ने अपने घर पास-पास बनाना शुरू किया, जिससे वे खेती आदि के काम में एक दूसरे की मदद असानी से ले सकें। पहले दो-चार घर एक जगह हुए, फिर इनकी संख्या बढ़ती गयी। घरों के समूह गाँव कहलाते हैं। कुछ जगहों में धीरे-धीरे कारीगरी और उद्योग धन्धे बढ़े, आबादी ज्यादा हुई, मकान पक्के—ईंटों या पत्थरों के—बनने लगे। बस्ती घनी होती गयी; एक दूसरे से मिले हुए, या पास ही हजारों मकान बन गये। इन स्थानों को कस्बे या नगर कहा जाने लगा। शुरू में बहुत से नगर नदियों के किनारे ही बसाये गये। नदियों के पास होने से नगरों की शोभा बढ़ जाती है; व्यापार की सुविधा रहती है। प्राकृतिक दृश्यों के प्रेमी, भक्त और साधु संत भी नदी के किनारे रहना ज्यादा पसन्द करते हैं। पहले जब हवाई युद्ध नहीं होते थे, नदियों के किनारे बसे हुए नगरों पर हमला करना कठिन होता था। इसलिए राजा महाराजा अपनी राजधानी अकसर नदियों के पास ही बनाते थे। इस तरह धार्मिक, आर्थिक और राजनैतिक कारणों से नदियों के किनारे के नगरों का

* प्रो शचीनाथ झा एम० एस-सी० के, 'बालक' के युद्धांक में प्रकाशित, लेख से।

महत्व वहुत रहा है। नदी के किनारे होने से नगर में जो विशेषताएँ हो जाती हैं, वे कुछ अंश में समुद्र के किनारे होने से भी होती हैं। इसलिए कितने ही वड़े-वड़े नगर समुद्र के किनारे भी वसाये गये।

लोहा, ताम्वा, चाँदी, सोना, कोयला, नमक, मिट्टी का तेल आदि किसी चीज़ की खान निकल आने से, या कोई कारखाना वन जाने से किसी जगह वहुत से आदमियों को काम धन्धा मिल गया और वहाँ व्यापारियों और दुकान-दारों आदि की खासी संख्या रहने लगी। ये स्थान भी नगर वन गये। नगरों के स्वरूप पर युद्ध के साधनों की प्रगति का प्रभाव दूसरी जगह वताया गया है।

नगरों की वृद्धि; मकानों की समस्या—अव सभ्यता की वृद्धि के साथ-साथ नगरों की संख्या तथा विस्तार वढ़ता जाता है। एक-एक नगर की आवादी लाखों आदमियों की होती है—और वरावर वढ़ती ही जाती है। जिन देशों में शिक्षा-प्रचार कम है, वहाँ तो जो आदमी कुछ पढ़ लिख लेता है, वही शहर की तरफ दौड़ता है। लोगों को अपनी विद्या वुद्धि का उपयोग करने, तथा उसे और अधिक वढ़ाने का अवसर नगरों में ही मिलता है। इसी तरह गाँव के जिन लोगों के पास कुछ पैसा जमा हो जाता है, वे भी अपने नये-नये शौक पूरे करने के लिए नगरों में ही रहना पसंद करते हैं। नगरों की आवादी वढ़ती रहने के कारण उनके स्वास्थ्य की समस्या हल नहीं होने पाती। आदमी वाग वगीचों और खेतों आदि के प्राकृतिक दृश्यों से दूर तो रहते ही हैं, उन्हें रहने के लिए साफ हवादार मकान मिलना भी मुश्किल होता है। हजारों, लाखों आदमियों से काम लेने वाले कल कारखानों ने जगह की तंगी के सवाल को और भी जटिल वना रखा है। मजदूरों और साधारण हैसियत के आदमियों के लिए शहरों में कुछ अच्छी तरह गुजर करना करीव-करीव नामुमकिन है। जो वड़े शहर धर्म, व्यापार या शिक्षा आदि के केन्द्र हैं, या वड़ी वड़ी राज-धानियाँ हैं, वहाँ मामूली हालत में भी हजारों आदमी विना घर के रहते हैं। फिर, जव कभी कोई खास उत्सव, जलसा, त्योहार, पर्व या समारोह आदि हो तो ऐसे आदमियों की संख्या का क्या ठिकाना! युद्ध-काल में, ख़ास-ख़ास स्थानों पर दूसरी जगहों से वहुत से आदमी आ जाते हैं और युद्ध

कई-कई वर्ष चलते रहते हैं, ऐसी दशा में मकानों की जो कमी होती है, उसे भुक्तभोगी ही जानते हैं। इस तरह इस समय बहुत से देशों में खासकर नगरों में मकानों की समस्या बड़े विकट रूप में खड़ी है।

विशेष वक्तव्य—कुछ महानुभाव जगह-जगह 'गांव की ओर' का संदेश पहुँचाने की कोशिश कर रहे हैं। अगर इस तरफ काफी ध्यान दिया जाए तो मकान समस्या हल होने में कुछ सुविधा हो। जहाँ गाँवों में बहुत सुधार करने की आवश्यकता है, नगरों में भी ऐसे परिवर्तन किये जाने चाहिएँ कि उनमें ग्राम-जीवन की अच्छी अच्छी बातें अधिक-से-अधिक आ जावें। विज्ञान की प्रगति से मकानों के बनाने की विधि में भारी परिवर्तन होने की आशा है, यह पहले बताया जा चुका है। तब शहरों का भी स्वरूप बदल जायगा। जैसा कि प्रो० शचिनाथ झा ने पूर्वोक्त लेख में लिखा है, 'नये ढङ्ग के घरों के कारण,और समय एवं दूरी का प्रश्न हल हो जाने के कारण, वर्तमान ढंग के शहरों की आवश्यकता नहीं होगी। ये शहर तो उस समय बसाये गये थे, जब मोटरें नहीं थीं, टेलीफोन नहीं थे। अब इनकी आवश्यकता नहीं रहेगी। सामूहिक रूप से विचार स्थिर कर और योजना बनाकर बसने की व्यवस्था की जायगी। पार्कों या मैदानों के चारों ओर, नदी के किनारे, पहाड़ों पर, सुविधा-नुसार घर बनेंगे। सब में रेडियो, टेलीविजन आदि की व्यवस्था होगी। सब में प्रकाश, जल और वायु के वितरण की सुविधा होगी।' इस प्रकार इस समय मकानों की जो समस्या है, वह हल हो जायगी। अवश्य ही ऐसा होने में अभी समय लगेगा, पर उस दिशा में प्रगति हो रही है, इसी बात की ओर हमें यहाँ ध्यान दिलाना है।

——:※:——

सातवाँ अध्याय

स्वास्थ्य

पशु-पक्षियों का स्वास्थ्य—पशु-पक्षी अपना खानपान और रहनसहन आदि ऐसा रखते हैं कि वे कभी बीमार नहीं पड़ते; और अगर कभी किसी खास कारण से कुछ अस्वस्थ होते हैं तो खुद ही अपने खानपान में ऐसा परिवर्तन कर लेते हैं कि जल्दी तन्दुरुस्त हो जायँ। हर प्रकार के पशु पक्षी की साधारण तौर से एक खास उम्र मानी जाती है, वह अकसर उस उम्र तक जीता है। उनमें अकाल-मृत्यु या बेसमय की मौत जैसी कोई बात नहीं होती। यह भी देखने नहीं आता कि मरने से बहुत पहले उनके किसी अंग की शक्ति जाती रहे, और वह अपना काम अच्छी तरह न कर सकें। हाँ, यह बात उन्हीं पशु पक्षियों के बारे में कही जा रही है, जो कुदरती तौर से जंगलों में रहते हैं।

प्राचीन काल में मनुष्य का स्वास्थ्य—शुरू में आदमी प्रकृति के निकट रहता और कुदरती जीवन व्यतीत करता था। इसलिए वह तन्दुरुस्त रहता था, बीमार होने का अवसर बहुत कम आता था, उसके सब अंग अन्त तक अच्छी तरह काम देते थे और, आकस्मिक या अचानक होनेवाली दुर्घटनाओं की बात छोड़ कर, वह अपनी पूरी उम्र तक जीवित रहता था। आदमी की स्वाभाविक उम्र सौ वर्ष मानी गयी है। संसार के पुराने साहित्य से पता चलता है कि पहले आदमी अकसर इतनी उम्र तक जीते थे; और, अच्छी तरह जीते थे, अर्थात् यह नहीं होता था कि बहुत सा समय बीमारी में ही कटे, या शरीर के कुछ अंग अपना काम पूरी तरह न करें। वेदों में यह प्रार्थना आती है, और हिन्दुओं की संध्या का यह एक मंत्र ही है कि 'हम सौ वर्ष तक जीवित रहें, सौ वर्ष तक देखें, सौ वर्ष तक बोलें, सौ वर्ष

तक सुख से रहें, और सौ वर्ष से अधिक समय तक भी।' एक खास बात, जिसकी ओर यहाँ बहुत ध्यान दिया जाता था, वह ब्रह्मचर्य है। शुरू से ही बालकों का पालन-पोषण, रहनसहन और खानपान इस तरह होता था कि उनके मन में सात्विक विचार रहें उनका जीवन सादा रहे, वे इन्द्रियों को वश में में रखें, भोग-विलास, व्यसन, फैशन और शौकीनी में न फँसे। इससे आदमियों के जीवन की नींव मजबूत होती थी, और वे खूब तन्दुरुस्त रहते थे।

दूसरे देशों में स्पार्टा (यूनान) में भी पुराने जमाने में शरीर के स्वास्थ्य और सौंदर्य पर बड़ा ध्यान दिया जाता था। इस बात की पूरी कोशिश की जाती थी कि बच्चा खूबसूरत और तन्दुरुस्त पैदा हो; यहाँ तक कि जो बालक बदसूरत या रोगी होता था, उसे कुछ दशाओं में मार दिया जाता था। प्राचीन काल में आदमी कपड़ा कम पहनते थे, उनका शरीर सुडौल और हृष्ट-पुष्ट होता था, तभी वे सुन्दर दिखायी देते थे। आज कल की तरह नहीं था कि दुबला पतला आदमी अपने शरीर को कपड़ों में ढक कर, अपनी वेशभूषा के सहारे ही सुन्दर दिखने की कोशिश करे। उस समय आदमियों में दिखावट या बनावटीपन नहीं था; वे उस कुदरती खूबसूरती को ही खूबसूरती मानते थे, जो तन्दुरुस्ती में जाहिर होती है।

प्रकृति से दूर होने का स्वास्थ्य पर प्रभाव—धीरे-धीरे आदमी प्रकृति से दूर होता गया, उसका जीवन कृत्रिम या अस्वाभाविक होने लगा। आदमी के भोजन, वस्त्र, और मकान आदि में धीरे-धीरे क्या-क्या परिवर्तन हुए, यह हम पिछले अध्यायों में बता चुके हैं। इन परिवर्तनों से उसके रहनसहन में बहुत कृत्रिमता आ गयी। इसका नतीजा यह हुआ कि अब किसी का सौ वर्ष या अधिक समय जीवित रहना बड़े आश्चर्य की बात मानी जाती है। किसी देश में इतनी उम्र के आदमी इने-गिने ही पाये जाते हैं। बहुधा किसी का [illegible]ु साठ वर्ष तक जिन्दा रहना भी गनीमत समझा जाता है। कितने ही [illegible]री जवानी में इस संसार से विदा हो जाते हैं। और, बहुतों को जवानी

आती ही नहीं, वे उससे पहले ही मर जाते हैं। कितने ही आदमियों को जवानी से पहले बुढ़ापा आ घेरता है।

प्राचीन काल में आदमी का जीवन प्राकृतिक होने के कारण स्वास्थ्य के बहुत से नियमों का स्वयं ही पालन हो जाता था। ज्यों-ज्यों 'सभ्यता' बढ़ती गयी, जीवन में कृत्रिमता आती गयी। गाँवों का ह्रास होता गया। शहरी जीवन बढ़ गया। शहरों में रहनेवाले सभ्य आदमी प्रायः पैदल बहुत कम चलते हैं, थोड़ी दूर जाने के लिए भी साइकिल आदि का उपयोग करते हैं। बहुत से काम मशीनों से हो जाते हैं, इससे आदमी दौड़-धूप और मेहनत के दूसरे कामों से भी जी चुराते हैं। बहुधा आदमी दिन भर घर या कारखाने के भीतर काम करते हैं, जिससे ताजी हवा या आक्सीजन काफी मात्रा में नहीं ले सकते। कितने ही विद्यार्थी और नौकर या कारीगर आदि रात को भी बहुत देर तक काम करते रहते हैं; बिजली की रोशनी होने से इसमें बड़ी सुविधा हो गयी है। इस तरह वे समय पर, और काफी देर तक, नहीं सो सकते। फिर, थियेटर आदि विनोद के साधन भी आज-कल बहुत बढ़ गये हैं। ये भी दर्शकों की नींद पूरी होने में बड़े बाधक हैं। इस तरह आदमियों को व्यायाम और विश्राम का अवसर कम मिलता है, और उनका स्वास्थ्य बिगड़ता जाता है।

नियम पालन और स्वास्थ्य-सुधार—तन्दुरुस्ती और दीर्घजीवन के लिए बहुत जरूरी बातों में से कुछ ये हैं—सादा खानपान, शारीरिक परिश्रम या व्यायाम, काफी समय का विश्राम और निद्रा, खुली और ताजी हवा में रहना, इन्द्रिय-संयम और ब्रह्मचर्य, कुछ अंश तक धूप का सेवन और मन की प्रसन्नता। इन बातों की उपयोगिता भली भाँति सिद्ध है, पर जनता में इनका प्रचार काफी नहीं है, और कितने ही आदमी यह जानते हुए भी कि अमुक बातें हमारे स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हैं, अपनी आदत या दूसरे कारणों से उन्हें छोड़ नहीं रहे हैं। जिन-जिन देशों में विज्ञान की उन्नति और प्रचार अच्छी तरह हो गया है, और अनुकूल वातावरण बन गया है, उनके निवासियों के स्वास्थ्य में काफी सुधार हुआ और हो रहा है। मिसाल

के तौर पर इङ्गलैण्ड वालों की औसत उम्र जो कभी आधुनिक भारत के समान तेइस-चौबीस वर्ष थी, आज ६० वर्ष के करीब है। ब्रिटेन में नाना रोगों से होनेवाली मृत्यु-संख्या बहुत घट गयी है। इसी तरह रूस में, स्वास्थ्य-विज्ञान के नियमों की ओर ध्यान देने का नतीजा यह हुआ है कि ज़ार के जमाने की अपेक्षा, समाजवाद के अधीन १६ वर्ष के लड़के लड़की दो इञ्च अधिक लम्बे और चार पौंड भारी होते हैं।

मौजूदा हालत में संसार के बहुत से हिस्से ऐसे हैं, जो न तो पुराने जमाने की तरह प्राकृतिक जीवन ही बिताते हैं, और न उनमें स्वास्थ्य-विज्ञान के यथेष्ट व्यवहार के साधन ही हैं। इन हिस्सों में लोगों का स्वास्थ्य बहुत खराब है, और औसत उम्र भी बहुत कम है। इसका मुख्य कारण यह है कि इन देशों में सर्वसाधारण इतने गरीब हैं कि वे काफी भोजन नहीं पा सकते। कितने ही आदमियों को साल भर में कभी भी भरपेट भोजन नहीं मिलता।

इसके अलावा बहुत से आदमी जो भोजन करते हैं, उसमें पोषकतत्व बहुत कम होता है। विज्ञान कई बातों में लोगों को प्राकृतिक जीवन की उपयोगिता बता कर उन्हें अपना खान-पान और रहन-सहन सादा बनाने की प्रेरणा करता है। उदाहरण के लिए विज्ञान से मालूम होता है कि मैदे या बेसन का उपयोग स्वास्थ्य की दृष्टि से हानिकर है, उसकी जगह हाथ-चक्की का पिसा आटा अधिक लाभकारी है, भुने हुए अन्न में पोषक तत्व और भी अधिक होते हैं। तले हुए या छौंके हुए पदार्थ, मिठाई, पक्वान आदि का सेवन जहाँ तक हो सके, न करना चाहिए। हरे शाक, तरकारी, फल आदि बहुत गुणकारी है। मिर्च मसाले आदि शरीर के लिए अनावश्यक है। चाय, पान, बीड़ी, सिग्रेट, भाँग, गांजा, शराब, अफीम आदि तो बहुत ही नुकसान पहुँचाते हैं। इसी तरह आदमी को अपना शरीर हर समय बहुत से कपड़ों से ढका रखना ठीक नहीं; बदन में कपड़ा हलका रहे, और जहाँ तक बने कुछ समय तो उसे खुला रख कर धूप लगने देना चाहिए। 'सभ्य' आदमी ने अर्द्ध-नग्न अवस्था से घृणा की, लेकिन विज्ञान ने बतलाया कि

स्वास्थ्य की दृष्टि से 'अर्द्ध-नग्न' रहना अधिक लाभकारी है। इसी तरह सभ्यता ने कई-कई मंजिलों के, आसमान से बातें करनेवाले पक्के मकान बनाये, लेकिन यह अनुभव किया जा रहा है कि बहुत ऊँचे कई-कई मंजिलों के मकान बनवाना आदमी की लाचारी है, क्योंकि आबादी बढ़ रही है और जगह की कमी होती जा रही है;* नहीं तो, एक मंजिल के खुले मकान बहुत उपयोगी हैं। और, कुछ बातों में कच्चे मकान, यदि उनकी उचित सार-संभार बराबर होती रहे, पक्के मकानों से भी अधिक लाभकारी हैं।

सामूहिक योजना—आदमियों के स्वास्थ्य सम्बन्धी कुछ बातें ऐसी हैं जो अलग-अलग किसी आदमी के वश की नहीं, उनके लिए सामूहिक योजना की जरूरत होती है। ज्यों-ज्यों बड़ी-बड़ी बस्तियाँ बनने लगीं, शहरों का क्षेत्र बढ़ने लगा, त्यों-त्यों इस बात की जरूरत बढ़ती गयी है कि गन्दे पानी के बहने के लिए पक्की नालियों का अच्छा इन्तजाम हो, सड़कें चौड़ी हों, बस्ती खुली हो, बीच-बीच में 'पार्क' (उद्यान, फूलवाड़ी या बगीचा) हो। इन बातों के लिए जहाँ तहाँ म्युनिसपेलटियाँ या कारपोरेशन प्रबन्ध करती हैं।

खराब जलवायु वाले स्थानों का विचार—बहुत सी जगह ऐसी है कि वहाँ की जलवायु खराब है। उसमें कुछ बीमारी बनी रहती है। मिसाल के तौर पर कहीं-कहीं मच्छर और मक्खियों की बहुतायत होती है, जिनसे बीमारी बहुत फैलती है। उन्नत देशों में इस ओर ध्यान दिया जा रहा है। मलेरिया रोकने के लिए प्रयत्न बहुत समय से हो रहे हैं। दूसरे योरपीय महायुद्ध के समय इस विषय के कुछ विशेष प्रयोग किये गये। एक औषधि का आविष्कार हुआ है, इसे डी० डी० टी कहते हैं। यह दीवार पर छिड़क दी जाती है तो लगभग दो सप्ताह तक मच्छरों के लिए काल हो जाती है। एक बार छिड़कने पर मक्खियाँ और खटमल तो महीने भर तक

* जगह की बचत के लिए अब आदमियों का बहुत सा काम जमीन के नीचे किया जाने लगा है। कुछ शहरों में रेलें जमीन के नीचे चलती हैं। कहीं-कहीं तो आदमियों के रहने के मकान जमीन के अन्दर ही बनाये गये हैं।

पास नहीं फटकते । नजदीक भविष्य में ही इस दवाई के उपयोग से मलेरिया और पेचिश वाले रोगों की जगहें बहुत कुछ निरोग हो जायंगी, और वहाँ आदमी अपना स्वास्थ्य अच्छी तरह बनाये रख सकेंगे । इसी तरह प्रगति होने पर धीरे-धीरे संसार के सभी स्थान आदमियों के रहने लायक स्वास्थ्यप्रद बनने की आशा है ।

विशेष वक्तव्य—स्वास्थ्य-रक्षा का मन की स्थिति से बड़ा सम्बन्ध है । तन्दुरुस्त रहने के लिए चित्त प्रसन्न रखना और निश्चिन्त रहना बहुत जरूरी है । कुछ आदमी तरह-तरह की अनावश्यक चिन्ताओं में फँसे रहते हैं । इसका नतीजा यह होता है कि शारीरिक सुख के बहुत से साधन रखते हुए भी उनका समय बहुत दुख में बीतता है । आदमी के सामने समय-समय पर ऐसी बातें आया करती हैं, जो उसकी इच्छा या रुचि के विरुद्ध हों; ऐसी हालत मे उसे अपने मन में धैर्य और शान्ति बनाये रखने की खास जरूरत है । नहीं तो स्वास्थ्य पर उसका बहुत बुरा असर पड़ता है । जो आदमी अपने मन पर काबू रख सकते हैं, जिनकी इच्छा शक्ति दृढ़ होती है, वे अपने कष्टों को आसानी से सह लेते हैं, और उनमें अपने रोगों को दूर करने की भी बहुत क्षमता होती है । इस विषय पर विशेष 'मनोरञ्जन' के अध्याय में लिखा गया है ।

आठवाँ अध्याय

चिकित्सा

प्राचीन काल में आदमी सादगी से रहते और कुदरती जीवन बिताने के कारण बहुत तन्दुरुस्त रहता था । पर कभी-कभी वह जैसा भोजन चाहता, वैसा उसे न मिल पाता; या जिस जगह भोजन की सुविधा होती वह उसकी रुचि प्रकृति या स्वभाव के अनुकूल न होती । ऐसी दशा में आदमी बीमार हो जाता ।

रोगों का नामकरण, और निवारण के उपाय; जादू-टोना—धीरे-धीरे आदमी को अपनी बीमारियों के बारे में विचार करना पड़ा। उसने एक-एक बीमारी का एक खास नाम रखा। कुछ खास-खास लक्षणों वाली बीमारी को बुखार, और कुछ दूसरे लक्षणों वाली बीमारी को जुकाम कहा गया। इसी तरह खाँसी, पेचिश, कब्जी, आदि रोगों की बात हुई। पीछे लक्षणों के कुछ-कुछ अन्तर के अनुसार, एक-एक रोग के कई-कई भेद किये गये। शुरू में आदमी ने जब इन रोगों से कष्ट पाया तो उसने समझा कि यह कष्ट मुझे उठाना ही पड़ेगा; वह भाग्यवादी था। पर उसकी यह मनोवृत्ति हमेशा रहने वाली न थी। धीरे-धीरे वह सोचने लगा कि किस तरह इस दुख से छुटकारा पाया जाए। कभी-कभी किसी रोगी के साथ संयोग से कोई घटना हुई और उसके बाद उसका रोग दूर हो गया तो उसने उस घटना का सम्बन्ध रोग के दूर होने से जोड़ लिया; और उस बात का उसके साथियों में प्रचार हो गया। इस तरह रोगों के इलाज के लिए कुछ ऐसे उपाय चल निकले जिन्हें जादू या टोना कहते हैं। कई बीमारियों को दूर करने के लिए, कुछ लोगों में जादू-टोना अब भी प्रचलित है; हाँ, प्रायः उसका रूप कुछ बदल गया है।

औषधियाँ—आदमी अपनी बुद्धि से दूसरे प्रयोग भी करता रहा। उसमें उसे थोड़ी बहुत सफलता भी मिली। इस समय भी उसके प्रयोग चल रहे हैं, और न-मालूम कब तक चलते रहेंगे। तो भी बहुत रोगों की औषधियाँ मालूम हो गयी हैं, और आदमी का चिकित्सा सम्बन्धी ज्ञान धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा है। हम यहाँ इस विषय की कुछ मोटी-मोटी बातों का जिक्र करते हैं।

आदमी ने देखा कि जमीन पर जंगलों में, पहाड़ों पर तरह-तरह की जड़ी बूटी, वनस्पति या पौधे उगे हुए हैं। इनमें से कुछ को तो वह अपने रोज-मर्रा के खाने के काम में लाने लगा था। पर इनके अलावा और भी बहुत शेष थे। धीरे-धीरे आदमी ने इनकी परीक्षा की। यह जरूरी नहीं है कि हरेक परीक्षा जानबूझ कर ही की गयी हो, कुछ परीक्षाएँ बिना विचारे, संयोग से

ही हो गयीं। आदमी ने भूल से या कौतूहल से कोई चीज खा ली, उसे उसका शरीर पर खास तरह का प्रभाव पड़ता हुआ, मालूम हुआ। उसने बारबार अनुभव किया कि इस चीज में यह गुण या दोष हैं। इस तरह नयी-नयी चीजों के बारे में प्रयोग हुआ अथवा एक ही वनस्पति के जुदा-जुदा हिस्सों --जड़, पत्ते, फल, फूल, डंठल आदि --के गुणों की खोज हुई। दो-दो या अधिक चीजों की मिलावट के भी गुण मालूम किये गये। धीरे-धीरे यह ज्ञान संचित होने लगा। पीछे जाकर वनस्पतियों के अलावा खनिज और दूसरे पदार्थों—सोना चाँदी, अभ्रक, पारा, मूंगा, मोती आदि—की भी उपयोगिता मालूम हुई, उन्हें दवाइयों के काम में भी लाया जाने लगा। बहुत पुराने समय से लेकर, जिन लोगों ने इन बेशुमार चीजों के गुणों की परीक्षा करके यह मालूम किया कि वह किस-किस रोग को दूर करने में सहायक होती हैं, उनके लगातार परिश्रम का अन्दाज लगाना बहुत कठिन है।

चिकित्सा शास्त्र, आयुर्वेद—इस तरह धीरे-धीरे चिकित्साशास्त्र का जन्म और विकास हुआ। भारतवर्ष में आयुर्वेद शास्त्र एक उपवेद माना जाता है। यहाँ के बहुत से विद्वान तो इसे अनादि ही समझते हैं, पर आधुनिक इतिहासकारों के मत से भी इस शास्त्र का निर्माण हुए छः हजार वर्ष तो हो ही गये। इस तरह यहाँ इस विषय का उसी समय बहुत ज्ञान हो गया था, जब कि पश्चिमी चिकित्सा-शास्त्र का जन्म भी नहीं हुआ था। यहाँ के जो दूसरे ग्रन्थ अब मिल सकते हैं, उनमें से मुख्य चरक संहिता और सुश्रुत संहिता है। इनमें चरक संहिता औषधि-प्रधान है, और सुश्रुत में शल्य यानी चीरा-फाड़ी का विचार किया गया है। इन ग्रन्थों का समय ईसा से एक हजार वर्ष पहले माना जाता है। इस बीच में इन ग्रन्थों में कोई सुधार या संशोधन आदि नहीं हुआ है, फिर भी इनमें बहुत से विषयों का गम्भीर ज्ञान भरा हुआ है। आयुर्वेद का त्रिदोष (वात, पित, कफ) सिद्धान्त शरीर सम्बन्धी ज्ञान का बहुत बढ़िया उदाहरण है। वैद्यों को नाड़ी का व्यावहारिक ज्ञान होता है, वे बिना किसी यंत्र के सहारे केवल नाड़ी देख कर ही आदमी के शरीर की दशा, विकार या रोग जान लेते हैं।

यूनानी चिकित्सा—आयुर्वेद की तुलना में दूसरे चिकित्सा-शास्त्र बहुत थोड़े समय के हैं। तो भी कुछ पद्धतियाँ बहुत पुरानी हैं। यूनानी चिकित्सा-पद्धति वैद्यक से मिलती जुलती है; यह असल में भारत से ईरान होती हुई यूनान पहुँची और वहाँ के खासकर ऊँची हैसियत के आदमियों की प्रकृति और रुचि के अधिक अनुकूल बनायी गयी। इसकी अधिकतर दवाइयाँ बहुत जायकेदार चटनी, अर्क, शरबत आदि की होती हैं।

पश्चिमी पद्धतियाँ—कुछ पश्चिमी चिकित्सा-पद्धतियाँ तो बहुत ही थोड़े समय की हैं। हाँ, थोड़े से समय में ही इनका अच्छा विकास हो गया है बात यह है कि उन देशों में इनके लिए राज्य की ओर से सुविधाएँ काफी परिमाण में मिलती रहीं। जो हो, समय-समय पर जुदा-जुदा देशों में, और कुछ दशाओं में एक ही देश में, कई चिकित्सा-प्रणालियों का उदय और विकास हुआ। इस समय संसार में छोटी-बड़ी दर्जनों प्रणालियाँ प्रचलित हैं। हरेक प्रणाली में शुरू से अब तक क्या-क्या प्रगति हुई, इसका वर्णन करने के लिए तो एक पूरी पुस्तक भी काफी नहीं है। हम यहाँ कुछ खास-खास प्रणालियों के बारे में कुछ मोटी-मोटी बातों का ही जिक्र करेंगे।

ऐलोपैथी—आजकल एलोपेथी का चलन बहुत होता जा रहा है। इसका सिद्धान्त यह है कि विविध रोगों के कीटाणु* होते हैं, जो भोजन, जल, या वायु आदि के साथ हमारे शरीर में जाते रहते हैं। उनके कारण हम बीमार पड़ जाते हैं। यदि इन कीटाणुओं को मार दिया जाय तो रोग दूर हो जाए। एलोपेथी इन कीटाणुओं को औषधि द्वारा मारने की कोशिश करती है। अब तो कुछ समय से 'इंजेकशन' का उपयोग बहुत अधिक होने लगा है अर्थात् दवाई खाने के बजाय, पिचकारी द्वारा शरीर के अन्दर दाखिल की जाती है, जिससे उसका असर बहुत जल्दी ही होने लगे।

---

* कीटाणु इतने छोटे होते हैं कि खुर्दबीन के बिना दिखायी नहीं देते। एक कीटाणु की लम्बाई एक इंच के पाँच हजारवें हिस्से के करीब, और मोटाई एक इञ्च के पच्चीस हजारवें हिस्से के करीब, होती है।

होम्योपेथी—होम्योपेथी चिकित्सा का आविष्कार करने वाले श्री० सेमुअल हेनिमन का जन्म सन् १७५५ में, जर्मनी में हुआ था। इनका ध्यान इस बात की ओर गया कि तन्दुरुस्ती की हालत में संखिया खाने से आदमी को दस्त, कय (उलटी) और प्यास आदि हैजे की सी शिकायत होने लगती है; फिर संखिये का उचित उपयोग करने से ये लक्षण दूर हो जाते हैं। इसी तरह कुनैन स्वस्थ शरीर में ज्वर पैदा करती है, और कुनैन ही ज्वर की औषधि है। इस तरह 'समः समं शमयति' सिद्धांत का अनुभव करके श्री० हैनिमन ने होम्योपेथी चिकित्सा-पद्धति की नींव रखी। इसकी विशेषता यह है कि इसमें रोग के इतिहास और लक्षणों का खूब अध्ययन किया जाता है, और औषधि बहुत थोड़ी मात्रा में दी जाती हैं। सस्ती होने के कारण गरीबों की झोपड़ियों तक इसकी पहुँच है।

वायकेमी—होम्योपेथी से मिलती हुई एक चिकित्सा-पद्धति बायकेमी है। इसमें यह माना जाता है कि शरीर को ठीक-ठीक चलाने, और सब अंगों का अच्छी तरह पोषण करने के लिए बारह तरह के लवण या नमक की जरूरत होती है। जब ये लवण शरीर में ठीक हिसाब से नहीं रहते, तब आदमी बीमार पड़ जाता है। ओल्डेनवर्ग (जर्मनी) के डाक्टर विलियम एच० सुसलर ने इन लवणों के आधार पर इस पद्धति का आविष्कार किया। स्थूल मात्रा में शरीर तन्तु और कोष इन लवणों को ग्रहण नहीं करते। ये बहुत थोड़ी मात्रा में, बहुत महीन पीस कर दूध की चीनी के साथ दिये जाते हैं। पेट में पहुँचने से पहले ही मुँह के भीतर, कंठ, तालु और कोषों में इन्हें ग्रहण कर लिया जाता है। उसी समय से ये रक्त में मिलने शुरू हो जाते हैं, और ठीक ठिकाने पहुँच कर अपनी क्रिया करने लगते हैं।

प्राकृतिक चिकत्सा—अब उन चिकित्सा-प्रणालियों को लें, जो प्राकृतिक हैं। आदमी ने देखा कि यह जगत पाँच तत्वों से बना है—पृथ्वी (मिट्टी), जल, अग्नि (गर्मी) वायु, और आकाश। आदमी का जीवन इन्हीं पाँच तत्वों पर निर्भर है, और मरने पर उसका शरीर इन्हीं तत्वों में मिल जाता है। बस, इन तत्वों के आधार पर कई तरह की चिकित्सा-प्रणालियाँ

का आविष्कार हुआ। पृथ्वी तत्व के विचार से मिट्टी-चिकित्सा प्रणाली शुरू हुई। इसमें रोगों को दूर करने के लिए मिट्टी के तरह-तरह के उपयोग किये जाते हैं। मिसाल के तौर पर गीली मिट्टी से घाव, घाव को सूजन, चोट से होने वाले बुखार, चर्म रोग, फोड़े-फुन्सी और दाद आदि में, तथा जानवरों के काटने से होनेवाले कष्ट में, बहुत जल्दी आराम होता है। इस जमाने में जल-चिकित्सा प्रणाली को चलाने वाले खास सज्जन लूई-कूने हैं। उन्होंने बहुत परिश्रम करके यह मालूम किया और इसका प्रचार किया कि जल के जुदा-जुदा प्रयोगों से किस तरह बहुत सी बीमारियों का इलाज हो सकता है। इसी तरह अग्नि को लेकर सूर्य-चिकित्सा या धूप-चिकित्सा प्रणाली का आविष्कार किया गया। सूर्य की किरणों में रोगों का नाश करने और खून साफ करने की शक्ति है। इसलिए धूप-स्नान यानी नंगे बदन धूप में बैठना बहुत उपयोगी है, खासकर सवेरे और सायंकाल के समय।* सर्दी की मौसम में तो दिन भर धूप का फायदा उठाया जा सकता है। डाक्टरों का मत है कि बच्चों के शरीर पर धूप लगने से सूखा, पीलिया, और चर्म रोग दूर होते हैं और उनका शरीर जल्दी बढ़ता है। धूप सेवन से स्त्रियों के मासिक धर्म सम्बन्धी कष्ट दूर होते हैं, माताओं के स्तन में दूध बढ़ता है, और बच्चे हृष्ट पुष्ट रहते हैं।

आहार चिकित्सा—एक विचार यह है कि आदमी के भोजन में आवश्यक परिवर्तन करने से बहुत से रोगों का इलाज हो सकता है। इस तरह आहार-चिकित्सा का चलन हुआ है। कितने ही रोगों को दूर करने के लिए सिर्फ फल या सिर्फ दूध आदि का सेवन कराया जाता है। इस तरह फल-चिकित्सा, दूध चिकित्सा, या दही-चिकित्सा आदि का प्रचार हुआ है। चिकित्सा का एक रूप उपवास या निराहार रहना है। इस प्रणाली से शरीर की कई-कई वर्ष की खराबी हटायी गयी है। भोजन-सुधार और प्राकृतिक

*हिन्दुओं में सवेरे और शाम को संध्या करते समय सूर्य की ओर मुंह करके बैठने का नियम हैं। इससे जाहिर है कि ये सूर्य की किरणों से मिलनेवाले लाभ से, बहुत पुराने समय से, परिचित हैं।

उपचार आदि से अकसर ऐसे रोग भी दूर हो जाते हैं जो घातक या लाइलाज समझे जाते हों। बात यह है कि प्राकृतिक चिकित्सा में रोग के बाहरी लक्षणों पर ही ध्यान देने से संतोष नहीं किया जाता। इसमें रोग के मूल कारणों की खोज की जाती है, और जिन कारणों से रोग पैदा होता है, उन कारणों को प्राकृतिक उपायों द्वारा दूर किया जाता है।

चीराफाड़ी या जर्राही—पहले लिखा जा चुका है कि भारतवर्ष में औषधि-शास्त्र के साथ इसका भी जन्म बहुत पुराने जमाने में हो गया था। लेकिन पिछली सदियों में यहाँ इसकी उन्नति का सिलसिला नहीं बना रहा। और, योरप और पीछे अमरीका ने इसमें खूब तरक्की की; तरह-तरह के औजार बनाये; प्रयोग और परीक्षाएँ कीं। इस तरह उन्होंने गजब की सफलता पा ली है; यहाँ तक की अगर एक आदमी के शरीर में खून कम हो तो उसमें दूसरे का खून पहुँचाया जा सकता है। यह भी जरूरी नहीं कि जो खून शरीर में पहुँचाया जाए, वह बिल्कुल ताजा ही हो; खास तरीके से, खून को सुखा कर चूर्ण के रूप में रखा जाने लगा है, वह एक जगह से दूसरी जगह भेजा जा सकता है, और आवश्यकता होने पर चाहे जब काम में लाया जा सकता है। रोगी हृदय को शरीर से अलग करके उसे निरोग करके फिर शरीर में बैठाने के प्रयोग भी सफल हो चुके हैं। इस तरह आपरेशन से कई प्रकार के जख्मी और रोगी आदमियों का इलाज करने की कोशिश हो रही है।

चिकित्सा सम्बन्धी नित्य नये आविष्कार होते हैं। एक उदाहरण टूटे हुए अंगों को जोड़ने के लिए टैंटालम धातु की खोज है। यह धातु काले रंग की और सीसे से तीन गुनी भारी होती है। यह इतनी मजबूत होती है कि इससे मनुष्य के बाल से भी पतला तार खींचा जा सकता है। इससे झिल्लीदार कागज जैसी पतली और कोमल चद्दरें भी बन सकती हैं; तार और चद्दरों से डाक्टर घायल सैनिकों के अंगों को जोड़ते हैं; नयी नाक भी बनायी गयी है। एक डाक्टर ने इससे पेट की दीवारें भी बनायी हैं। इसके पतले तारों से टूटी हुई नसों के सिरे जोड़े जाते हैं। इस धातु का एक खास गुण यह है कि यह मनुष्य के शरीर के तंतुओं और रस से पूरी तरह मिलती

है। यही कारण है कि इससे तंतु ऐसी अच्छी तरह जुड़ जाते हैं कि कुदरती तौर से जुड़े हुए मालूम होते हैं।

प्राणायाम और योग साधन—चिकित्सा के और भी उपाय हैं। भारतवर्ष में प्राणायाम और योग-साधन का चलन लम्बे समय से है। परन्तु यहाँ इसका सार्वजनिक या व्यापक रूप से उपयोग नहीं होता। और, जो आदमी ये क्रियाएँ करते हैं, ये ज्यादातर धार्मिक भावना से करते हैं। योरप अमरीका में इन बातों को वैज्ञानिक रूप देकर इनका सर्वसाधारण में प्रचार किया जा रहा है। 'हिप्नाटिज्म' या मेस्मेरिज्म' आदि क्रियाओं से बहुत सी बीमारियों का इलाज किया जाता है। बहुत से शिक्षा-प्रेमी डाक्टरों का मत है कि व्यायाम की तरह योग-साधन पर जोर दिया जाना चाहिए, योग का विषय विद्यार्थियों के पाठ्यक्रम मे रखा जाना चाहिए। यह स्पष्ट है कि इस दिशा में अधिकाधिक प्रगति होगी।

बुढ़ापे को रोकने के उपाय—इस अध्याय को समाप्त करने के पहले एक बात का और विचार कर लिया जाना चाहिए, वह है बुढ़ापा। यह वह अवस्था है, जब आदमी को बहुत सी बीमारियाँ आ घेरती हैं। उसे रोकने या युवावस्था बनाये रखने के लिए समय-समय पर अनेक उपाय काम में लाये गये हैं। भारतवर्ष में, वैद्यक-शास्त्र में कायाकल्प का विस्तार से वर्णन है। इसके अलावा यहाँ काम मे आनेवाली दवाइयों में च्यवनप्राश नाम की एक मशहूर दवाई है, जो च्यवन ऋषि के नाम से चली है, और जिसका गुण बूढ़े को जवान करना बताया जाता है। जितने आदमी इस दवाई का सेवन करते हैं वे सब बूढ़े से जवान तो नहीं होते, तो भी औषधि बहुत गुणकारी है। वैद्यों का कथन है कि अगर इसमें सब चीजें बहुत उत्तम और शुद्ध हों, और इसे उचित रीति से बनाया जाय तो इसका बहुत अधिक गुण हो। खैर, दूसरे देशों में भी समय-समय पर इस तरह की औषधियों का आविष्कार और चलन हुआ है। बहुत से दवाखाने अमर बुटी, संजीवनी, प्राणदा आदि नाम की दवाइयाँ बनाते और उनके विज्ञापनों में बूढ़े को जवान करने का दावा करते हैं।

आडन सेकार नाम के एक डाक्टर का मत था कि वृद्ध पुरुष की दुर्बलता का कारण अण्डग्रन्थि के रस क्षरण की कमी ही है। इसलिए उसने कुत्तों तथा खरगोशों की अंडग्रन्थियों के रसों के मिश्रण द्वारा एक एमलशन (पीने की चीज) तैयार करके इन्जेक्शन की सलाह दी। उसने स्वयं अपने ऊपर इस का प्रयोग किया। तब उसकी अवस्था ७२ वर्ष की थी। इन्जेक्शनों के बाद उसने यह अनुभव किया कि उसके शरीर में पुनः यौवन की तरंगें हिलोरें मारने लगी हैं। पीछे बहुत से बूढ़ों ने इस नये उपचार का प्रयोग किया, पर यथेष्ट लाभ नहीं हुआ।

इसके बाद और प्रयोग होते रहे हैं। आस्ट्रिया के डाक्टर वोरोनीफ ने यह राय जाहिर की कि आदमी से सब से ज्यादा मिलता हुआ जानवर बन्दर है, इसलिए उसकी कुछ माँस-ग्रन्थियों को आदमी के शरीर में लगा देने से बूढ़े आदमी में जवानी आ जाती है। इस प्रयोग से किसी-किसी का स्वास्थ्य कुछ अंश में सुधरा तो सही, पर असली जवानी वापिस आना और ही बात है। अस्तु, डाक्टर अब इस बात से निराश होकर नहीं बैठ गये हैं। वे नये-नये प्रयोग करते जा रहे हैं; आशा है धीरे-धीरे अधिक अधिक सफलता मिलेगी।

जैसा कि हमने स्वास्थ्य के सम्बन्ध में पिछले अध्याय में कहा है, इस दिशा में मनको शान्त और प्रसन्न रखने, चिन्ताएँ न करने, ईर्षा न करने, इन्द्रियों को वश में करने आदि से बहुत सहायता ली जा सकती है, और लेने का प्रयत्न भी किया जा रहा है। भारतवर्ष में राजयोग और हठयोग आदि के जो उपाय प्रचलित हैं, उन्हें अच्छे वैज्ञानिक ढंग से अमल में लाने की आवश्यकता है। योरप अमरीका में इस तरह का काम हो रहा है, और यह आगे और अधिक होने की सम्भावना है।

विशेष वक्तव्य—आदमी में हमेशा जवान बने रहने की लालसा है। इसी तरह अगर उसे अपने जीवन में कोई कष्ट या दुख न हो तो वह अमर होना चाहता है। अकसर आदमी को अपने घरवालों, रिश्तेदारों, और मित्रों आदि का, तथा अपने गाँव या नगर आदि के वातावरण का इतना मोह हो

जाता है कि अगर उसका वश चले तो वह कभी न मरे । चिकित्सकों ने समय-समय पर ऐसे उपाय खोजने की कोशिश की है कि आदमी की मृत्यु न हो, या उसे मरने पर फिर जिन्दा किया जा सके। इस दिशा में अभी सफलता नहीं मिली है, फिर भी यह तो सिद्ध हो गया कि कभी-कभी जिस आदमी को आम तौर से मरा हुआ समझा जाता है वह असल में मरा हुआ नहीं होता, अगर उसकी नये-से-नये और उन्नत साधनों से आवश्यक चिकित्सा की जाए तो कुछ दशाओं में वह मौत के मुँह में जाने से बच सकता है; उसकी मृत्यु कुछ समय तक टल सकती है। आगे इसमें और अधिक प्रगति होने की आशा है।

—:o:—

नवाँ अध्याय

मनोरञ्जन

--:o:--

मनोरञ्जन की आवश्यकता और उसकी पूर्ति—आदमी के शरीर और मन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। शरीर तन्दुरुस्त रहने से मन प्रसन्न रहता है। इसके साथ ही यह भी सत्य है कि मन प्रसन्न न रहने का स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है। इसलिए आदमी के वास्ते मन की प्रसन्नता का महत्व स्पष्ट है। मनोरञ्जन की आवश्यकता आदमी को स्वभाव से ही, कुदरती तौर पर, होती है। शुरू-शुरू की हालत में आदमी को शारीरिक परिश्रम बहुत करना पड़ता था, दिन भर उसे खाने पीने की चीजों की तलाश करनी होती थी। इसमें दौड़धूप और उछल-कूद काफी हो जाता था। उस समय आदमी को अलग व्यायाम या मनोरञ्जन की जरूरत नहीं रहती थी, और सुविधा भी नहीं मिल पाती थी। पीछे खेती का आविष्कार होने पर, जब कुछ आदमी धनवान या जमींदार बन गये, या गुलामों के मालिक हो गये तो इन्हें दिन भर करने को कोई काम न रहा। इन्हें अब मनोरञ्जन की विशेष या अलग

आवश्यकता हुई। इन्होंने दूसरों से गाने बजाने और नाचने का काम लिया। इस तरह अब कुछ लोगों के लिए मनोरञ्जन दूसरे कामों से अलग हो गया, और कुछ आदमी केवल ऐसा धंधा करने वाले हो गये, जिससे दूसरों का मनोरञ्जन हो। पर ये दोनों ही तरह के आदमी कुल मिलाकर समाज में बहुत ज्यादा नहीं हुए। ऐसे आदमियों की संख्या ही अधिक रही, जिनका रोजमर्रा का मुख्य समय अपनी-अपनी जरूरतें पूरी करने में ही बीतता था। इन्होंने अपने काम के साथ ही अपना थोड़ा-बहुत मनबहलाव करने का रास्ता निकाला। अकसर देखने में आता है कि औरतें हाथ-चक्की से आटा पीसने के साथ-साथ गाती भी रहती हैं। इसी तरह किसान खेत में पानी देने के लिए चरस चलाते समय, और मजदूर भारी बोझ ढोते समय कुछ खास तरह का गीत गाते रहते हैं, इससे उन्हें अपने काम में विशेष थकान नहीं होता।

आज कल-कारखानों के जमाने में मनोरञ्जन का विशेष महत्व है। श्रमजीवियों की थकावट दूर करने की समस्या को हल करने के लिए तरह-तरह के उपाय सोचे जा रहे हैं। कहीं-कहीं काम के घंटों के बीच में विश्राम के साथ संगीत की भी व्यवस्था की जा रही है। खासकर अमरीका में किये गये विविध प्रयोगों से मालूम हुआ है कि अगर श्रमजीवियों की मानसिक प्रसन्नता का प्रबन्ध रहे तो कारखानों में उनके काम का परिमाण बहुत बढ़ सकता है। अस्तु, मनोरञ्जन केवल आर्थिक लाभ के लिए ही नहीं, शारीरिक स्वास्थ्य और सुखमय जीवन के लिए भी बहुत आवश्यक है।

मनोरञ्जन का विशेष समय—अकसर आदमियों को अपने काम-धंधे से किसी समय थोड़ी देर की छुट्टी मिल जाती है। ऐसे समय का उपयोग बहुत से आदमी विश्राम या मनोरञ्जन के लिए कर लेते हैं। प्रायः हरेक समाज ने हफ्ते का कोई एक दिन, या महीने की खास-खास तिथियाँ ऐसी निश्चित कर दी हैं, जिनमें रोजमर्रा के काम-धन्धे से छुट्टी रहे; जैसे ईसाइयों ने रविवार का दिन, और हिन्दुओं में अष्टमी, पूर्णमासी और अमावस्या अवकाश के दिन माने जाते हैं। इसके अलावा तरह-तरह के त्योहार, पर्व, उत्सव आदि भी

निश्चित कर लिये गये हैं, उनका भी एक उद्देश्य यही है कि आदमी काम-धंधे की चिन्ता से मुक्त रहकर खेल तमाशे आदि में मन बहलाए।

मनोरञ्जन के उपाय—अपनी-अपनी स्थिति और सुविधा के अनुसार आदमी कई तरह के मनोरञ्जन किया करते हैं—(१) अपने घर में ही; जैसे ताश शतरञ्ज, चौपड़, केरमबोर्ड, संगीत, हारमोनियम, ग्रामोफोन आदि। इनमें कोई व्यायाम नहीं होता। (२) घर से बाहर चौक या मैदान में तरह-तरह के खेल जिनमें शारीरिक व्यायाम होता है, जैसे कबड्डी, गेंद-बल्ला, क्रिकेट, फुटबाल, हाकी, वालीबाल, गोली-टीप आदि। (३) प्राकृतिक दृश्यों के देखने के लिए नदी के किनारे, पहाड़ पर, समुद्र के किनारे या जंगल में घूमना—पैदल, साइकल पर, घोड़े पर, या मोटर आदि में। (४) सामूहिक मनोरञ्जन जैसे नाटक, सिनेमा, टाकी, टेलीविजन आदि। (५) घुड़दौड़ आदि, जिसमें मनोरञ्जन के साथ, जुए से धन कमाने की भी इच्छा रहती है।

मनोरञ्जन के साधन; ताश का खेल—अब मनोरञ्जन के कुछ साधनों के आविष्कार और विकास का विचार करें। पहले ताश की बात लें। यह खेल बहुत पुराना है, और इसका बड़ा प्रचार है। यह कहा जाता है कि इसकी शुरूआत अरब में हुई। वहाँ किसी बादशाह को अपनी दाढ़ी के बाल नोचने की आदत थी। हाथ खाली होते ही, वह दोनों हाथों से बाल नोचने लगता। इस तरह उसकी दाढ़ी गञ्जी हो चली। मुसलमानों में दाढ़ी का रिवाज है। यह सोच कर बादशाह के चतुर मन्त्री ने ताश का खेल निकाला। अब बादशाह के हाथों को बड़ा मनोरञ्जक काम मिल गया, और दाढ़ी का पिंड छूट गया। यह सत्य हो या न हो, विशेष ध्यान देने की बात यह है कि इस खेल से मनुष्य जाति की सामाजिक स्थिति पर रोशनी पड़ती है। एक पत्ता गुलाम होता है, यह इस बात की याद दिलाता है कि किसी समय कुछ देशों में समाज में गुलामी का बड़ा चलन था। गुलाम को बेगम भी मार डालती हैं; इससे गुलामों का नीचा दर्जा साफ जाहिर है। बेगम बादशाह से पिटती है, इससे स्त्री पुरुषों की असमानता का परिचय मिलता है। बादशाह इक्के से हारता है, इससे यह शिक्षा मिलती है कि एकता या सङ्गठन में

इतना बल होता है कि उसके सामने बड़े से बड़े शासक की भी कुछ नहीं चलती।

शुरू में ताश का खेल बहुत सीधासादा रहा होगा। पीछे धीरे-धीरे इसके बहुत से रूप प्रचलित हो गये। इन खेलों में दो से लेकर छः आदमी तक भाग ले सकते हैं, और कुछ हालतों में खेलनेवालों को, जीतने के लिए, काफी चतुराई से काम लेना पड़ता है। इस तरह खेल-खेल में बुद्धि के विकास का अवसर मिलता है।

गाने-बजाने के बारे में विचार--पहले, आदमी को गाने के साथ किसी बाजे आदि बाहरी साधन की जरूरत न थी। उसके मन में लहर आयी, वह कुछ गुनगुनाने लगा। उससे उसका मन प्रसन्न हुआ, जी बहला। उसका गाना सुन कर दूसरे आदमी को आनन्द हुआ, उसने भी वैसा गाना गाने की कोशिश की, और कुछ हालतों में सफल भी हो गया। अब भी बहुत से आदमी गाने के साथ कोई बाजा नहीं बजाते, और न दूसरों से-ही बजवाते हैं। तो भी बाजे का चलन, और उसका गाने के साथ सम्बन्ध बहुत समय से है। आदमी ने देखा कि उसके गाने के साथ किसी चीज के बजने की आवाज का अच्छा मेल बैठता है; बस, उसने गाने के साथ बजाने का सिलसिला बैठा दिया। गाना बजाना दोनों काम एक साथ होने लगे, कुछ हालतों में बाजा बजाने का काम अलग भी हुआ, और अब भी होता है।

शुरू में आदमी जंगल में रहता था। पशुओं के चमड़े और हड्डियों आदि के अलावा सींगों से भी उसे काम पड़ता था। किसी समय उसने अनुभव किया कि खास तरह के सींग में फूंक मारने से बड़ी अच्छी आवाज आती है, उसने उसका फिर प्रयोग किया। धीरे-धीरे उसे मन बहलाने का साधन, नरसिंहे आदि के रूप में, मिल गया। पीछे वह उसमें सुधार करता रहा। इसी तरह किसी समय आदमी को दूसरे अनुभव हुए। उसने देखा कि जङ्गल में हवा चलती है, और खासकर जब वह बांसों के छेदों में से होकर गुजरती है तो खास तरह की सुरीली आवाज निकलती है। उसने बांस का टुकड़ा लिया; उसमें छेद किये, और अपने मुँह से उसमें फूंक मार कर आवाज

निकालने के प्रयोग किये। इसके फलस्वरूप बांसुरी का आविष्कार हुआ। भारतवर्ष में कृष्ण की बांसुरी ने कैसा चमत्कार दिखाया! पुरुषों और स्त्रियों का ही नहीं, पशु, पक्षियों तक का उसने मन मोह लिया। इस देश में संगीत विद्या ने बहुत पुराने जमाने में ही अच्छी उन्नति करली थी। यहाँ वेदों में, जो संसार का सब से पुराना साहित्य है, एक वेद सामवेद है, जिसमें गानविद्या का विस्तार से विचार किया गया है।

यों तो गाना बजाना आदमी के लिए स्वाभाविक है, पर मालूम होता है कि इसका विकास दूसरे देशों में भारतवर्ष के बहुत पीछे हुआ। यद्यपि योरप अमरीका में आजकल तरह-तरह के बाजों का चलन है, और उन बाजों का संसार के दूसरे देशों में भी बहुत प्रचार है, तो भी वे कला की दृष्टि से इतने ऊँचे दर्जे के नहीं हैं, जितने भारतवर्ष के सारंगी, सितार आदि हैं। यहाँ के आदमियों ने बहुत पुराने जमाने में यह जान लिया था कि शब्द किसी वस्तु के कम्पन या थरथराहट से पैदा होता है। वस्तु के कम्पन से वायु में कम्पन होता है। वायु के कम्प हमारे कान के परदे से टकराते हैं, और उसमें कम्प पैदा कर देते हैं। परदे के कम्पन से हमें वही शब्द सुनाई देता है, जो उस वस्तु से पैदा हुआ है। इस तरह हम शब्द सुनते हैं। इसी सिद्धान्त पर अनेक शब्द-यन्त्र बने हैं।

फोनोग्राफ—बोलने वाले यन्त्र या बाजे बनाने में, संसार में समय-समय पर कैसी प्रगति हुई, इसका कुछ अनुमान आगे दी हुई घटनाओं से लग जायगा। "कहा जाता है कि अब से तीन हजार वर्ष पहले चीन में शब्द-विज्ञान का अच्छा प्रचार था। एक बार एक अफसर ने दो हजार मील की दूरी से चीन के राजा के पास संदेश भेजने का विचार किया। उसने दूत पर विश्वास न किया और एक संदूक देकर उससे कह दिया कि राजा इस बक्स को खोलकर मेरा संदेश सुन लेंगे। दूत ने वह बक्स राजा के सामने ला रखा। राजा ने उसे खोला और उस अफसर की सारी बातें साफ-साफ सुन लीं। इस तरह राजा के पास अफसर के शब्द बक्स में बन्द होकर आ गये। पुस्तकों से मालूम होता है कि चीन में गुप्त समाचार भेजने की यह प्रथा पुराने

जमाने में बहुत प्रचलित रही। योरप में भी प्राचीन काल से फोनोग्राफ बनाने के प्रयत्न हो रहे थे। सन् १२६४ ई० में राजर बेकन ने एक प्रतिमा ऐसी बनायी थी कि वह बात करती थी। इटली निवासी पोर्टो ने सन् १५८० में नल में शब्द बन्द किया था, और नल से शब्द सुनवा कर उसने मनुष्यों को आश्चर्य में डाला था। सन् १६८२ में ग्रेंडलर नाम के एक जर्मन डाक्टर ने शीशे की बोतल में शब्द बन्द किया था। जब वह बोतल खोलता था, उससे शब्द निकलता था और आदमी अचम्भे में पड़ जाते थे। लियोनार्ड ह्वीलर ने १७६१ में बोलती हुई कल बनाने के उपाय समाचारपत्रों में प्रकाशित किये थे। उन उपायों के आधार पर सन् १७६७ में एक विज्ञान-परिषद ने सफलता पूर्वक बोलने वाली कल बनायी। सन् १८५६ में जर्मनी निवासी केनिङ्ग और इंगलैंड निवासी स्टाक ने मिल कर बोलती हुई कल बनायी थी।

"आधुनिक फोनोग्राफ के आविष्कार का श्रेय अमरीका निवासी थामस एलवा एडिसन को दिया जाता है। वैज्ञानिकों ने पहले वायु में होने वाले कम्पों के चित्र उतारने का उद्योग किया। जब कम्प चित्रकारी में पूर्ण सफलता मिल गयी, तब इस बात की कोशिश हुई कि इन शब्द-चित्रों को फिर शब्द में परिणत किया जाए। यह कठिन कार्य एडिसन ने किया। उन्होंने सन् १८७६ में फोनोग्राफ या ग्रामोफोन का आविष्कार किया। धीरे-धीरे इसमें कई सुधार हुए और इसका रूप भी बहुत सुन्दर, और आकार सुविधाजनक किया गया। छोटी सी घड़ी के रूप में भी ग्रामोफोन मिलता है। फोटोफोन नाम की कल द्वारा, गाना सुनते हुए गाने वाले का चित्र भी दिखायी देता है। सिनेमा में टाकी (वाक्पट) का आविष्कार इसी कला द्वारा हुआ है। ग्रामोफोन का प्रचार अब सभी देशों में हो गया है। बड़े-बड़े शहरों में ग्रामोफोन कम्पनियाँ हैं। आगे इसकी और भी अधिक उन्नति तथा प्रचार होने की आशा है।"*

हारमोनियम—ग्रामोफोन की तरह आजकल हारमोनियम का भी बड़ा प्रचार है। इसका आविष्कार सौ वर्ष से ज्यादा हुए, पेरिस (फ्रांस) निवासी

*श्री वासुदेवसहाय बी० ए० की 'आधुनिक आविष्कार' पुस्तक के आधार पर।

एलेग्जेंडर डिवेन ने किया था। पीछे इसमें समय-समय पर सुधार होता रहा। संगीत-मंडलियों द्वारा इसका खूब उपयोग होता है। बहुत सी जगहों में, खास तौर से लड़कियों को इसकी शिक्षा अवश्य दी जाती है।

फोटोग्राफी और सिनेमा आदि—पिछले सदी में सर इम्फ्रे डेवी ने यह बात मालूम की कि यदि किसी कागज को सिलवर-नाइट्रेट में भिगो लिया जाए और उस पर किसी वस्तु की छाया डाली जाए तो कुछ समय के लिए उस वस्तु का छाया-चित्र उस कागज पर उतर आएगा। पीछे नीप्स नाम के एक फ्रांसीसी ने स्थायी चित्र उतारने की विधि निकाली। लेकिन उसे चित्र उतारने में कई घंटे लगते थे। इस लिए वह अचल या स्थिर वस्तुओं का ही चित्र ले सकता था, प्राणियों का नहीं। लुई जेक्स डेगरे के आविष्कारों से यह बाधा भी दूर हुई। अब छाया-चित्रण या फोटोग्राफी का मार्ग सरल हो गया। इससे सिनेमा की भी उन्नति होने लगी। एक वस्तु के अनेक स्थितियों में शीघ्रता से अनेक चित्र लिये जाने लगे। इन चित्रों को बिजली के द्वारा शीघ्रता से घुमाया गया और उनका प्रतिबिम्ब परदे पर डाला गया। इस प्रकार फिल्म के तेजी से घूमने के कारण परदे पर चलते हुए आदमी, लहराते हुए सांप, उड़ते हुए पक्षी, कलोल करते हुए बालक दर्शकों को आनन्द देने लगे। बाद में छाया-चित्रों के साथ ही साथ शब्द-चित्र भी लिये जाने लगे। इन दोनों की सहायता से परदे पर प्रतिबिम्ब शब्द भी करता है। बोलती हुई फिल्म को 'टाकी' कहते हैं।

अब इसमें और प्रगति होकर टेलीविजन का आविष्कार हो चुका है। सिनेमा-घरों में तो फिल्मों में लिए हुए बासी (पुराने) चित्र ही देखने को मिलते हैं, टेलिविजन-घरों में बिलकुल ताजे दृश्य देखे जा सकते हैं। बहुत दूर के स्थान पर कोई आदमी व्याख्यान दे रहा है तो उसी समय वह दृश्य दिख जाता है, और उसकी वाणी भी सुन ली जाती है। अभी बहुत दूर के दृश्य साफ दिखायी नहीं देते; चित्र छोटे तथा हिलते हुए नजर आते हैं।

आशा है, इसमें क्रमशः सुधार होगा फिर, सिनेमा पुराने जमाने की चीज समझी जाएगी।

हानिकारक मनोरंजन—इस समय समाज में मनोरंजन के कई हानिकर रूप प्रचलित हैं। उदाहरण के तौर पर कितने ही आदमी सिनेमा या टाकी में अपना वह समय खर्च कर देते हैं, जो उन्हें सोने में लगाना चाहिए। कितने ही आदमियों को उसका ऐसा व्यसन हो जाता है कि वे कई-कई दिन लगातार उसे देखने जाते हैं। इसका उनके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है; साथ ही, वे इसमें बहुत अधिक खर्च करके अपनी या अपने बाल बच्चों की जीवन-रक्षक या शिक्षा सम्बन्धी जरूरतों को पूरा करने में असमर्थ रहते हैं। ऐसे मनोरञ्जन से यथासंभव बचे रहना चाहिए। दूसरे मनोरञ्जन, जिनसे बचे रहने की आवश्यकता है, वे हैं, जिनमें जुए का, यानी जल्दी ही बिना मेहनत धन हासिल करने का, भाव है। जुए के खेल बहुत तरह के हैं, और ये किसी-न-किसी रूप में बहुत पुराने जमाने से चले आते हैं। भारतीय पाठक जानते हैं कि पांडवों ने जुए में अपना सब राजपाट गंवा दिया था, यहाँ तक कि वे द्रौपदी को भी हार बैठे थे। इस समय यहाँ कितने ही आदमी और नहीं तो दीवाली के अवसर पर ही जुआ खेलते हैं। दूसरे देश भी इससे बचे हुए नहीं हैं। शब्द-पहेली आदि इसके नित्य नये रूप निकलते रहते हैं। यही नहीं, सार्वजनिक रूप से भी जुआ खूब होता है; मिसाल के तौर पर घुड़दौड़, जो पहले शारीरिक व्यायाम और साधारण मनोरञ्जन का काम था, अब एक सामूहिक जुआ ही है। यह बड़े-बड़े अधिकारियों के नाम और सहयोग से होता है, और इसमें लोगों का बेशुमार धन नष्ट होता है।

विशेष वक्तव्य—हमें ऐसा ही मनोरञ्जन करना चाहिए, जिससे कोई नैतिक या आर्थिक हानि न हो, और मन को आनन्द मिले। अच्छा तो यह है कि हमारे काम में ही हमारा मनोरञ्जन हो। हम बाहरी साधनों पर निर्भर न रह कर खुद ही अपना मनोरञ्जन कर सकें। मनोरञ्जन और काम-धन्धे का ठीक मेल या सामंजस्य होना मानव जीवन की भारी सफलता है।

तीसरा भाग

जीवन-निर्वाह

लोहे का युग समाज की अर्द्ध-सभ्य अवस्था का सर्वोच्च काल है। लोहे के हल आदि बन जाने से खेती के धंधे को प्रोत्साहन मिलता है। पत्थर के औजार धीरे-धीरे लुप्त होने लगते हैं। गृह-उद्योग और खेती के विस्तार के साथ-साथ समाज में धन का उत्पादन बढ़ता है। यह धन व्यक्तियों का होता है। खेती और दस्तकारी का काम अलग-अलग लोग करने लगते हैं। श्रम के विभाजन में हम एक कदम आगे बढ़ते हैं। मनुष्य के श्रम की उपयोगिता और बढ़ती है। दास-प्रथा समाज का अनिवार्य अंग बन जाती है। व्यापार का विस्तार होता है।

—प्रेमनारायण माथुर

खेती की सृष्टि करके मनुष्य ने शरीर-रक्षा का अमोघ साधन निकाला। तब से उसे फिर इस बात की चिन्ता न रही कि शरीर को बनाये रखने के लिए देश-देश में घूमते रहना पड़ेगा। वह स्थिर हुआ। उसके स्थिर हो जाने के बाद मन, जो कभी स्थिर नहीं रहता, इस जीवन-व्यवस्था को अधिकाधिक आकर्षक, सुखप्रद और स्थायी बनाने के लिए तरह-तरह की उधेड़-बुन में फंस गया। धीरे-धीरे वह अपनी कल्पनाओं को कार्यरूप, में परिणत करने लगा।

—देवदत्त मिश्र

दसवाँ अध्याय

आदिम अवस्था

—:o:—

मनुष्य जाति ने अब तक क्या प्रगति की है, इसका कुछ ठीक अनुमान करने के लिए यह जान लेना जरूरी है कि आदमी बिलकुल शुरू की हालत में किस तरह का जीवन बिताता था, और उसमें पहले किन बातों में कुछ फरक पैदा हुआ।

जीवन-यात्रा का प्रारम्भिक स्वरूप—मनुष्य जाति चिरकाल से प्रगति कर रही है। हम कहाँ से रवाना हुए थे, इसका हमें ठीक ज्ञान नहीं है। वह स्थान और परिस्थितियाँ इतनी दूर रह गयी हैं कि उनका ठीक-ठीक हाल जानने के लिए अब काफी साधन नहीं हैं। मौजूदा स्थिति में जिन-जिन आधारों से उस समय की बात का अनुमान हो सकता है, उनसे ही किसी नतीजे पर पहुँचने की कोशिश की जाती है। स्थान-भेद के अनुसार मनुष्य की जीवन-यात्रा का प्रारम्भिक स्वरूप कुछ जुदा-जुदा होना भी सम्भव है। निदान, इस विषय में लेखकों में बहुत मतभेद है। तो भी मोटी-मोटी बातों में आधुनिक विचारकों का मत बहुत कुछ मिलता है।

भ्रमण की आवश्यकता—यह समझा जाता है कि शुरू में आदमी की एक बहुत बड़ी जरूरत अपना निर्वाह करने की थी। उसे हर समय खाने-पीने की चीजें तलाश करने की धुन रहती थी। आदमी के पीने के लिए पानी तो एक ही स्थान पर, नदी या झरने से, बहुत दिन तक मिल सकता है; लेकिन खाने के लिए फल आदि बराबर नहीं मिलते रह सकते। थोड़े-बहुत दिन में एक जगह के पेड़ों के फल समाप्त हो जाते, फिर उनकी तलाश में दूसरी जगह जाना पड़ता। इसी तरह शिकार की खोज के लिए घूमना-फिरना

जरूरी था। बिना घूमे-फिरे उसके पास अपने जीवन-निर्वाह का कोई अन्य साधन न था। सुनसान जङ्गल में रहने या घूमने में कठिनाई होती है, इसलिए आदमियों को टोलियाँ बनाना ठीक जंचा। अपने खाने-पीने की जरूरतें पूरी करने से लिए आदमी को नये-नये स्थानों में जाने का, और वहाँ का अनुभव करने का अवसर मिला। इससे उसकी सोचने-विचारने की ताकत बढ़ी।

आग का आविष्कार; इसका महत्व--आदमी की बुद्धि का पहला चमत्कार आग का आविष्कार करना था। शायद शुरू में किसी ज्वालामुखी की लपटों से आदमी को आग का अनुभव हुआ हो, या सम्भव है, पहले-पहल किसी जङ्गल में पेड़ों पर बिजली गिरने या बांस आदि की रगड़ से आग पैदा हुई हो, जिसमें अनेक पेड़ों के जलने के अलावा बहुत से आदमी और पशु-पक्षी जल मरे हों। ऐसी दुर्घटना का आदमी की प्रगति में बड़ा अजीब महत्व है। इससे उसे कहीं कोई अधजला जानवर मिल गया। उसने चखकर देखा तो कच्चे मांस के मुकाबले में उसे ज्यादा स्वादिष्ट पाया। फिर तो उसे भुने मांस की चाट पड़ गयी। धीरे-धीरे वह जङ्गली अनाज को भी आग में भून कर खाने लगा।

आग से आदमी का सर्दी से बचाव होता था। इसके अलावा उसकी, जङ्गली जानवरों से भी, रक्षा होती थी। जङ्गली जानवर आग के पास नहीं आते, इसलिए आग आदमी के वास्ते एक रक्षक या पहरेदार का काम देने लगी। आग से अँधेरे के समय उजाला या रोशनी भी होती है। इस तरह आग बहुत उपयोगी है। जहाँ आग होती, वहाँ आदमी इकट्ठे हो जाते थे। आग ने आदमी को गुफा के एकान्त जीवन की जगह सामाजिक जीवन प्रदान किया, और उसकी प्रगति में एक नया युग शुरू कर दिया। कोई आश्चर्य नहीं कि आग के इस महत्व के कारण ही आदमी उसके प्रति बड़े आदर और भक्ति का भाव रखने लगा, और उसे देवता के रूप में पूज्य मानने लगा हो।

आग की, रक्षा करना स्त्री का काम—मुमकिन है, आग का आविष्कार हो

जाने के समय से ही पुरुष और स्त्री के काम में अन्तर आने लगा हो। पहले स्त्री पुरुष के साथ जङ्गल में घूमती, शिकार करती, मछलियाँ पकड़ती, और कन्द-मूल-फल संग्रह करती थी। लेकिन अब आग की उपयोगिता मालूम होने पर आग को हर समय बनाये रखने का काम था। इसके वास्ते उसमें लकड़ी, घास फूस या कंडे आदि डाले जाते होंगे। जब तक आदमी को यह मालूम नहीं हुआ था कि पत्थर की रगड़ से, और खासकर चकमक पत्थर से आग पैदा की जा सकती है, तब तक आदमी के सामने यह एक बड़ी समस्या थी कि किस तरह आग बराबर बनी रहे, बुझने न पाए। अब तो दियासलाई* होने से आदमी यह भूल ही गये हैं कि यह भी कभी कोई समस्या थी।

अस्तु, उस समय आग की रक्षा करने का काम स्त्री को दिया गया। इसका कारण यह भी था कि जब तक बच्चे चलने-फिरने योग्य नहीं होते, माँ को उनकी सार-संभार करनी पड़ती है। वह घूमने-फिरने का विशेष कार्य नहीं कर सकती। वह बहुत कुछ एक ही जगह रहती हुई बच्चों की देख-भाल करने के साथ आग को बनाये रखने का भी काम करने लगी। क्योंकि आग को दूर-दूर के स्थानों में ले जाना बहुत कठिन था, और उसके बुझ जाने की सम्भावना थी, अब टोली के आदमियों का पहले की अपेक्षा एक ही जगह अधिक लगाव हो गया। आदमी शिकार के लिए घूमते, और उस काम से निपट कर अपनी आग और बच्चों के पास लौट आते। जब शिकारियों को दूर से अपनी आग चमकती हुई दिखायी देती तो उन्हें खुशी होती। वह जान जाते कि सब व्यवस्था ठीक है, कोई गड़बड़ नहीं है, औरतें और बच्चे उसकी इन्तजार कर रहे हैं। अगर रोशनी न दिखायी देती, आग बुझी हुई होती तो उन्हें यह अन्दाज हो जाता कि उनकी गैरहाजिरी में दुश्मन आये हैं, और स्त्रियों और बच्चों को भगा ले गये हैं, या जंगली जानवर

* जिस पाकेट साइज की दियासलाई को आजकल हमलोग काम में लाते हैं, उसका आविष्कार १०० साल से पहले नहीं हुआ था। उसके पहले बड़े लम्बे आकार की दियासलाइयां प्रचलित थीं। —'भारत'

उन्हें खा गये हैं। इससे मालूम होता है कि उस जमाने में आदमी के लिए आग का कितना महत्व था। आग की जगह को वह घर की तरह प्यार करने लग गया।

हमने ऊपर कहा है कि आदमी आग की उपयोगिता जानकर उसे हर समय बनाये रखने लगा। लेकिन एक विचार यह भी है कि आदमी आग की ओर, उसकी उपयोगिता के कारण नहीं आकर्षित हुआ। आदमी का मूल निवास पृथ्वी के ठंडे हिस्सों में नहीं था, इसलिए उसे गरमी की खास जरूरत नहीं थी। रही खाना पकाने की बात। जंगली हालत में आदमी किसी ऐसे कार्य के लिए मेहनत करना नहीं चाहता, जिसका उसे पहले से अभ्यास न हो। इस विचारधारा के अनुसार आदमी आग की तरफ शायद इसलिए आकर्षित हुआ कि उसकी रोशनी उसे अच्छी लगी; आग की लौ में लाल, गुलाबी, पीला आदि तरह-तरह के रङ्ग होते हैं। उसका रूप लगातार बदलता रहता है। जो चीज उसमें आती है, वह जलती रहती है। इससे बड़ा तमाशा मालूम होता है। बालक बहुत दफा केवल इस तमाशे के लिए ही घास-फूस इकट्ठा करके इसमें आग लगाया करते हैं। फिर, उन्हें अन्धेरे से बहुत डर लगा करता है और आग से अन्धेरा दूर होता है। इसलिए वे आग को पसन्द करते हैं। मुमकिन है कि जङ्गली आदमी भी शुरू में तमाशे और रोशनी के कारण ही आग की तरफ आकर्षित हुआ हो। जो हो, जब आग को बनाये रखने की बात उसके सामने आयी, तो यह कार्य प्रायः औरत के सुपुर्द किया गया।

स्त्री के अन्य काम—पोशाक बनाने का काम भी पहले स्त्री ही करती थी। शुरू में कपड़े का काम चमड़े से लिया जाता था। कपड़ा प्रकृति से बना-बनाया नहीं मिलता। उसे बनाने के लिए स्त्री आदमी के मारे हूए जानवर पर से खाल उतारती, उसे गरम करके उस पर से बाल हटाती और तेज पत्थर से काटकर उसे, जैसी जरूरत होती, वैसे ही आकार का बनाती। पहले उसी ने समूर तैयार किया, और चमड़ा और रस्सी बनायी।

गरम देशों में समूर या चमड़े का पहनना ठीक नहीं रहता। वहाँ स्त्री ने

बुनने का काम किया। उसने जङ्गली घास या पौधों के सूखे हुए रेशे लिये और उन्हें एक-दूसरे के ऊपर-नीचे दायें-बायें करके उनसे चटाई सी बना ली। उसका कपड़े के तौर पर इस्तेमाल होने लगा। इसी तरह स्त्री ने भेड़ों की ऊन बंटकर डोरे तैयार किये और उनसे बुनकर कम्बल या कपड़ा तैयार किया। सम्भव है, उसके बुनने की कल्पना मकड़ी को जाला बनाते हुए देखकर हुई हो।

शुरू में स्त्री के पास चीज रखने का कोई साधन न था। आदमी को प्यास लगने पर नदी या चश्मे के पास जाना पड़ता था। जरूरत थी कि पानी किसी बर्तन में लाया जाय, वह पानी पास रखा रहे और जरूरत के समय काम आए। इसी तरह अनाज आदि चीजें बिखरी पड़ी रहें तो खराब और नष्ट होती हैं; इसे रोकने के लिए उन्हें टोकरी में रखना अच्छा रहता है। ऊपर, स्त्री के बुनाई के कार्य का जिक्र किया गया है, उसने उसी तरह अपनी बुद्धि का उपयोग करके टोकरियाँ बना ली। इससे यह भी फ़ायदा हुआ कि दूर से जङ्गली फल या दूसरी चीजों को टोकरी में इकट्ठा करके लाने का सुभीता हो गया। यह टोकरी सिर पर या पीठपर रखकर लायी जा सकती थी। इस तरह बहुत सी चीजें एक ही बार में आ जाती थीं, इन्हें लाने के लिए बारबार जाना आना नहीं पड़ता था।

कुछ टोकरियों की बुनाई बहुत घनी यानी पासपास की गयी, और उन पर गोंद आदि का लेप करके उन्हें ऐसा बना लिया गया कि उनमें पानी या दूध जैसी बहनेवाली चीजें रखी जा सकें। स्त्री को मालूम हुआ कि अगर पत्थर में गड्ढा हो तो उससे भी पानी रखने का काम लिया जा सकता है; यही नहीं, कुछ पत्थर ऐसे भी है कि उन्हें एक खास किस्म के सख्त पत्थर से खोदकर उनके तरह-तरह के बर्तन बनाये जा सकते हैं। कुछ समय बाद यह अनुभव हुआ कि खास-खास पत्थरों के बर्तनों में पानी भर कर आग पर गरम किया जा सकता है। यह जान लेने पर स्त्री ने अनाज को पानी में उबालना शुरू कर दिया। सख्त पत्थर के दो चौरस टुकड़ों की चक्की बना कर स्त्री ने अनाज को दलना या पीसना भी शुरू कर दिया। पहले आदमी

कच्चा माँस या कच्चा अनाज खाता था। बाद में भुनी हुई चीजे खाने लगा। अब तो कई तरह का पका हुआ भोजन तैयार होने लगा।

ऊपर की पंक्तियों से जाहिर है कि जुलाहे, कुम्हार, रसोइये और पीसनहारे का काम शुरू में स्त्री ने ही किया। उसने तरह-तरह की चीजें संग्रह करके रखी, जिससे पीछे सर्दी या बरसात में जरूरत पर काम आएँ। उसने सर्दी से बचने के लिए कपड़ा बनाया, खाना पकाने के लिए अच्छे तरीके निकाले और सब चीजों के रखने के लिए बर्तन या टोकरी आदि बनायी। इस तरह उसने आदमी और बच्चों के लिए सुख का सामान पैदा किया, उसे जरूरत के वक्त के वास्ते जोड़ कर रखा और सभ्यता की गाड़ी आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण भाग लिया।

एक उदाहरण—जंगली हालत में औरत ने कितना काम किया है, इसकी एक मिसाल आगे दी जाती है।* सन् १७७० के लगभग एक अंग्रेज स्त्री ने, जिसका नाम हर्न था, कनाडा में खोज के लिए यात्रा की। उसके दल ने बर्फ में एक अजीब तरह के जूते के निशान देखे। उन निशानों के रास्ते चलने पर उन्हें वहाँ की एक मूल निवासी इण्डियन औरत मिली, जो बिलकुल अकेली थी। श्रीमती हर्न के दल के इण्डियनों ने उससे बातचीत की तो मालूम हुआ कि उस औरत को कबीला उड़ा लाया था। मौका पाकर वह औरत उस कबीले के पास से भाग आयी और उसने अपने घर जाने की कोशिश की। लेकिन उसे रास्ता नहीं मिला। अब उसे बिलकुल अकेले रहते हुए सात महीने हो गये थे। उसके पास कोई बन्दूक या किसी किस्म का हथियार नहीं था। लेकिन उसने फन्दे बना लिये थे। खरगोशों के चमड़े से उसने साफ गरम कपड़े बनाये और उन पर कुछ झालर भी लगायी। उसने अपने रहने के लिए झोपड़ी बनायी और पत्थर से आग तैयार की। वह औरत अपने साथ चार पाँच इञ्च लोहे के तार और तीर की नोक ला सकी थी। इन्हीं चीजों से औजार का काम लेकर उसने अपने वास्ते जूते बनाये,

---

*एम० जे० रेनल्डस की 'हाऊ मैन कांकर्ड नेचर' पुस्तक से।

जिनको पहिन कर वह वर्फ पर घूमती और शिकार का ध्यान रखती थी। अपनी फुरसत के वक्त में उसने वेत की लकड़ी के छिलकों से एक जाल बनाया, जिससे वह वसन्त ऋतु में मछलियाँ पकड़ सके। उसने छः सौ फीट रस्सी तैयार कर ली थी। उसका स्वास्थ्य अच्छा था और वह अपने घर जाने योग्य थी। इस उदाहरण से साफ जाहिर है कि जंगली हालत में स्त्री ने बड़ा काम किया है।

शुरू में आदमी मांस लाया करता था, और स्त्री शाक, भाजी, फल आदि संग्रह करने का काम करती थी। यह एक विचित्र संयोग है कि अब भी बहुत-कुछ वही पुरानी बात हमारे सामने है। अब भी शिकार करने और मछली पकड़ने के शौकीन आदमी ही पाये जाते हैं (चाहे अब भोजन के लिए इन कामों की ऐसी जरूरत नहीं रही); और देहातों में वेर आदि फल लाने का काम ज्यादातर औरतें करती हैं, जैसा कि वे हजारों वर्ष पहले किया करती थीं।

पुरुष के कार्य—अच्छा, शुरू के जमाने में पुरुष ने क्या-क्या काम किया। पहले कहा जा चुका है कि वह शिकारी, माहीगर (मछुआ) और योद्धा था। उसने इन कामों के लिए अपनी बुद्धि का विकास किया। उसने पशुओं को पकड़ने के और मारने के हथियार या औजार बनाये। शिकार करने के लिए आदमी के पास जो भी औजार थे, वे पहले पत्थर या लकड़ी के ही थे। खासकर पत्थर के हथियारों से ही आदमी हाथी जैसे बड़े जानवरों का शिकार करता था। तीर-कमान या धनुष-बाण आदि का आविष्कार तो बहुत मुद्दत के बाद जाकर हुआ। आजकल के पाठकों को तीरंदाजी का महत्व बताने के लिए यह याद दिलाया जाता है कि बारूद का उपयोग होने तक सब बड़ी-बड़ी लड़ाइयों में अच्छे तीर चलानेवालों को ही सफलता मिलती थी। अब तक भी गाँव के आदमी तीर-कमान के भरोसे भयानक-से-भयानक जङ्गली जानवरों का सामना कर लेते हैं। निदान, शुरू में आदमी घातक शस्त्रों की खोज में रहा है, स्त्री ने ऐसे कामों में बहुत कम भाग लिया है। आदमी ने मछलियाँ पकड़ने के लिए नाव या किश्ती भी बनायी। पहले वह

तालाब या नदी के किनारे पर बैठकर ही मछली पकड़ता था। पीछे जब उसने अनेक बार नदियों में लकड़ी के लट्ठे तैरते देखे तो उसे भी तैरने, और नदी में तख्ते डालकर उन पर सवारी करने का विचार आया। अब वह पानी के अन्दर जाकर भी मछलियाँ पकड़ने की सोचने लगा। उसने पहले बेढङ्गी सी किश्ती बनायी, उसे बल्ली या लकड़ी के सहारे चलाया; पीछे सुधार करते-करते वह जहाज तक का उपयोग करना सीख लिया।

आदिम अवस्था के कुछ नमूने—इस अध्याय को पढ़ने से मालूम हो गया कि आदमी ने आरम्भ में किस प्रकार का जीवन बिताया। मनुष्य जाति इस अवस्था से अब बहुत आगे बढ़ गयी है, यहाँ तककि साधारणतया अब उसके पुराने स्वरूप की कल्पना करना कठिन है। परन्तु जगह-जगह ऐसे आदमी मिलते हैं, जो इस जमाने में भी मनुष्य की आदिम अवस्था का जीता-जागता परिचय दे रहे हैं। भारतवर्ष में पहाड़ी और जङ्गली इलाकों के कुछ ऐसे आदमी मौजूद हैं, जिन्हें आधुनिक सभ्यता का कुछ स्पर्श नहीं हुआ है। इसी तरह अमरीका के भीतरी भागों में मध्य और दक्षिणी अमरीका के कुछ हिस्सों में और बहुत से टापुओं में भी ऐसा ही है। विशेष रूप से आस्ट्रेलिया के मूलनिवासी, आदिम अवस्था के मनुष्यों के अच्छे नमूने हैं। वे लोग वृक्षों की छाल पहनते हैं; जङ्गली जानवरों का, और कुछ दशा में आदमी का भी माँस खाते हैं। खेती करने की बात तो दूर रही, इन्हें पशु-पालन का भी अभ्यास नहीं है। इनमें विवाह शादी करने या पारिवारिक या सामाजिक जीवन बिताने का चलन नहीं है। इन लोगों का अपना अजीब और निराला जीवन बिताने का कारण यह है कि इनका 'सभ्य' मनुष्यों से संसर्ग नहीं हुआ है।

विशेष वक्तव्य—आदिम अवस्था के आदमियों का क्षेत्र दिन पर दिन संकुचित या सीमित होता जा रहा है। उनमें से कुछ तो सभ्य आदमी के साथ संधि करते हैं, और कुछ मौत के घाट उतरना पसन्द करते हैं। इस तरह उनकी संख्या और स्थान का क्रमशः ह्रास हो रहा है। सम्भव है, जैसे दूसरे बहुत से स्थानों में हुआ, ऐसे ही कुछ समय बाद उन स्थानों में भी जङ्गली आदमी बिलकुल न रहें, जहाँ वे अब पाये जाते हैं। अस्तु, अभी तो

कहीं-कहीं उनका अस्तित्व बना हुआ है और वे मनुष्य जाति के उस बचपन के समय का चित्र उपस्थित कर रहे हैं, जब उसने अपनी जीवन-यात्रा आरम्भ ही की थी। जो विद्वान चाहें, वे उस चित्र को अध्ययन करके स्वयं यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि मनुष्य ने अब तक कितनी प्रगति की है।

ग्यारहवाँ अध्याय

औज़ारों का उपयोग

—:o:—

आदिम अवस्था में भी आदमी ने अपनी जरूरतें पूरी करने के लिए औजारों का उपयोग किया था. पीछे इस काम में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही है। उसी का यहाँ विचार करना है।

हाथ के अनेक उपयोग—औजारों से काम लेने में आदमी अपने हाथ का कई तरह उपयोग करता है। जब आदमी हाथ में पत्थर लेकर काम करता है, तो मानो उसे पत्थर वाला हाथ मिल जाता है। पीछे, जब वह चाकू लेकर काम करता है तो यह समझा जा सकता है कि उसने पत्थर वाले हाथ से काम लेना बन्द कर दिया है, अब चाकू वाले हाथ से काम करने लगा है। इस तरह कई तरह के औजारों से काम ले सकने से ऐसा मालूम होता है कि मानो उसके अनेक भुजाएँ हैं; वह जब चाहे जिस भुजा से काम ले सकता है। हिन्दुओं ने आठ भुजाओं वाली दुर्गा की तथा सहस्त्रबाहु नामक राक्षस की कल्पना की है। असल में हर एक आदमी ही सहस्त्र-भुजाओं वाला ऐसा व्यक्ति कहा जा सकता है, जिसके एक समय में, या एक साथ सिर्फ दो हाथ काम कर सकते हों।

औजारों के लिए विविध वस्तुएँ; लकड़ी— आदमी हाथ से अनेक काम करता आ रहा है, लेकिन साथ ही उसे औजारों की जरूरत रही है। बिना किसी साधन के, केवल हाथ से विशेष काम नहीं हो सकता। यह जाहिर ही

है कि औजारों के लिए पहले उन्हीं चीजों को काम में लाया गया, जो सीधे प्रकृति से मिल सकती थीं; जैसे लकड़ी, पत्थर और पशु। शुरू में आदमी ने लकड़ी की मदद ली। उसने पेड़ों की डाली, शाखा, तना लता, कांटों आदि का कई तरह उपयोग किया। शाखा या टहनी मारने, फेंकने, मिट्टी खोदने आदि का काम देती थी। जब तक आदमी पत्थर का उपयोग न कर सका उसने हड्डी से ही लकड़ी को नोकीला या तेज किया। जब लकड़ी को मोड़ने की जरूरत हुई तो उसे मद्दी आँच पर सेक कर मोड़ा गया। धीरे-धीरे लकड़ी की गदा, बर्छी, हल, तीर-कमान, फूंकनी (आग में फूंक मार कर उसे तेज करने के लिए) आदि बनायी गयी है।

पत्थर—जहाँ आदमी को पत्थर मिलने लगा, वहाँ औजार बनाने में वह उसका उपयोग करने लगा। पत्थर का टुकड़ा बिना सुधारे ही चोट पहुँचाने या फेंक कर मारने का काम दे सकता है। इस तरह आदमी ने उससे, ऊँचे-ऊँचे पेड़ों के फल तोड़े और जानवरों का शिकार किया। पत्थर से फलों के कड़े छिलके या दूसरी चीजें तोड़ते-तोड़ते कभी पत्थर ऐसा टूट गया कि वह नोकदार या तेज हो गया। आदमी को उससे दूसरी चीजें काटना आसान मालूम हुआ। अब वह अपनी जरूरत के लिए कुछ पत्थरों को तेज किनारे या नोक वाला बनाने लगा। धीरे-धीरे अनुभव और प्रयोग करके आदमी ने पत्थर के चाकू, आरा, रेती, हथौड़ा, कुल्हाड़ी, खूंटा, फच्चर, और गदा आदि बनायीं। पत्थर के साथ लकड़ी का उपयोग होने से इनमें से कई औजारों का बहुत सुधार हो गया। पत्थर के बर्तन बनाये जाने की बात पहले कही जा चुकी है। इस तरह उस जमाने में पत्थर का इतना उपयोग हुआ कि उसे इतिहास में 'पत्थर का युग' कहा जाता है।

पशुओं से मिलनेवाली चीजों—दाँत, हड्डी, सींग, नख और पंजों आदि—से पत्थर और लकड़ी के औजारों का सुधार होने में मदद मिली। कुछ दशाओं में उनका अलग भी उपयोग किया गया, पर उनसे कोई खास नये औजार नहीं बनाये गये।

धातुएँ; लोहे की विशेषता—प्रायः ऐसा अनुमान है कि पहले आदमी 'पत्थर के युग' में रहा। पीछे उसने और आगे कदम बढ़ाया। धीरे-धीरे उसे धातुओं का पता लगा। धातुएँ जमीन में अशुद्ध रूप में मिलती हैं, इनके साथ दूसरी चीजें मिली रहती हैं। आदमी ने पहले इनके अशुद्ध रूप का ही उपयोग किया। पीछे आग का आविष्कार होने पर वह इन्हें शुद्ध करके अधिक उपयोगी बनाने लगा। बहुत से स्थानों में आदमी ने पहले ताम्बे या कांसे की चीजें बनायीं। पीछे विविध प्रयोग करके उसने इन धातुओं में दूसरी धातु मिला कर इन्हें कड़ा करना सीखा। फिर, वह इनका नया-नया उपयोग करने लगा। तो भी औजारों के लिए पत्थर उस समय तक थोड़ा-बहुत काम में आता ही रहा, जब तक कि लोहे का आविष्कार नहीं हो गया। लोहे की खोज हो जाने पर औजार ज्यादातर इस धातु के बनाये जाने लगे। हाँ, यह नही कहा जा सकता कि हर जगह धातुओं में पहले ताम्बे का ही उपयोग हुआ, और लोहे का उसके बाद। कहीं कहीं आदमियों ने पहले लोहे से ही काम लिया है, पीछे उन्हें दूसरी धातुओं का ज्ञान हुआ। किस जगह के आदमियों ने पहले कौनसी धातु का इस्तेमाल किया, यह वहाँ की भौगोलिक और खनिज स्थिति पर तथा मानव बुद्धि के विकास पर निर्भर रहा है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से साबित होता है कि भारतवर्ष में अब से कम-से-कम सवा दो हजार वर्ष पहले भी अनेक धातुओं का उपयोग किया जाता था, और लोहे की बहुत सी चीजें बनायी जाती थी। तो भी इसमें शक नहीं कि पिछले दो सौ वर्ष में लोहे के इस्तेमाल में 'दिन-दूनी, रात-चगुनी' वृद्धि हुई है।

औजारों की वृद्धि—आजकल औजारों का कोई अन्त ही नहीं। हर काम या पेशे वाले कुछ न औजार काम में लाते हैं। नाई का उस्तरा, कैंची, या बाल काटने की मशीन होती है। दर्जी को सूई, कैंची, कपड़ा सीने की और उस पर स्त्री करने की मशीन चाहिए। धोबी को कपड़े पर स्त्री करने की मशीन की जरूरत होती है। डाक्टर के पास तो छोटे बड़े कितने ही प्रकार के औजार होते हैं। सुनार चाहे सोने चाँदी आदि किसी भी धातु के जेवर

बनाए, उसे कुछ औजार रखने ही होते हैं। इसी तरह खेती करने, कपास ओटने, सूत कातने और कपड़ा बुनने आदि दस्तकारियों के औजारों का उल्लेख किया जा सकता है। अब मशीनों का युग है, हर काम के लिए मशीनें बन रही हैं। ज्यादातर मशीनें और औजार लोहे के बनते हैं, या उनमें कुछ-न-कुछ लोहे की जरूरत होती है।

औजार बनाने का विचार कैसे हुआ ?—आदमी अपने पुराने जमाने के औजारों और हथियारों में समय-समय पर सुधार करता रहा है। हमारे वर्तमान साधन पहले किस रूप में थे, और अब हम कहाँ आ पहुँचे हैं, यह बहुत मनोरञ्जक विषय है। लेकिन हमें इसके ब्योरे में न जाकर यही विचार करना है कि आदमी को औजारों का विचार कैसे हुआ। कुछ लोगों का मत है कि आदमी ने अपने शरीर के अंगों को देख कर, उनके नमूने पर ही औजार बनाये हैं—मिसाल के तौर पर मुट्ठी या घूँसा देख कर गदा बनायी गई, दाँतों को देख कर चिमटा और फैले हुए हाथ को देख कर छड़ी आदि। जंगली आदमी के अविकसित मन में ऐसे सूक्ष्म विचार आये हों, इसकी संभावना बहुत कम है। इसके अलावा, ऐसे सिद्धान्त से बहुत थोड़े ही औजारों के बनने की बात समझायी जा सकती है और उसमें भी बहुत कल्पना या अटकल से काम लेना पड़ता है। इसलिए ऐसा सिद्धान्त विशेष मान्य नहीं है। हाँ, यह सम्भव है कि बहुत अर्से के बाद जब आदमी की बुद्धि का काफी विकास हो गया तो उसे, पशु पक्षियों के और खुद अपने शरीर के विविध अंगों को और उनसे होने वाले कामों को देख कर कुछ औजार आदि बनाने का ध्यान आया हो। मिसाल के तौर पर पक्षियों को उड़ते देख कर आदमी के मन में यह इच्छा पैदा हुई हो कि कोई ऐसा उपाय निकल आए, जिससे मैं भी उनके जैसे पंख लगा कर हवा में उड़ सकूँ। इस इच्छा के पैदा होने पर धीरे-धीरे अनेक प्रयोग हुए, जिनका आखिरी नतीजा यह है कि हवाई जहाज के रूप में आदमी ने पंख हासिल कर लिये हैं, और वह दूर-दूर तक न केवल हवाई यात्रा कर सकता है, बल्कि भारी-भारी बोझ भी आसानी से ले जा सकता है।

विशेष वक्तव्य—औजारों ने आदमी को अवकाश या फुरसत दी है। बड़ी मुश्किल से होने वाले अनेक कामों के लिए आदमी को अब कुछ खास मेहनत नहीं करनी पड़ती। लेकिन असल में औजारों से लाभ तभी है, जब आदमी उनके उपयोग के कारण मिलनेवाली फुरसत के वक्त को लोक-हित के कामों में लगाए। फुरसत वाले आदमी मनुष्य जाति के लिए बड़ी समस्या हैं; इनसे समाज की बहुत भलाई हो सकती है; लेकिन अगर ये अपने अवकाश का दुरुपयोग करें तो ये समाज पर भारी भार हैं। हमें चाहिए कि अपनी फुरसत के समय को मनुष्य-जाति के हित और प्रगति में लगाएँ।

बारहवाँ अध्याय

पशुपालन

मनुष्य की प्रारम्भिक प्रगति में, औजारों के उपयोग के अतिरिक्त एक खास बात यह है कि जानवरों को पाला गया, और उनसे कई तरह का लाभ उठाया गया। इस अध्याय में इसी बात का विचार करना है।

पशु-पालन का विचार—आदमी पहले पशु पक्षियों का एक ही उपयोग जानता था, उन्हें मार कर उनके माँस को खा जाना, और उनके चमड़े को ओढ़ना-बिछाना। धीरे-धीरे उसे मालूम हुआ कि कुछ जानवर ऐसे हैं कि उन्हें मारकर उनका उपयोग करने से उन्हें पालकर रखना ज्यादा लाभ-दायक है। आमतौर पर यह कहा जाता है कि आदमी ने जानवरों को, उनकी उपयोगिता के विचार से पालना शुरू किया। लेकिन शुरू में जब कि आदमी को उनकी उपयोगिता मालूम नहीं हो पायी थी, उसने उनको क्यों पाला? सम्भव है, किसी समय शिकारी के पास कभी इतने पशु हो गये कि उसे, खाने के लिए, उन सब को मारने की जरूरत न हुई; कुछ पशु बच रहे। उसने उन्हें अपनी भविष्य की जरूरत पूरी करने के लिए रख छोड़ा। कुछ छोटे पशुओं से आदमी के बच्चे खेलते रहते। बच्चों को छोटे जानवर बहुत

प्यारे होते ही हैं,* कुछ समय पास रहने पर आदमी भी उनसे प्रेम और सहानुभूति करने लगा।

एक दूसरी बात भी हो सकती है। शिकारी के पास पकड़े हुए बहुत जानवर रहते थे, इनमें से कुछ, आदमी से हिल-मिल गये। मिसाल के तौर पर कुत्ता आदमी के साथ बहुत रहने लगा। आदमी उसे मारने के बजाय उसे अपना बचाखुचा खाना देने लगा। धीरे-धीरे आदमी ने कुत्ते को शिकार में मदद देने और रात को चौकसी करने या पहरा देने का काम सिखाना शुरू किया। कुत्ता सध गया। आदमी को कुत्ते की उपयोगिता का अनुभव हो गया; और, वह उसे पालने लग गया। इसी तरह आदमी को मालूम हुआ कि बिल्ली पालने से यह फायदा है कि खाने की चीजों की चूहों से रक्षा हो सकती है। चूहे कितना नुकसान करते हैं, यह सभी जानते हैं, और इनसे अनाज आदि की रक्षा करने का और कोई उपाय इतना सफल नहीं होता। मुर्गी से बहुत दिन तक अंडा मिल सकता है।—गाय, भैंस, बकरी आदि दूध देनेवाले पशुओं के पालने से मांस के लिए बच्चे, और पीने के लिए दूध मिल सकता है। इसी तरह घोड़ा, गधा, बैल, भैंस आदि से सवारी तथा सामान ढोने का काम लिया जा सकता है। इस ज्ञान के होने पर जानवरों को पालने की बात चल निकली।

पशुओं से यात्रा और व्यापार की सुविधा—आदमी को पहले अपने ही खाने-पीने की फिक्र रहती थी। जब वह जानवरों को पालने लग गया तो उसे उनके भोजन की भी फिक्र रहने लगी। उसे पशुओं के चारे के लिए

* कुछ समय पहले की बात है—मेरे एक मित्र का लड़का एक पिल्ला पकड़ लाया और उनसे कहने लगा कि बाबू जी हम इसे पालेंगे। उसके छोटे भाई ने भी यह इच्छा जाहिर की। मेरे मित्र ने बात टालने के लिए कहा कि इसके लिए दूध कहाँ से आएगा। लड़के ने फौरन जवाब दिया कि जो दूध मुझे मिलता है, वह इसे पिला दिया जाएगा, मैं बिना दूध के ही रह सकता हूँ। छोटे भाई ने भी यही बात कह कर अपने त्याग और पशु-प्रेम का परिचय दिया।

अच्छी पैदावार वाली जमीन खोजने की भी जरूरत मालूम होने लगी। वह टोली बनाकर, पशुओं को साथ लिये घूमता रहता। उस समय आदमी घर बना कर कहीं एक जगह नहीं रह सकता था। जहाँ उसे मालूम हुआ कि इस जगह कुछ दिन के लिए जल और भोजन मिल जाएगा, वहाँ ही वह डेरा डाल देता था। जब आवश्यक सामग्री के मिलने में बाधा हुई तो उसे लाचार दूसरे स्थान की यात्रा करनी पड़ती थी। उसे अपने साथ अपने औजार या हथियार आदि भी लेजाने होते थे। और, अगर कुछ खाने पहिनने का सामान बचा होता तो उसे भी छोड़ा नहीं जा सकता था। जब तक इन चीजों को ढोने के लिए कोई साधन न हो, आदमी के लिए एक जगह से दूसरी जगह जाकर रहना बहुत ही कठिन था। आदमी को एक साधन की जरूरत थी; लद्दू जानवरों ने उसकी जरूरत पूरी की।

दुनिया के हर हिस्से में आदमी ने किसी न किसी जानवर को पाल कर उससे सामान ढोने का, और अपनी सवारी का, काम लिया है। जलवायु के अनुसार कहीं घोड़ा बहुत उपयोगी हुआ है, कहीं बैल, कहीं ऊँट, कहीं हाथी, कहीं गधा या खच्चर आदि। कुत्ता, बारासींगा और बकरे आदि से भी खूब काम लिया गया है। इन पशुओं ने अपनी पीठ पर सौदागर और सौदागिरी का सामान ढोकर व्यापार में, और उसके साथ दूर-दूर के आदमियों का आपस में सम्बन्ध बढ़ाने में, खूब मदद दी है।

बैल-गाड़ी, घोड़ा-गाड़ी आदि—धीरे-धीरे आदमी के मन में यह विचार आया कि घोड़े, भैंसे या खच्चर आदि की पीठ पर एक ही आदमी अच्छी तरह सवारी कर सकता है। बहुत हुआ तो दो आदमी उस पर बैठ जाएँ। इसी तरह उसकी पीठ पर थोड़ा सा ही सामान लादा जा सकता है। घोड़े आदि में ताकत तो इतनी है कि वह बहुत अधिक बोझ ले जा सकता है। इसका उपयोग किस तरह किया जाए? आदमी ने देखा कि अगर बहुत से सामान की गठरी या संदूक में रस्सी बाँध कर, रस्सी के सिरे को घोड़े की पीठ से बांध दिया जाए तो घोड़ा उसे घसीट ले जा सकता है। इसके प्रयोग करने पर इसको कुछ असुविधाएँ मालूम हुई। धीरे-धीरे यह अनुभव किया गया कि

अगर संदूक में पहिए लगे हों तो उसे ले जाना आसान हो जाएगा। पहले पहिए बड़े भद्दे और वजनी थे; धुरी आदि भी ठीक न थी। पर ज्यों-ज्यों इस तरीके से काम लिया गया, कुछ सुधार की बात सामने आती गयी। एक के बाद दूसरा सुधार होता रहा। होते-होते अच्छी सुन्दर बैल गाड़ी, भैंसा गाड़ी, रथ, इक्का, तांगा, बग्गी आदि कई तरह की गाड़ियाँ बनने लगीं, जिनमें से कुछ तो आदमी की सवारी के लिए काम आयीं, और कुछ माल ढोने के, या दोनों ही बातों के लिए।

पशु-रक्षा—प्रकृति पर आदमी की यह बड़ी विजय थी कि वह जंगल से जानवरों को लेकर उन्हें पाल सका और अपना सेवक बना सका। शुरू में जिन कबीलों या कुलों को अधिक अच्छे जानवर मिल गये, उन्होंने दूसरे कबीले या कुलों के मुकाबले अधिक तरक्की करने में कामयाबी हासिल की। और, जिस देश में जो जानवर अधिक उपयोगी हुआ, वहाँ उसकी रक्षा करने का रिवाज पड़ गया; उसके मारे जाने का धर्म ने निषेध या मनाही कर दी। भारतवर्ष में गाय को पवित्र माना जाता है; इसका रहस्य इसी में है कि इसका दूध बहुत उपयोगी है—बच्चों, बूढ़ों और रोगियों के लिए तो यह बहुमूल्य ही है। इसके अलावा बैलों से खेती की जाती है, और सामान ढोया जाता है।

मानव प्रगति में पशुओं का भाग—संसार के कुछ हिस्सों में खूब खुले मैदान थे, पेड़ कम थे, और पशुओं के चरने के लिए हरी-हरी घास काफी थी। इन जगहों में आदमी ने शिकार करना जल्दी छोड़ दिया; वह चरवाहा या गड़रिया हो गया। पशु-पालन मनुष्य का सबसे पहला धन्धा है। बाद में पशुओं द्वारा खेती करना ज्यादा लाभदायक साबित हुआ। जब आदमी पशुओं को मारने के बजाय उनके द्वारा अनाज और दूसरी चीजे पैदा करने वाला बन गया तो मनुष्य जाति की तरक्की अधिक होने लगी। खेती के अलावा व्यापार बढ़ाने में भी पशुओं ने बहुत मदद दी है, इसके बारे में विस्तार से आगे लिखा जायगा। सारांश यह है कि पशुओं ने मनुष्य जाति की प्रगति में बड़ा भाग लिया है। जो लोग अपने साथ एक देश से दूसरे

देश कुछ पशुओं (या पौधों) को ले गये, उन्होंने बड़े लोकहित का कार्य किया है*; इतिहास-लेखक उनकी काफी प्रशंसा करें या न करें।

आदमी के सामाजिक जीवन पर प्रभाव—पशु-पालन का काम बढ़ने पर आदमी को उन्हें चराने के वास्ते जंगल में ले जाने, वहाँ उनकी देखरेख करने, और फिर शाम को घर लाने के लिए दूसरों की मदद की जरूरत होने लगी। स्त्री आदमी की मदद किया ही करती थी, अब आदमी के ध्यान में यह बात आयी कि उस पर और बच्चों पर स्थायी रूप से अधिकार जमा कर उनकी मेहनत का अधिक उपयोग करे। पहले स्त्री के लिए कोई बन्धन नहीं था कि वह कितने समय कहाँ रहे; बच्चे भी किसी खास आदमी के अधिकार में नही रहते थे। अब यह बात न रही। पशु-पालन करनेवाला आदमी स्त्री और उसके बच्चों को (चाहे उन बच्चों का पिता कोई भी हो) अपने ही अधीन रखना चाहने लगा। इस तरह पुरुष और स्त्री के स्थायी सम्बन्ध की परिपाटी शुरू हुई; विवाह के लिए स्त्री को कभी राजी से कभी जोर-जबरदस्ती से, लड़झगड़ कर, और कभी उसे या उसके माता-पिता को कुछ प्रलोभन देकर लाया जाने लगा।

अब पशु-पालन के दूसरे नतीजे की बात लें। पहले आदमी में निजी मिलकियत या स्वत्व आदि की भावना न थी। शिकार के लिए जो पशु लाये या मारे जाते थे, उन पर समूह के सभी आदमियों का अधिकार होता था। जब आदमी पशुओं को पालने लग गया तो पाले हुए पशुओं पर पालनेवाले का ही अधिकार माना जाने लगा। इससे लोगों में निजी सम्पत्ति या स्वत्व की भावना होने लगी। जिसके पास अधिक पशु हुए, वह अपनी मंडली में दूसरों से ऊँचा, प्रतिष्ठावान या धनवान समझा जाने लगा। धनी और गरीब, ऊँच और नीच का भेद-भाव शुरू हुआ। धनवान अपने पशुओं की सार-संभार तथा दूसरा काम गरीब या कमजोर आदमियों से लेने लगे। वे कुछ

*कहा जाता है कि गौरांग लोगों के अमरीका पहुँचने से पहले वहाँ कोई गाय नहीं थी। कोलम्बस पहला आदमी था जो अपने साथ अमरीका में मवेशी लाया।

आदमियों को इन्हीं कामों के लिए अपने अधीन रखने लगे। इस तरह मालिक और नौकर की भावना आरम्भ हुई। यह दासता या गुलामी का बीज था, जो पीछे जाकर मानव समाज में बेहद फला फूला। इसके बारे में खुलासा आगे लिखा जायगा।

तेरहवाँ अध्याय

खेती

पिछले अध्याय में बताया गया है कि पशु-पालन के कारण शिकारगाहों की जगह चरागाह बढ़ने लगे। आदमी की प्रगति में अकसर इसके बाद वह अवस्था आयी कि चरागाहों की जगह खेतों ने लेनी शुरू कर दी।

खेती का आविष्कार—आदमी बहुत समय तक उन्हीं चीजों से गुजारा करता रहा, जो उसे कुदरती तौर से मिल जाती थीं, जिन्हें पैदा करने के लिए उसे कुछ मेहनत नहीं करनी होती थी। पीछे कभी ऐसा हुआ कि कुछ अन्न आदि आदमी के खाने से बच रहा, उसे उसने पीछे खाने के लिए रख छोड़ा। कुछ चीजें उसने जमीन में दबा कर रख दीं। बरसात होने पर उनमें अंकुर निकल आया और वे उगने लगीं। आदमी को बड़ा कौतुहल हुआ। उसने यह भी देखा कि पेड़ से गिरे हुए फल का बीज एक जगह पड़े रहने और पानी और मिट्टी का संग साथ होने से पौधा उग आता है, और धीरे-धीरे बड़ा होने पर उसमें कुछ समय बाद उसी तरह के फल लगने लगते हैं। बारबार ऐसी बातों को देखकर आदमी ने सोचा कि अनाज या दूसरे फलों के बीज बोये जा सकते हैं। उसने प्रयोग किया एक चीज बोकर देखी, फिर दूसरी। सफलता मिलने पर आदमी ने अपने प्रयोग का क्षेत्र बढ़ाया। इस तरह खेती का आविष्कार हो गया।

खेतों की सिंचाई—पहले जमीन पर, खासकर गरम हिस्सों में जंगल था। आदमी ने मेहनत कर के जंगलों को काटा, घासफूस हटाया और जमीन साफ

करके खेती के लिए जगह निकाली। खेती करने के लिए एक खास जरूरत पानी की थी। जहाँ बारिश समय पर और ठीक परिमाण में हो जाती, या जहाँ नदी या तालाब पास में होता वहाँ तो पानी की कठिनाई न होती; लेकिन बहुत सी जगह ऐसी थी, जहाँ जमीन की सतह पर पानी खेतों से कई-कई मील के फासले पर था। शुरू में उस पानी को काम में लाने के लिए आदमी में योग्यता और साधन न थे। उसे मालूम हुआ कि जमीन के नीचे थोड़ी या बहुत गहरायी पर पानी हर जगह मौजूद है। उसके लिए कुएँ खोदे गये, और उनमें से पानी निकालने के लिए तरह-तरह के तरीके काम में लाये गये। ढेंकली का उपयोग करके आदमी ने अपनी ही मेहनत से कुएँ से पानी निकाला। जब आदमी को पशुओं का उपयोग करना आ गया तो मोट या चरस और रहट आदि से पानी निकाला जाने लगा। धीरे-धीरे और प्रगति हुई। हाथ से, या भाप या बिजली की शक्ति से, चलने वाले पम्पों का उपयोग होने लगा। अब तो इनकी खूब उन्नति और प्रचार हो रहा है।

बहुत सी रेतीली जगहों में खेती करने के लिए दूर दूर की नदियों में से नहरें लायी गयीं। अब बहुत से इलाकों में नहरों से लाखों एकड़ भूमि में आबपाशी होती है। कितनी ही जगह बाँध बनाकर बंजर भूमि को खूब हरी भरी और उपजाऊ बना लिया गया है। तो भी अभी संसार के बहुत से हिस्सों में सूखे मैदान या रेगिस्तान पड़े हुए हैं, जो आबपाशी की बड़ी बड़ी वैज्ञानिक योजनाओं की प्रतीक्षा में है।

खाद और हल—खेती के लिए पानी की समस्या का हल करते हुए आदमी ने यह भी मालूम कर लिया कि किस फसल के लिए कैसी मिट्टी वाली जमीन अच्छी होती है, और मिट्टी को वैसे गुण वाली बनाने के लिए कैसा खाद देने की जरूरत है। अब बहुत तरह के कृत्रिम, रासायनिक या वैज्ञानिक खाद बड़े पैमाने पर बनाये जाते हैं।

पहले आदमी खेत में बीज बोने के लिए, जब मिट्टी को नर्म और भुर-भुरी करना चाहता था तो फावड़े आदि से ही करता था, इसमें मेहनत बहुत करनी होती थी। धीरे-धीरे उसने हल से काम लेने की बात सोची। जब

उसे लोहे का उपयोग मालूम हो गया तो लोहे के फाल वाला हल बनाया गया और वह पशुओं से चलाया जाने लगा। इससे बड़े-बड़े खेतों की जुताई आसान हो गयी। पर अब तो वैज्ञानिक जगत में उसकी बात पुरानी हो गयी है। अब कई-कई फालों वाले बड़े-बड़े हलों (ट्रैक्टरों) से काम लिया जाता है, जो मोटर-एंजिनों से चलते हैं। उनसे बहुत जल्दी ही हजारों बीघे जमीन की बहुत बढ़िया जुताई हो जाती है।

अन्य सुधार—खेती के सम्बन्ध में आदमी धीरे-धीरे और भी कई सुधार करने में सफल हुआ है। दो अलग-अलग तरह के फूलों के रज से वह एक नयीं तरह का ही फूल का पौधा पैदा कर सकता है। इसी तरह एक वर्ग के दो तरह के पेड़ों की डालियों को मिलाकर उनसे एक नयी तरह का 'कलमी' पेड़ पैदा कर सकता है। साधारण कुदरती तौर पर पैदा होनेवाले पेड़ के फलों का जो रूप रंग और स्वाद होता है, उससे अलग तरह के रूप रंग और स्वादवाले फलों को पैदा कर सकना आदमी के ज्ञान की अनोखी विजय है। अब तो कई छोटे फलों को बड़े आकार का पैदा किया जा सकता है; उनका रंग और स्वाद बदला जा सकता है। अगर फल में बहुत बीज होते हैं या उस पर कांटे होते हैं तो उसे कम बीज वाला और बिना कांटों वाला भी किया जा सकता है। जितने समय में कोई फल कुदरती तौर से पक कर तैयार होता है, उतने समय तक उसकी इन्तजार करते रहने में इस युग के आदमी को अपना अपमान मालूम होता है; वह उसे कृत्रिम रूप से गर्मी पहुँचा कर बहुत थोड़े समय में पका लेता है। ये प्रयोग अभी थोड़ी सी चीजों के बारे में हुए हैं, और कुछ खर्चीले भी पड़ते हैं, पर आदमी आगे-आगे बढ़ता जा रहा है। अब तो ऐसा समय आने की आशा की जाने लगी है, जब किसी फल फूल या शाक भाजी की जरूरत होने पर आदमी उसके बीज मिट्टी में डालकर, बिजली की किरणों से उसे कुछ घंटों में ही पैदा कर सकेगा।

पौधों के रोगों का निवारण—बहुत मुद्दत हुई, आदमी का ध्यान इस ओर गया था कि पौधों में कुछ रोग लग जाते हैं, और उनसे फसल खराब

हो जाती है। धीरे-धीरे उसने जाँच और प्रयोगों से पता लगाया कि किस फसल को कौनसा कीड़ा खराब करता है, और उस कीड़े को किस तरह नष्ट किया जा सकता है।

खेती की विविध अवस्थाएँ—खेती की कई अवस्थाएँ रही हैं– (१) जहाँ जगह मिल गयी, खेती करना। खुर्पे आदि से मिट्टी नर्म करना, फालतू घास-फूस निकाल देना; इसके सिवा जमीन में हल आदि न चलाना. खाद या पानी भी न देना। कुछ समय तक एक जगह खेती करके पीछे नयी जमीन में काम शुरू करना। (२) जंगल काट कर, खेती के लिए जमीन साफ करना, उसमें हल चलाकर, खाद और पानी देकर खेती करना, पीछे कुछ समय तक उस जमीन को पड़ती छोड़कर उसे कुदरती तौर पर उपजाऊ होने देना। फ़सलों का हेरफेर करके खेती करना। (३) जमीन के छोटे-छोटे टुकड़ों में गहरी खेती के ढँग पर काम करके तरह-तरह के शाक, भाजी अन्न या फल आदि पैदा करना, जिससे परिवार का भरण-पोषण अच्छी तरह हो सके। (४) व्यापार के लिए खेती करना। कुछ खास-खास चीजों को बड़े परिमाण में पैदा करना, और उन्हें बेचकर नफा कमाना। इसमें विशेष ध्यान अपनी जरूरत का नहीं रखा जाता, खास उद्देश्य बाहरी माँग की पूर्ति करना होता है। इसमें मशीनों और वैज्ञानिक उपायों का खूब उपयोग होता है। (५) राज्य भर के लोगों की सब आवश्यकताओं की पूर्ति का ध्यान रखकर, बड़े-बड़े खेतों में सामूहिक पद्धति से खेती करना। इसमें भी मशीनों और वैज्ञानिक उपायों का भरसक उपयोग किया जाता है। रूस और अमरीका आदि में ऐसी खेती बहुत की जाती है।

खेती का प्रभाव; आदमी के निवास में स्थायित्व—उत्पादन पद्धति में परिवर्तन होने पर समाज के आर्थिक जीवन में, और पीछे सारे सामाजिक जीवन में परिवर्तन होता ही है। खेती का काम शुरू होने पर आदमी का, घर बना कर, एक जगह रहना जरूरी हो गया; यह बात पशु-पालन के समय से होने लगी थी, अब और ज्यादा हो गयी। बात यह है कि खेती के लिए जमीन तैयार करनी चाहिए, जोतने, बोने, और पानी देने (सिंचाई)

का काम करना चाहिए। इसके बाद फसल पकने तक उसकी जंगली जानवरों से रक्षा करनी चाहिए। तब फसल काट कर अन्न और भूसा आदि इकठ्ठा किया जा सकता है। इन कामों को करते हुए आदमी को जहाँ-तहाँ घूमते रहने की सुविधा नहीं होती। और, घूमना पहले भोजन के लिए ही तो होता था, अब भोजन खेती से मिलने को दशा में घूमने की जरूरत भी नहीं रही। खेती ने आदमी को एक जगह स्थायी रूप से रहने के लिए मजबूर किया। अब उसे अपने रहने के लिए (और साथ में अपने पशुओं को रखने के वास्ते) एक स्थान निश्चित करना पड़ा। इस तरह आदमी झोंपड़ा या घर बनाने लगा। ग्रामों या नगरों का निर्माण होने लगा।

सभ्यता के केन्द्र—खेती से पशुओं के लिए भी अनाज, घास तथा चारे का इन्तजाम हो गया। पशुओं के बढ़ने से आदमी को अपने कामों में कैसी सुविधा हुई, व्यापार और उसके साथ ज्ञान और सभ्यता का कैसा प्रचार हुआ, यह दूसरी जगह बताया गया है। खेती गरम देशों में अच्छी होती है, जहाँ पानी भी काफी हो। यही वजह है कि शुरू जमाने के सभ्यता के केन्द्र ऐसे ही स्थान रहे, जहाँ बड़ी-बड़ी नदियाँ या तालाब हों। भारतवर्ष में पाँच नदियों वाला पंजाब, सिन्धु नदी वाला सिन्ध प्रान्त, और गंगा ब्रह्मपुत्र की घाटी, चीन में यांटिसिक्याँग और हवाँगहो की घाटी, पश्चिमी एशिया में दजला और फ़ुरात की घाटी, मिस्र में नील नदी की घाटी इस तरह की अच्छी मिसालें हैं। ऐसी जगहों में पैदावार अच्छी होने से आदमी खूब बसे और बढ़े।

पुरुष और स्त्री के काम में अन्तर—पहले बताया गया है कि आग का आविष्कार होने पर पुरुष और स्त्री के काम में अन्तर होने लग गया था। खेती का काम आरम्भ हो जाने पर पुरुष लड़ाई और शिकार के अलावा इस काम में भी अधिक लगा रहने लगा। स्त्री उसके इस काम में मदद तो देती, पर उसका मुख्य कार्य घर की व्यवस्था संभालने का होता गया। इसमें अन्य बातें भी सहायक हुईं, जिनका विचार 'पुरुष और स्त्री का पद'-शीर्षक अठारहवें अध्याय में किया गया है। यहाँ यही जिक्र करना है कि खेती का

काम चल निकलने पर पुरुष अधिकतर बाहर का और स्त्री अधिकतर घर का काम करने वाली हो गयी। इस प्रकार एक स्थूल श्रम-विभाग की स्थापना हुई, जो औद्योगिक उन्नति और खासकर मशीनों के समय में बढ़ता और सूक्ष्म होता गया।

खेती का अन्य सामाजिक प्रभाव—पशु-पालन की अवस्था में पुरुष स्त्री का सम्बन्ध स्थायी होने लग गया था। खेती से स्थायी विवाह का चलन बढ़ा, क्योंकि किसान को अपने काम में स्त्री और बालकों की मदद की बहुत जरूरत होती है। स्थायी विवाह के अलावा एक बात और हुई। अब जमीन भी पशुओं की तरह बड़ी सम्पत्ति बन गयी; ज्यों-त्यों आदमी एक जगह अधिक समय तक रहा, वह उसे अधिकाधिक उपयोगी बनाता गया। धीरे-धीरे आदमियों की आबादी बढ़ी। जमीन का परिमाण नपा-तुला था, खासकर खेती के उपयोग में आनेवाली अच्छी जमीन की हर जगह एक सीमा थी। उसकी माँग बढ़ने लगी। अब आदमी उस पर अपना अधिकार जमाने लगे। हरेक यह चाहने लगा कि जितनी ज्यादा जमीन मेरे कब्जे में आ जाए, उतना ही अच्छा है।

अब बलवान या लड़ाकू आदमियों ने बढ़िया जमीन अपने कब्जे में कर डाली। जिन लोगों के पास जमीन ज्यादा हुई, वे समाज में बड़े और प्रतिष्ठित माने जाने लगे, उन्होंने अपनी जमीन में खेती कराने के लिए दूसरों से, अनाज या मजदूरी देकर, काम लेना शुरू किया। इनमें दूसरों को अपना नौकर या दास बना कर रखने की सामर्थ्य हो गयी। इन्हें खुद कोई मेहनत का काम करने की जरूरत नहीं रही; दिनभर फुरसत रहने लगी। इन लोगों ने अपनी फुरसत का उपयोग कलाओं का आनन्द लेने में, अपना मनोरञ्जन करने में, किया। कलाएँ सभ्यता का निर्माण करनेवाली होती है। इस तरह देखा जाय तो खेती ही सभ्यता की जननी है, और किसान सभ्यता का अग्रदूत है।

परन्तु जहाँ खेती ने आदमी के खाने के सामान की बहुतायत करते हुए मिट्टी को मानो सोना बना दिया, इसके कारण बहुत से आदमियों को गरीब

और गुलाम बनना पड़ा, समाज में असमानता या विषमता बढ़ी। अधिकतर देशों में किसान असभ्य और गँवार ही कहलाय; और उसकी मेहनत से लाभ उठानेवाले, उसकी पैदा की हुई फसल का बहुत सा हिस्सा किसी न किसी बहाने ले लेने वाले जमींदार, जागीरदार, राजकर्मचारी या राजा आदि 'सभ्य' गिने गये।

उन्नत देशों का किसान—अब खासकर योरोप और अमरीका के बहुत से किसान बहुत खुशहाल हैं। वहाँ किसान पढ़ा लिखा होता है, उसे अपने काम में राज्य से पूरा सहारा यिलता है। उसे जो बात जाननी होती है, वह सहज ही उसे मालूम हो सकती है। उसके प स मोटर होती है, उसके घर में टेलीफोन और रेडियो आदि की व्यवस्था होती है। उसके खेत से थोड़ी ही दूर रेल, तार, डाक आदि का इन्तजाम रहता है। वह मोटर में बैठ कर खेत पर जाएगा, यहाँ मशीनों की मदद से खेती का काम बहुत आसानी से कर लेगा और समय पर घर आ जाएगा। उसकी खेती वैज्ञानिक ढँग से होगी। कटाई, सफाई सब काम मशीन से हो जाएगा। वह अखबार पढ़ता है, और रेडियो समाचार सुनता है। उसे मालूम है कि चीजों का बाजार-भाव क्या है। उसे कोई ठग नहीं सकता। वह व्यापारी से, टेलीफोन से बात करके, उसके पास मोटर लारी आदि में माल भेज देगा, उसे रकम मिल जाएगी। उसे खाने-पीने की कोई कमी नहीं। वह तो मनोरञ्जन के बढ़िया साधनों का उपयोग करता है, यहाँ तक कि मकान को सर्दी में गरम और गरमी में ठंडा रखने के साधन उसे प्राप्त हैं। वह अपने बाल-बच्चों की अच्छी तरह परवरिश करता है, और उन्हें जैसा चाहता है लिखा-पढ़ा सकता है। उसका सुखी जीवन खेती सम्बन्धी प्रगति के परिणाम का सुन्दर उदाहरण है; हाँ, उसके दूसरे देशों के भाई उसके मुकाबले में बहुत पीछे हैं; जमीन आसमान का, या स्वर्ग नरक का अन्तर है। जो हो; यह साफ जाहिर है कि आधुनिक उन्नत देशों का किसान पुराने जमाने के किसानों से, और इस समय के भी बहुत से किसानों से, कितना आगे बढ़ा हुआ है।

चौदहवाँ अध्याय

उद्योग-धंधे

नयी-नयी चीजों का निर्माण—आरम्भ में लोगों का रहन-सहन एकसा था, उनकी जरूरतें बहुत कम थीं। उनका काम अधिकतर उन्हीं चीजों से चल जाता था, जो उन्हें जंगलों में मिल जाती थीं। उनमें स्वामित्व या मिल्कियत का भाव न था। पीछे पशुपालन और खेती से कुछ आदमी दूसरों की अपेक्षा अधिक धनवान हो चले। उन्हें अपनी शौकीनी या विलासिता के लिए तरह-तरह की चीजों की जरूरत होने लगी। अब उनके लिए कोई आदमी एक चीज बनाता, कोई दूसरी। पहले की तरह उत्पत्ति अब भी छोटी मात्रा की ही होती थी, पर वह ज्यादातर खेती से पैदा होनेवाली चीजों की नहीं होती थी, उसमें धीरे-धीरे कारीगरी की चीजों का अनुपात बढ़ रहा था। इस दशा में हर एक कारीगर या उसका परिवार स्वतंत्र रूप से अपना काम करता था। वह उस काम का खुद ही निरीक्षण और प्रबन्ध करता था। वह अपनी पूँजी लगाता, और अपनी बनायी हुई चीज के नफे-नुकसान का मालिक होता। जिस जगह किसानों की बस्ती कम, और कारीगरों की बस्ती अधिक होती थी, उसे कस्बा या नगर कहने लगे। कारीगर जो चीजें बनाते थे, उन्हें अपने नगर में अथवा आसपास में बेच लेते थे। धीरे-धीरे कपड़ा, तेल, बरतन, गुड़ आदि के बहुत से धन्धे हो गये।

उद्योग धंधों का जन्म—किस देश में कौनसा उद्योग धंधा कब जारी हुआ, यह बहुत विस्तार का विषय है; इसके लिए तो अलग ही पुस्तक चाहिए, बल्कि कई पुस्तकों की जरूरत होगी। फिर, इस विषय की ब्योरेवार बातों में मतभेद की भी बहुत गुंजायश है। तो भी यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अब से लगभग छः हजार वर्ष पहले बहुत से धंधे शुरू हो

नहीं हो गये थे, उनकी अच्छी उन्नति भी हो गयी थी। सिंध और पञ्जाब में पिछले वर्षों में दो शहरों के इतने समय पहले के खंडहर मिले हैं। इनमें दूसरी चीजों के अलावा सोने चाँदी के गहने, ताँवे, राँग और सीसे के मेल के बरतन और हथियार पाये गये हैं। इससे मालूम होता है कि इन स्थानों के उस समय के आदमी धातुओं का इस्तेमाल जानते थे। मिट्टी के तरह-तरह के खिलौने और बरतन भी इन खंडहरों में मिले हैं। खास बात है कि वहाँ चर्खों और सूती कपड़ों के नमूने भी मिले हैं।

अकसर विद्वानों का यह मत है कि जिस तरह रेशमी कपड़ा सब से पहले चीन में बनाया गया, उसी तरह सूती कपड़ा सबसे पहले बनाने का गौरव भारतवर्ष को है। संसार का सब से पुराना साहित्य वेद है, और उसमें भी कपड़ा बनाने का साफ़ तौर से जिक्र आया है। इससे जाहिर है कि जब वेदों की रचना हुई, उस समय भारतवर्ष में यह व्यवसाय अच्छी तरह चल निकला था। यह भी कहा जा सकता है कि बहुत से उद्योग धंधों की जन्मभूमि भारतवर्ष ही है। कई देशों में इनका ज्ञान पहले पहल यहाँ से ही गया; फिर उन देशों से संसार के दूसरे देशों में, और एक हिस्से से और दूसरे हिस्सों में फैला। किसी-किसी देश ने किसी-किसी धंधे में थोड़े ही समय में दूसरे देशों के मुकाबले में बहुत ज्यादा तरक्की कर ली, यहाँ तक कि कुछ हालतों में तो यह कहावत ठीक उतरी कि गुरू गुड़ ही रह गये, और चेला चीनी हो गये।

औज़ारों को चलानेवाली शक्ति; पशु, हवा, पानी, भाप, बिजली—उद्योग धन्धों में औजारों से काम लेना जरूरी था। उनके बारे में पहले लिखा जा चुका है, उन्हें आदमी पहले हाथ से ही चलाता था। जब आदमी पशुओं को पालने लग गया तो औजार चलाने का काम बहुत-कुछ उनसे लेने लगा। धीरे-धीरे आदमी को मालूम हुआ कि डोंगी या किश्ती चलाने आदि के काम में हवा की ताकत या नदी के प्रवाह से काम लिया जा सकता है। अब वह इनका भी उपयोग करने लगा। तो भी ज्यादातर काम पशुओं से (या गुलामों से) लिया जाता रहा। यह सिलसिला हजारों वर्ष चलता रहा। आदमी को इनसे अच्छी कोई दूसरी शक्ति का ज्ञान अब से दो सौ वर्ष

पहले तक न हुआ। वह खोज में लगा था। सोलहवीं और सतरहवीं सदी में किये गये प्रयत्न सफल नहीं हुए, अन्त में अठारहवीं सदी के पिछले हिस्से में भाप के जोर से चलनेवाली मशीनों का प्रयोग सफल हो गया तो कल-कारखाने बढ़ने लगे। भाप से उद्योग-धन्धों को बेशुमार ताकत मिल गयी। एक स्टीम एंजिन क्या बन गया, हजारों या लाखों आदमियों के बराबर काम करनेवाला साधन तैयार हो गया। पीछे तेल के एंजिन का आविष्कार किया गया। अब तो बहुत से देश बिजली की शक्ति का भी स्वागत करते जा रहे हैं। कितनी ही बड़ी-बड़ी कपड़े की मिलें और दूसरे कल-कारखाने अब बिजली से चल रहे हैं।

कल कारखानों की उन्नति—शक्ति के इन नये साधनों के उपयोग का यह नतीजा होना स्वाभाविक ही था कि कल-कारखाने बड़-बड़े बनें, और माल की उत्पत्ति बड़े पैमाने पर हो। कल-कारखाने शहरों में बने; अथवा, जिन जगहों में वे कायम हुए, वहाँ धीरे-धीरे शहर बस गये। विज्ञान की उन्नति के साथ मशीनों में सुधार होता गया। मशीनों से, शुरू-शुरू में, चीजें साफ सुन्दर नहीं बनती थीं, बहुत भद्दी होती थीं। पर धीरे-धीरे उन्नति होती गयी। कुछ समय बीतने पर तो वे इतनी अच्छी बनने लगीं कि हाथ से बनी चीज उनके सामने कुछ न जचे। फिर, जब वे सस्ती भी हों तो हाथ के काम या दस्तकारी को कौन पूछने बैठा! निदान, कल-कारखानों के माल की माँग बढ़ने लगी। एक कारखाना अच्छी तरह चला, उसकी देखादेख दूसरा खुला, फिर तीसरा और चौथा। इस तरह वे बढ़ते रहे। उनका आपस में मुकाबला भी हुआ। जिसके पास मजदूरी, पूँजी और व्यवस्था के अच्छे और अधिक साधन हुए, उसका माल बढ़िया और सस्ता रहा। ऐसे कारखाने बनते रहे। जिनका माल घटिया या महंगा रहा, वे कारखाने टिक न सके, उखड़ गये।

अभी तक बहुत से कल-कारखाने भाप से चलते हैं। लेकिन अब बिजली का उपयोग बढ़ता जा रहा है। यूरोप के तो बहुत से देशों में जल-प्रपातों से बिजली पैदा करके उसी से रेलगाड़ियाँ और कितने ही कल-कारखाने चलाये

जाते हैं। दूसरे देशों में भी पहाड़ी नदियों के बाँध बनाकर; उनके कृत्रिम जल-प्रतापों से बिजली पैदा की जा रही है। इस दशा में प्रगति होने पर औद्योगिक जगत में भारी हेरफेर होगा। मिसाल के तौर पर भारतवर्ष में भावी कारखाने बम्बई, कलकत्ता, कानपुर, अहमदनगर आदि में न होकर पहाड़ों की तलैटी पर कायम होंगे, जहाँ उनके लिए बिजली की शक्ति नाममात्र के मूल्य पर मिल जाया करेगी, और कोयले के धुएँ की भी झंझट न रहेगी। कारखानों में रोशनी करने के लिए तो बिजली काम देगी ही।

औद्योगिक उन्नति का सामाजिक स्थिति पर प्रभाव; श्रम-विभाग—पहले कहा जा चुका है कि खेती का काम शुरू होने पर पुरुष और स्त्री के कार्यक्षेत्र अलग-अलग होने लगे थे। दस्तकारियों के बढ़ने पर पुरुषों के भी काम बँट गये। जुलाहा, तेली, ठठेरा, बढ़ई, लुहार, धोबी, रंगसाज आदि की अलग-अलग श्रेणियाँ बन गयीं। भारतवर्ष आदि में तो इन श्रेणियों के काम वंश-परम्परानुसार चलने लगे; काम-धन्धे के अनुसार आदमियों की जुदा-जुदा जातियाँ बन गयीं। जो हो, इस तरह श्रम-विभाग आगे बढ़ता गया। पीछे अठारहवीं सदी से भाप आदि से चलनेवाले कल-कारखानों और मशीनों का आविष्कार होने पर श्रम-विभाग का काम और भी आगे बढ़ा। पहले आदमी एक काम के सब हिस्सों को पूरा करता और पूरी चीज बनाता था। वह पूरी चीज के लिए जिम्मेवार होता था। अब एक काम के हिस्से अलग-अलग आदमियों के सुपुर्द होने लगे। एक आदमी सिर्फ अपने हिस्से का काम करने लगा; इस काम का उसे बहुत अभ्यास होता है; बहुत सी दशाओं में वह इस काम की विशेष शिक्षा पाया हुआ होता है। हाँ, उसे कोई चीज़ पूरे तौर से बनानी नहीं आती। श्रम-विभाग की वर्तमान अवस्था में बहुत से आदमियों के सहयोग से ही कोई चीज बन पाती है; पर वह बहुत बड़े परिमाण में तैयार हो जाती है। उदाहरण के लिए, पहले एक आदमी अपने परिवार वालों के साथ मिलकर कपड़ा तैयार कर लेता था। अब कल-कारखानों में इस एक काम के बहुत से हिस्से करके उन्हें अलग-अलग समूहों को सौंपा जाता है। हर एक समूह में सैकड़ों या हजारों

आदमी काम करते हैं। और, जब सब समूह अपने-अपने हिस्से का काम कर लेते हैं, तब कपड़ा तैयार होता है। इस तरह आदमी किसी चीज को बनाने में दूसरों के सहयोग पर बहुत अधिक आश्रित रहता है। कल-कारखानों में औरतें भी काम करती हैं, इस लिए श्रम-विभाग की बात उन पर भी लागू होती है।

मजदूरों की समस्य—पहले जुदा-जुदा आदमी कोई चीज बनाते थे। हर एक आदमी (या उसका परिवार) अपना धंधा अलग-अलग करता था। वह स्वतत्र था; चाहे जब, चाहे जितने घंटे काम करे, और चाहे जब विश्राम करे। उस चीज का वही मालिक होता था, उसे वह खुद ही बेचता था और जो आय होती थी, उस पर उसी का अधिकार होता था। पीछे, खासकर अठारहवीं सदी से, भाप आदि की शक्तियों का आविष्कार हो जाने पर, कल-कारखाने बनने लगे। कारखाने में काम करने वाला स्ववन्त्र न होकर नौकर या मजदूर रह गया। उसका मिलों या कारखाने में बनने वाले माल पर कोई अधिकार नहीं होता; जो माल वहाँ तैयार होता है, वह सब कारखाने के मालिक का होता है। मजदूरों को तो निर्धारित मजदूरी मिलती है, चाहे उससे उनका गुजारा भी न हो। अक्सर कारखाने के जीवन से उनका स्वास्थ्य और चरित्र बिगड़ जाता है, बच्चों को भी ठीक सार-संभार नहीं होती। इन बातों का सुधार कराने के लिए मजदूरों ने सभाएँ या ट्रेड-यूनियन बनायीं। उनके लगातार आन्दोलन से औद्योगिक राज्यों में कारखाना-कानून बने, जिनमें समय-समय पर सुधार होता रहता है। इससे मजदूरों की दशा सुधर रही है। तो भी उनकी समस्या पूरी तरह हल नहीं होती। अधिकतर कारखाने वाले या पूँजीपति अपने स्वार्थ का बहुत ध्यान रखते हैं, वे मजदूरों सम्बन्धी कानून में काफी सुधार नहीं होने देते, या उससे बचने के उपाय निकाल लेते हैं। इस तरह अब मजदूरों और पूँजीपतियों में संघर्ष है।

विशेष वक्तव्य—इस समय एक काम के कई हिस्से अलग-अलग हैं और सब हिस्सों को मिला कर पूरा काम सामने आता है। हर हिस्से का काम

९५८

करने वाला यह देखता है कि मेरे काम का दूसरों के काम से सम्बन्ध है, वह पूर्ण नहीं, दूसरों के काम के साथ मिल कर पूर्ण होगा। आदमी को यह जानने और विचारने का अवसर मिलता है कि मैं स्वयं अपूर्ण हूँ, मेरा दूसरों से घनिष्ठ सम्बन्ध है, मैं समाज का एक अङ्ग हूँ। लेकिन यह जान कर भी आदमी अभी तक यह अनुभव नहीं करने लगा कि मैं सिर्फ अपने लिए नहीं हूँ, समाज के हित में ही मेरा भी हित है। यदि आदमी इस बात को अच्छी तरह हृदय में धारण कर ले और उसके अनुसार व्यवहार करने लगे तो औद्योगिक जगत के अनेक कष्टों का अन्त हो जाए। आशा की जाती है कि आदमी उस दिशा में जा रहा है, चाहे उसकी गति बहुत मन्द हो, और चाहे उसे लक्ष्य तक पहुँचने के लिए अभी बहुत सी बाधाओं को दूर करना बाकी हो।

पंद्रहवाँ अध्याय

व्यापार

प्रारम्भिक व्यापार, अदल-बदल—पिछले दो अध्यायों में खेती और उद्योग धन्धों के बारे में लिखा जा चुका है। जब आदमियों की जरूरतें कुछ बढ़ीं, और उनका अपनी ही पैदा की हुई या बनायी चीजों से काम न चला तो वे एक दूसरे की चीज़ें लेने-देने लगे। किसान ने जुलाहे से कपड़ा ले लिया, और उसे अनाज दे दिया। चीजों का इस तरह का अदल-बदल ही शुरू का व्यापार था। पहले व्यापार यानी अदल-बदल पास-पास के आदमियों में ही हुआ; धीरे-धीरे कुछ दूर रहने वालों से होने लगा।

खुश्की के रास्ते का व्यापार और उसके साधन—पहले पहल बिक्री का सामान मनुष्य खुद ही एक जगह से दूसरी जगह अपने हाथ में, कंधे, पीठ या सिर पर रखकर ले जाता था। जब आदमी पशुओं का पालन करने लग गया तो वह उनकी पीठ पर सामान ढोने लगा। पीछे गाड़ी, ठेलों आदि का

उपयोग किया जाने लगा। इन्हें खींचने के लिए ज्यादातर बैल या घोड़ों से काम लिया गया; लेकिन बहुत सी जगहों में दूसरे जानवरों से यह काम लेने का सुभीता रहा। गाड़ियों में एक दो जानवरों से ही इतना सामान ढोया जाने लगा, जितने को बिना गाड़ी के ढोने के लिए उनसे कई गुने ज्यादा जानवरों की जरूरत होती।

गाड़ियों के चलने से सड़क बनाने की ओर ध्यान देना जरूरी हो गया। आदमी या जानवर बहुत तंग और ऊँचे नीचे रास्ते से भी आ जा सकता है। घोड़े, टट्टू, खच्चर, गधे या ऊँट आदि के जाने के लिए भी पगडंडी से काम निकल सकता है। पर गाड़ियों के लिए तो रास्ता चौड़ा होना चाहिए, और हमवार भी। इन रास्तों को बारबार सुधारने की जरूरत न रहे, इस लिए सड़कें यथासम्भव अच्छी बनाने की कोशिश की जाने लगी। अभी बहुत सी जगहों में पुराने जमाने की कच्ची सड़कें ही मौजूद हैं, तो भी पक्की सड़कों का विस्तार बढ़ता जा रहा है; कहीं पत्थर की सड़कें हैं, कहीं कंकरीट की, कहीं सीमेंट की और कहीं तारकोल या रबर आदि की।

विज्ञान की उन्नति होने पर ट्राम, रेल, मोटर आदि बनायी जाने लगीं। मोटरों के लिए अच्छी पक्की सड़कें होना अनिवार्य ही है। ट्राम और रेलों के लिए तो लोहे की पटरी बिछायी जाती है। अब रेलों के जरिये हर रोज तरह-तरह का लाखों मन माल देश के एक कोने से दूसरे कोने तक भेजा जा सकता है। खासकर रेलों ने देशों के भीतरी व्यापार में बड़ी क्रान्ति कर दी है।

पानी के रास्ते से होने वाला व्यापार—धीरे-धीरे आदमी ने किश्ती या नाव चला कर जल के रास्ते से भी व्यापार करना शुरू किया—अब नावों का विकास हुआ। भाप आदि शक्तियों का आविष्कार किया गया। फिर तो जहाज और स्टीमर आदि बनाये गये, जो बड़े-से-बड़े समुद्र में बेखौफ तेजी से चलते हैं, और लाखों मन सामान हर रोज एक देश से दूसरे देश में पहुँचाते हैं।

हवा के रास्ते से होने वाला व्यापार—पहले आदमी के ध्यान में एक

जगह से दूसरी जगह जाने के लिए दो ही तरह के रास्ते थे खुश्की का और पानी का। धीरे-धीरे अनेक प्रयोग, परीक्षा और कोशिश करके, और बहुत इन्तजारी के बाद उसने हवा के रास्ते से भी यात्रा और व्यापार करने का उपाय ढूँढ़ निकाला।* शुरू में हवाई जहाज सिर्फ यात्रा के ही काम आता था। धीरे-धीरे उसमें सुधार किया गया, और वह माल भी ढोने लग गया। रेल या जहाज से जो सफर दिनों में तय होता था, वह हवाई जहाज से घण्टों में तय हो जाता है। इसका प्रचार बढ़ता जा रहा है। जगह-जगह इसके उतरने या ठहरने के अड्डे बनाये जा रहे हैं। हवाई जहाजों की बनावट में नये-नये सुधार किये जा रहे हैं, अब वे समुद्र में भी उतर सकते हैं, और वहाँ से ही उड़ भी सकते हैं। पहले हवाई जहाजों में डाक या सोने-चाँदी आदि का कीमती माल ही ले जाया जाता था, जो वजन में हल्का होता था। अब तो उनमें कच्चे माल आदि का भारी सामान भी ढोया जाने लग गया है। भविष्य में उनकी उन्नति और प्रचार बहुत अधिक होने की आशा है। हवाई जहाज, और उनके अड्डे आदि बनाने में आगे-आगे खर्च कम ही होगा, उनका किराया भी कम ही रहेगा, उनसे यात्रा करने की सुविधाएँ बढ़ जाएँगी और खतरे भी कम हो जाएँगे। इस तरह आने वाले जमाने में देशी और विदेशी दोनों तरह का व्यापार वायु-मार्ग से बहुत अधिक होगा।

विनिमय का माध्यम; अन्न, सिक्का, कागजी मुद्रा—पदार्थों के अदल-बदल की बात पहले कही गयी है। ज्यों-ज्यों लोगों की जरूरतें बढ़ी, चीजों का अदल-बदल कठिन होने लगा। जो चीज हमारे पास अधिक हो, उसके लेने वाले सब जगह और हर समय मिलना जरूरी नहीं। फिर, जिन लोगों को हमारी चीज की जरूरत हो, वे सभी हमारी जरूरत की चीजें नहीं दे सकते। इस लिए हमें ऐसा आदमी ढूंढ़ना पड़ता था जिसमें दोनों बातें हों—वह हमारी चीज ले सके और बदले में हमारी जरूरत की चीज हमें दे भी

*आम तौर से यह माना जाता है कि हवाई जहाज का निर्माण इसी सदी में हुआ। पर भारतवर्ष में इसकी चर्चा बहुत समय से है; वाल्मीकि रामायण में, जो संसार का बहुत पुराना महाकाव्य है, विमानों का जिक्र आया है।

सके। इस कठिनाई को दूर करने के लिए किसी वस्तु के माध्यम के द्वारा व्यापार करने की बात सोची गयी। हम जो चीज देनी चाहें, उसके बदले माध्यम की वस्तु लें; फिर, उस माध्यम की वस्तु के बदले अपनी जरूरत की चीज लें। इस प्रकार होने वाली दो क्रियाएँ सीधे अदल-बदल की एक क्रिया से प्रायः आसान होती हैं। अलग-अलग जगहों में अलग-अलग चीजें विनिमय की माध्यम बनायी गयीं। अकसर स्थानीय और छोटे व्यापार में अन्न ने माध्यम का काम दिया। लेकिन पीछे जब व्यापार का परिमाण बढ़ा, और वह दूर-दूर के आदमियों से होने लगा तो अन्न से यह काम चलना मुश्किल हो गया। धातुओं से काम लेने का निश्चय किया गया। थोड़ी कीमत चुकाने के लिए ताम्बा, और अधिक कीमती चीजों के वास्ते चाँदी और सोना अच्छा समझा गया। इनके ही सिक्के बनने लगे। सिक्कों से व्यापार की खूब वृद्धि और विस्तार हुआ।

पीछे जाकर तो यह अनुभव हुआ कि बहुत बड़े व्यापार में, या जब कि खरीद-बेच बहुत दूर के स्थानों में हो तो सोने चाँदी के भी बहुत से सिक्के लाने-ले जाने में बड़ी असुविधा होती है। इसे दूर करने के लिए लोगों को धीरे-धीरे कागजी मुद्रा, हुँडी या नोटों से काम निकालने की सूझी। कागजी मुद्रा धातु की मुद्रा का एवजी सिक्का है, जो चलाने वाले के विश्वास या साख पर चलता है। इसे आदमी उसी दशा में स्वीकार करता है, जब उसे यह निश्चय होता है कि आवश्यकता होने पर उसे इसके एवज या बदले में इस पर लिखे मूल्य के धातु के सिक्के मिल जाएँगे। कागजी मुद्रा के प्रचार ने व्यापार की वृद्धि और विस्तार में धातु के सिक्कों से भी अधिक योग दिया है।

व्यापार का स्वरूप— जैसे-जैसे व्यापार के साधनों की उन्नति हुई, व्यापार का स्वरूप बदलता गया। शुरू में आदमी को जो चीजें बेचनी होती थीं, उन्हें वह खुद ही उठा कर ले जाता था; पीछे वह गधे, घोड़े, बैल, भैंसे, ऊँट, आदि पर लाद कर ले जाने लगा। इसके बाद जब गाड़ियाँ, छकड़े आदि बन गये तो इन्हें भर-भर कर ले जाया जाने लगा। पुराने ग्रन्थों में

ऐसी कथाएँ आयी हैं कि सैकड़ों व्यापारी अपना-अपना माल छकड़ों या ऊँटों पर लाद कर इकठ्टे एक जगह से दूसरे जगह आते जाते रहते थे। इकट्ठे जाने की खास जरूरत इसलिए भी होती थी कि रास्ते में उन्हें एक दूसरे से सहायता मिले और चोरी या लूट आदि न हो। धीरे-धीरे रास्तों पर अच्छा इन्तजाम रहने लगा, और अकेले-दुकेले जाने का भी भय कम हो गया। खुश्की के रास्ते के अलावा, जल के रास्ते से भी व्यापार होने लगा। रेल और मोटरों ने खुश्की के व्यापार को, और जहाजों ने पानी के रास्ते से होने वाले व्यापार को खूब बढ़ाया; अब हवाई जहाजों से तो दोनों ही तरह का व्यापार हो रहा है। तार, डाक, टेलीफोन आदि से व्यापार में तरह-तरह की सुविधा होने लगी। अब दूर-दूर के व्यापारी आपस में बिना एक दूसरे से मिले ही यह तय कर लेते हैं कि किस तरह का कितना माल किस भाव पर लेना है। यह तय हो जाने पर माल भेज दिया जाता है, और माल भेजने वाले को रुपया मिल जाता है, अथवा उसकी तरफ से वहाँ ही जमा हो सकता है, या किसी दूसरे कारोबार में लगाया जा सकता है। बैंकों और मुद्रा के कारण अब लाखों का लेन-देन सहज ही हो जाता है।*

मशीनों का प्रभाव—बहुत से उद्योग-धंधों की उन्नति पहले पहल भारत में ही हुई। इस लिए यहाँ से बहुत सा माल दूसरे देशों को बड़ी मुद्दत तक जाता रहा, और बड़े आश्चर्य और हर्षपूर्वक लिया जाता रहा। रोजमर्रा की जरूरतों में कपड़ा और चीनी के बारे में भारतवर्ष बहुत ही मशहूर था। योरपीय देशों में, यूनान और रोम को सभ्यता में गुरू माना जाता है। यूनान के आदमी जब शुरू में भारतवर्ष आये तो उन्होंने यहाँ के कपास के पौधों को ऊन के पेड़, और ईख को शहद के पेड़, समझा था। उधर रोम वालों का यह हाल था कि वे यहाँ के बारीक कपड़ों को मकड़ी के जाले के बने हुए कपड़े कहते थे। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ तक यहाँ का कपड़ा इंगलैण्ड आदि देशों में गया है। पर इस बीच में वहाँ मशीनों का आविष्कार

* इससे आदमी को धन जोड़ने की भी बड़ी सुविधा हो गयी है। किसी-किसी आदमी के लाखों या करोड़ों रुपए बैङ्कों में जमा रहते हैं।

होकर उनका उपयोग बढ़ने लगा था। मशीनों के काम की तरक्की होने पर उनका बना माल धीरे-धीरे बढ़िया और सस्ता होने लगा, फिर उसे वहीं की राजसत्ता का भी सहारा था। धीरे-धीरे उसका प्रचार बढ़ गया और उसने भारत की दस्तकारियों को पिछाड़ दिया। ऐसा परिवर्तन बहुत जगह हुआ। कितने ही देश जो पहले दूसरे देशों को तैयार माल भेजते थे, अब अपनी ही जरूरतों के लिए दूसरों पर निर्भर रहने लगे।

व्यापारी के सहायक—शुरू में हरेक व्यापारी अकेला ही व्यापार किया करता था। धीरे-धीरे व्यापार का काम बढ़ा, और कुछ दशाओं में इतना हो गया कि अकेला आदमी उसे न संभाल सका। उसने अपनी सहायता के लिए एजंट, मेनेजर, गुमाश्ता, मुनीम, कारिन्दे आदि रखे। ये लोग अपने काम का मेहनताना या तनख्वाह पाते हैं। जो नफा या नुकसान होता है, वह व्यापारी का होता है।

साझे का व्यापार—अकेला व्यापारी बहुत ज्यादा पूंजी नहीं जुटा सकता; वह बहुत अधिक हानि भी नहीं सह सकता। इसलिए बहुत से आदमियों ने मिलकर व्यापार किया। उनका व्यापार साझे का व्यापार कहा जाने लगा। व्यापारियों के संघ किस देश में कब शुरू हुए, यह तो बहुत विस्तार का विषय है, पर कौटिल्य के अर्थशास्त्र से यह अच्छी तरह सिद्ध हो चुका है कि भारतवर्ष में वे अब से दो हजार वर्ष से भी पहले मौजूद थे। उन्होंने कारोबार के निश्चित नियम बना रखे थे, और राज्य भी उन्हें बहुत मानता था। वे दूर-दूर तक प्रसिद्ध थे।

व्यापारिक कम्पनी—खासकर वैज्ञानिक उन्नति होने पर, जबकि भाप आदि शक्तियों का उपयोग होने लगा, उद्योग धंधे बहुत बड़े परिमाण पर चलने लगे, तो व्यापार का आकार और विस्तार भी बढ़ चला। अब बड़ी-बड़ी मिलों और कारखानों के लिए और भी अधिक पूंजी की जरूरत होने लगी, कई-कई लाख या करोड़ रुपये की व्यवस्था अकसर पाँच सात आदमियों से भी न हो सकी। इसके लिए बहुत से आदमियों की कम्पनियाँ खड़ी की जाने लगीं। अब तो कुछ कम्पनियों की हिस्सा-पूंजी अरबों रुपये की होती

है। इससे इनकी शक्ति और प्रभाव का सहज ही अनुमान हो सकता है।

व्यापार से ज्ञान-वृद्धि—व्यापार ने आदमी का ज्ञान बहुत बढ़ाया है। व्यापार के लिए दूर-दूर की यात्रा करने से अलग-अलग देशों के आदमियों को एक दूसरे के बारे में जानकारी हासिल हुई है। व्यापारियों को यह मालूम हुआ कि दूसरे देश में कोई काम किस तरह किया जाता है, वहाँ कैसी रीति रिवाज है, कौनसी बात अच्छी या फायदेमंद हैं। फिर उन्होंने अपने देश में लौट कर उन बातों का प्रचार किया। इस तरह उन्होंने लोगों का साधारण ज्ञान बढ़ाने में बड़ी मदद दी है। यह तो सब जानते ही हैं कि कोलम्बस ने अमरीका का पता लगाया तो इसका मुख्य कारण व्यापार ही था।

विशेष वक्तव्य—व्यापार ने दूर-दूर के आदमियों को आपस में मिलाया और उनका सम्बन्ध बढ़ाया है। आदमी को सामाजिक जीवन की उपयोगिता मालूम हो रही है। लेकिन सामाजिकता का आदर्श प्राप्त करने, यानी तमाम मनुष्य जाति को एक समझ कर, सब के हित की बात सोचने और अपने व्यापार में बराबर इस बात का ध्यान रखने की अवस्था अभी नहीं आयी है। कितने ही व्यापारी सड़ी-गली, पुरानी, घटिया चीजों के पूरे दाम उठाने में अपनी होशियारी समझते हैं। शौकीनी, विलासिता या नशीली चीजों को बेचने में बहुतों को संकोच नहीं है। व्यापार लोगों में ईर्षा, द्वेष और लड़ाई-झगड़ा बढ़ाने का काम कर रहा है; यहाँ तक कि एक कम्पनी का दूसरी कम्पनी से, और एक देश का दूसरे देश से व्यापार के लिए संघर्ष चल रहा है। हम याद रखें कि व्यापार भी समाज-सेवा का एक साधन है। इस विचार से, व्यापार-पद्धति में बहुत सुधार होने की जरूरत है।

चौथा भाग

सामाजिक जीवन

पुरातत्ववेत्ताओं, इतिहासज्ञों, जीवशास्त्रियों और वैज्ञानिकों की खोजों और अध्ययन से यह पता चलता है कि समाज का स्वरूप परिवर्तनशील है। इस परिवर्तन का आधार मूलतः आर्थिक रहा है। जब-जब खाद्य वस्तुओं की उपलब्धि के ढंग में, आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन के ढंग में परिवर्तन हुआ है, तब-तब समाज के स्वरूप में भी परिवर्तन हुआ है।

प्रेमनारायण माथुर

अज्ञान, संस्कार और स्वभाव वश हम किसी भी प्रचलित सामाजिक रीति-नीति या विचारधारा के विषय में यह विश्वास करने लग जाते हैं कि यह अनादि काल से इसी रूप में चली आ रही है और यही सत्य और सर्वोत्कृष्ट है, अपरिवर्तनशील और चिरन्तन है। किन्तु बात वस्तुतः ऐसी नहीं है। समाज परिवर्तनशील है, गतिशील है। गति रुकती नहीं, परिवर्तन रुकता नहीं।

रामेश्वर गुप्ता

सोलहवाँ अध्याय

समूह रचना

मनुष्य की सामाजिकता—आदमी स्वभाव से सामाजिक प्राणी है। कुछ खास अवस्था की, थोड़ी देरी की, बात छोड़कर उसे अकेला रहना पसन्द नहीं। वह चाहता है कि मेरे कुछ संगी-साथी हों; मैं अपनी मंडली में रह कर खेलूं-कूदूं, और जी बहलाऊँ। फिर, आदमी के सामने अपनी जरूरतें पूरी करने का सवाल रहा है। रोटी कपड़े आदि का सामान पैदा करना या तैयार करना उसके अकेले के वश की बात नहीं। इसके अलावा, जंगली जानवरों से रक्षा करने के लिए आदमी के वास्ते यह जरूरी था कि समूह टोली या मंडली बना कर रहे। इस तरह आदमी समूह में रहने या सामाजिक जीवन बिताने के लिए मजबूर हुआ। आदमी के विकास का बड़ा आधार उसका सामाजिक जीवन ही है, यदि वह अकेला-अकेला रहता तो वह पशु-पालन और खेती आदि उन कामों को करने में भी सफल न होता, जो उसके निर्वाह के लिए बहुत ही जरूरी हैं। फिर मनुष्यों का, एक दूसरे के विचार जानकर उनसे लाभ उठाना, और आगे उन्नति करना, भौतिक संसार में तरह-तरह के आविष्कार करना, सारांश यह कि मनुष्य जाति की सारी प्रगति ही आदमी के सामाजिक जीवन पर निर्भर है।

मनुष्य को सामाजिक बताते हुए हम यह बात भुलाना नहीं चाहते कि उसमें एक विरोधी भावना भी है। वह समय-समय पर लड़ता-झगड़ता है, और मारकाट करता है। समूहों में भी युद्ध चिरकाल से होते रहे हैं। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य में सामाजिक के साथ असामाजिक भावना भी है। वास्तव में उसकी यह भावना पशुता और असभ्यता की अवशेष है। वह अभी इतना विकसित नहीं हुआ कि इसका सर्वथा त्याग कर दे। पर उसकी प्रगति इसी

में है कि वह युद्ध से शान्ति की ओर, संघर्ष से सहयोग की ओर, असामाजिकता से सामाजिकता की ओर बढ़ता रहे; और आज की स्थिति चाहे जितनी निराशाजनक प्रतीत हो, वह इस दिशा में, बहुत धीमी गति से ही सही, बढ़ रहा है। युद्ध और शान्ति के विषय में खुलासा आगे लिखा जाएगा।

प्रारम्भिक संगठन—मनुष्य के सामने शुरू से ही यह समस्या रही है कि पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों का ऐसा संगठन हो कि वे एक दूसरे के दुख-सुख में सहायक हों और सबकी उन्नति तथा रक्षा की व्यवस्था रहे। इसके लिए यह आवश्यक समझा गया कि कुछ ऐसे नियम बनाये जाएँ कि कोई आदमी ऐसा काम न करे, जिससे दूसरे की हानि हो। हर समूह के कुछ बड़े बुजुर्गों और समझदार तथा विश्वास-पात्र सज्जनों ने ऐसे ठहराव किये, जो सबके हित के हों। यह निश्चय किया गया कि जो आदमी इन नियमों को भंग करेगा, वह समूह का विरोधी माना जाएगा, और उसे समूह के सहयोग से वंचित होना पड़ेगा। इसी भावना से धीरे-धीरे परिवार या कबीले बने; गाँव, कस्बे या नगर बसाये गये; पंचायत या राज्य कायम हुए, कायदे कानूनों की रचना हुई। धर्म, नीति या सदाचार आदि के मूल में भी सामाजिक कुशल-क्षेम, उन्नति और वृद्धि की ही भावना है। इन बातों के बारे में आगे लिखा जायगा। यहाँ यही विचार करना है कि आदमियों के अलग-अलग समूह किस तरह बने।

जुदा-जुदा समूहों की रचना—शुरू में आदमी ऐसी जगह या जगहों में रहा होगा, जहाँ खाने-पीने की चीजें आसानी से मिल सकती थीं। धीरे-धीरे वहाँ की चीजें समाप्त होती गयीं; इधर, आदमी की सन्तान हुई, फिर उस संतान की संतान हुई, इस तरह आदमियों की तादाद बढ़ी, और उन सबका वहाँ गुजर होना मुश्किल हो गया। इस पर कुछ आदमी वहाँ से दूसरी जगह चले गये, और कुछ अर्से बाद जब वहाँ भी खाने-पीने की चीजें मिलने में कठिनाई होने लगी तो उनमें से कुछ आदमी दूसरी नयी जगहों में चले गये। इस तरह खुराक की तलाश करते-करते आदमी दूर-दूर तक जा पहुँचे। दूसरे कारणों से भी आदमी अपने मूल स्थान को छोड़ कर दूसरी जगहों में

जाकर बसे। मसलन किसी समूह के कुछ आदमियों ने घूमते हुए देखा कि दूसरी जगह आबहवा आदि के विचार से ज्यादा अच्छी है, तो उन्होंने अपने समूह वालों को नयी जगह जाने पर राजी कर लिया। कभी-कभी ऐसा हुआ कि एक समूह पर दूसरे समूह ने हमला किया और पहले समूह को अपनी जगह से भाग जाना पड़ा। अस्तु जैसे-जैसे आदमी दुनिया के दूर-दूर के हिस्सों में जाते गये, उनके समूह एक दूसरे से अलग होते गये।

जुदा-जुदा समूहों में अन्तर—विविध समूहों की भाषा और रहन-सहन में धीरे-धीरे फरक होता गया; यहाँ तक कि कुछ अर्से बाद एक समूह की भाषा दूसरे समूह की भाषा से, और एक समूह का रहनसहन दूसरे समूह के रहनसहन से जुदा मालूम होने लगा। अलग-अलग जलवायु वाले देशों में रहने के कारण जुदा-जुदा समूहों का रंग भी जुदा-जुदा हो चला। बहुत ठंडे देशों के रहने वालों का रंग आम तौर से गोरा, और बहुत गर्म देशों के आदमियों का अकसर काला होता है। बहुत ज्यादा ठंडे और बहुत ज्यादा गर्म आबहवा के बीच के देश वालों में पीला, भूरा, साँवला, गेहुँआ आदि कई दूसरे रङ्ग पाये जाते हैं। आबहवा का असर लोगों की पोशाक पर भी पड़ता है। गरम देशों के आदमियों को ज्यादा कपड़े की जरूरत नहीं होती; थोड़े से कपड़े से ही काम निकल जाता है। वहाँ आदमी अकसर ढीले ढाले सूती कपड़े पहनते हैं। इसके खिलाफ, ठंडे देशों में आदमियों को कपड़े की जरूरत बहुत ज्यादा होती है; वहाँ आदमी ऊनी या चमड़े के, या बालों वाले चमड़े के, तङ्ग या चुस्त कपड़े पहनते हैं।

आबहवा या प्राकृतिक स्थिति के अनुसार देशों की पैदावार अलग-अलग या कम-ज्यादा होती है। कहीं-कहीं तो करीब-करीब सभी चीजें पैदा हो जाती हैं, कहीं एक चीज ज्यादा पैदा होती है, कहीं दूसरी; और कहीं-कहीं पैदावार होती ही बहुत कम है। इसलिए जमीन के अलग-अलग हिस्सों में रहने वालों का खानपान भी बहुत कुछ जुदा-जुदा हो जाता है। अलग-अलग देशों के आदमियों की भाषा, भेष, रहनसहन, खानपान और रङ्ग आदि अलग-

अलग होने से एक देश के आदमी अकसर अपने आपको दूसरे देश के आदमियों से जुदा जाति का समझने लगे।

समूहों की वर्गीकरण—मोटे हिसाब से समूहों के दो भेद किये जा सकते हैं :—(१) वंशानुसार, या नातेदारी या रिश्तेदारी के आधार पर बने हुए समूह; जैसे परिवार या कुटुम्ब, कबीला, जाति आदि। ये समूह स्वाभाविक, कुदरती या जन्मसिद्ध होते हैं। ऐसे समूह का सदस्य, आदमी अपने जन्म से ही होता है। (२) आदमी के बनाये हुए समूह। इन समूहों को आदमी अपनी जरूरत के अनुसार बनाता है; जैसे धर्मानुसार, व्यवसाय या पेशे धन्धों के अनुसार, राजनैतिक मतानुसार अर्थात् शासन पद्धति संबंधी विचार या आदर्श के अनुसार, और मनोरञ्जन शिक्षा या लोक सेवा आदि की भावना के आधार पर बनाये हुए समूह। इनमें से दूसरी तरह के समूहों की कोई सीमा नहीं है; देश-काल के अनुसार, जब आदमियों को कोई जरूरत होती है तो उसकी पूर्ति के लिए एक समूह बन जाता है, और अगर पीछे किसी समय वह जरूरत नहीं रहती तो उसे पूरा करने वाला समूह भी समाप्त हो जाता है। इस तरह समूहों के बनने और खत्म होने का सिलसिला चला जाता है। क्योंकि सामाजिक प्रगति के साथ-साथ आदमी की जरूरतें बढ़ती अधिक हैं, और घटती कम हैं, इसलिए आरम्भ में समूहों की संख्या कुल मिला कर बढ़ती ही जाती हैं।

आदमियों का कई-कई समूहों से सम्बन्ध—एक समूह में अब कई-कई समूहों से सम्बन्ध रखने वाले आदमी भाग लेते हैं। मिसाल के तौर पर आर्थिक या व्यावसायिक समूह में जुदा-जुदा जातियों या धर्मों के आदमी होते हैं; और, राजनैतिक समूह में कई जुदा-जुदा धर्म या आर्थिक विचार वाले समूहों के आदमी भाग लेते हैं। इस तरह जुदा-जुदा समूहों के आदमियों का एक दूसरे से सम्पर्क बढ़ता है, और एक समूह दूसरे पर कुछ न कुछ प्रभाव डालता है। इस तरह कोई समूह दूसरों से पूरी तरह जुदा नहीं रहता। सबकों एक दूसरे से मिलने-जुलने और उसका दृष्टिकोण जानने का अवसर

मिलता है। इससे अलग-अलग समूहों के विचारों का समन्वय होता है, और उनकी उग्रता धीरे-धीरे कम होती है।

समूहों का आकार; बड़े समूहों के बनने की सुविधा—कोई समूह छोटा होता है, और कोई बहुत बड़ा। उदाहरण के लिए परिवार में प्रायः दो तीन से पाँच सात तक आदमी रहते हैं। और, कोई समूह इतना बड़ा होता है कि उसमें देश भर के आदमी आ जाते हैं, जैसे राज्य। किसी-किसी समूह का सम्बन्ध लगभग पूरे मनुष्य-समाज से होता है। संयुक्त राष्ट्र संघ ('यूनाइटेड नेशन्स') का उद्देश्य प्रायः विश्वव्यापी है। मजदूरों, धर्म-प्रचारकों और व्यवसायियों के भी कुछ संघ विश्वव्यापी उद्देश्य वाले होते हैं। यातायात के साधनों की उन्नति के साथ संसार के जुदा-जुदा हिस्सों के रहने वाले अब एक दूसरे के सम्पर्क में अधिक आते हैं; संसार धीरे-धीरे एक सूत्र में बँधता जा रहा है। इसलिए बड़े-बड़े क्षेत्र वाले समूहों के बनने की सुविधा बढ़ती जा रही है।

प्रेम और सहयोग की जरूरत—इसमें सन्देह नहीं कि अभी जुदा-जुदा समूहों में प्रेम और समभाव बहुत कम ही है। पुराने जमाने में भी आदमी अकसर अपने समूह वालों से ही प्यार करता था। एक समूह दूसरे समूह को पराया या गैर समझता, और उससे ईर्षा-द्वेष या घृणा करता था। कबीलों, जातियों या राष्ट्रों का निर्माण होने पर आदमी ने दूसरे कबीले, दूसरी जाति या दूसरे राष्ट्र के आदमियों को पराया या गैर समझा और उन्हें अजनबी, जंगली, मलेच्छ, अनार्य. यवन, राक्षस, असुर आदि कहा। इस भावना के दूर होने की बड़ी जरूरत है। जब हर एक जाति या राष्ट्र ऐसा करेगा तो अन्तर्राष्ट्रीय समूह या विश्व-संघ बनने का रास्ता साफ हो जायगा। रेल, तार, डाक, टेलीफोन, रेडियो, हवाई जहाज आदि से मनुष्य जाति की एकता में बड़ी मदद मिल रही है, और भविष्य में इनसे भी अधिक मिल सकेगी। जरूरत है कि आदमी इनका उचित उपयोग करे। इस कार्य में प्रेम और सहानुभूति से विज्ञान का सदुपयोग करे।

विशेष वक्तव्य—मनुष्य जाति की एकता में इस समय दो बड़ी बाधाएँ

हैं—जाति-भेद और वर्ण-भेद। जाति-भेद के बारे में विशेष आगे लिखा जायगा। जिस तरह भारतवर्ष आदि में इसका बड़ा जोर है, उसी तरह योरप अमरीका वालों में वर्ण-भेद भयंकर रूप से बढ़ा हुआ है। गोरी जातियाँ अपने आपको सब से ऊँची, और सब तरह के सुखों की अधिकारी या हक़दार समझती है। उनके विचार से काले और दूसरे रङ्ग वाले आदमी नीच या घटिया दर्जे के हैं; रङ्गदार जातियों का उपयोग यही है कि वे गोरों की सेवा-चाकरी करें। योरप के कुछ गोरे अमरीका, अफ़रीका और आस्ट्रेलिया आदि में जा बसे। वे अपने साथ उन देशों में भी यह वर्ण-भेद का रोग ले गये। इस तरह वहाँ भी यह रोग बहुत फैल गया। समय-समय पर कुछ महानुभावों ने बहुत संकट उठाकर भी मनुष्य जाति को इस रोग से छुटकारा दिलाने की कोशिश की; लेकिन रोग इतना गहरा है कि अभी तक यथेष्ट सफलता नहीं मिली। पर निराशा की कोई बात नहीं है; आदमी को अपना उद्योग जारी रखना है, प्रगति अकसर धीरे-धीरे ही होती है।

सतरहवाँ अध्याय

विवाह परिवार और सन्तान

---

[१] विवाह

पिछले अध्याय में मनुष्य की सामाजिक भावना और समूह-रचना के बारे में लिखा गया है। अब इस अध्याय में सामाजिक संगठन के पहले और कुदरती स्वरूप—परिवार—का विचार करें।

स्त्री-पुरुष सम्बन्ध की प्रारम्भिक अवस्था—स्त्री पुरुष के सम्बन्ध की कहानी बहुत पुरानी है। इस सम्बन्ध का रूप धीरे-धीरे बदलता रहा है। पहले का उच्छृङ्खल सम्बन्ध धीरे-धीरे नियमों और रस्मोरिवाज में बन्ध गया

है। आज कल हम प्रायः एक आदमी की एक स्त्री और एक स्त्री का एक पति देखते हैं। पहले ऐसा न था। यही नहीं, मनुष्य जाति के इतिहास में शुरू का बहुत सा समय ऐसा रह चुका है जब विवाह प्रथा ही नहीं थी। न कोई आदमी किसी स्त्री का पति था, और न कोई स्त्री किसी खास आदमी की पत्नी या व्याही हुई औरत। अकसर किसी स्त्री का किसी भी पुरुष से सम्बन्ध हो सकता था। इस तरह एक स्त्री का कुछ समय तक एक आदमी से सहवास सम्बन्ध रहता, और पीछे दूसरे, तीसरे या चौथे आदमी से सम्बन्ध रहता। यहाँ तक कि एक स्त्री का एक ही समय कई आदमियों से भी ऐसा सम्बन्ध रहता था। यही बात आदमियों की थी। बहुत अर्से तक एक आदमी का समय-समय पर, अथवा एक ही समय में, कई स्त्रियों से सहवास सम्बन्ध होता रहा है।

पीछे, आबादी बढ़ने पर भोजन आदि की तलाश में एक टोली के एक जगह से दूसरी जगह जाने, या एक टोली के कई-कई हिस्सों में बंटने का अवसर आया। बहुत से स्थानों में आदमियों के छोटे-छोटे ही समूह रहने लगे। इस तरह धीरे-धीरे एक स्त्री का सहवास सम्बन्ध एक खास और छोटे समूह के ही कुछ आदमियों से रहने लगा।

विवाह प्रथा—धीरे-धीरे आदमी में काम-वासना बढ़ी। उसे काम धंधे में स्त्री की उपयोगिता का अनुभव हुआ था; साथ ही उसमें निजी सम्पत्ति की भावना उदय हो गयी थी। अब जो स्त्री जितनी अधिक सुन्दर या मेहनती होती, उतने ही अधिक आदमी उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगे। एक ही स्त्री के लिए अनेक पुरुषों में लड़ाई-झगड़े होने लगे। इस अशान्ति और अव्यवस्था को दूर करने के लिए विविध नियम बनाये गये और विवाह की प्रथा जारी की गयी। विवाह की परिपाटी से सब झगड़े शान्त नहीं हो गये, कुछ विवाहों के तरीके इस तरह के थे कि उनमें काफी लड़ाई और खूनखराबी होती थी। तो भी विवाह-संस्कार सार्वजनिक रूप से होने का यह लाभ अवश्य हुआ कि आदमी जानने लगे कि किस खास स्त्री या स्त्रियों का किस खास पुरुष या पुरुषों से सहवास सम्बन्ध स्थिर हो गया है, और

धीरे-धीरे यह माना जाने लगा कि जिन स्त्रियों का यह सम्बन्ध निश्चित हो जाय, उनसे दूसरे आदमियों का यह सम्बन्ध न हो। इस तरह किसी स्त्री का विवाह होने से पहले या विवाह होते समय चाहे जो झंझट हो, एक बार विवाह हो जाने पर फिर उस स्त्री के सम्बन्ध में किसी प्रकार का झगड़ा होने की शंका हट गयी या बहुत कम रह गयी।

विवाह के भेद—देश-काल के अनुसार विवाहों के सैकड़ों भेद रहे हैं। मनुस्मृति में आठ प्रकार के विवाह बताये गये हैं:—(१) ब्राह्म विवाह—इसमें पिता अपनी कन्या योग्य वर को देता है। (२) दैव विवाह—इसमें पिता अपनी कन्या यज्ञ करने वाले पुरोहित को, यज्ञ की दक्षिणा के रूप में, देता है। (३) आर्ष विवाह—इसमें पिता किसी ऋषि आदि से गाय बैल की भेंट लेता है, और उसे अपनी कन्या देता है। (४) प्रजापत्य विवाह—इसमें पिता अपनी कन्या को सन्तान पैदा करने और पत्नि के नियम पालन करने के लिए देता है। (५) असुर विवाह—इसमें वर पक्ष कन्या को मोल लेता है। (६) गान्धर्व विवाह—यह कन्या की इच्छा से होता है। (७) राक्षस विवाह या क्षत्री विवाह—यह कन्या के घर वालों से युद्ध करके किया जाता है। (८) पैशाच विवाह—इसमें पुरुष कन्या का अपहरण करता है। इनके अलावा स्वयम्बर की प्रथा है, जिसमें कन्या अपना वर खुद चुनती है। लेकिन कितने ही स्वयम्बरों में कन्या के पिता आदि ने वर के लिए ऐसी शर्त लगायी है कि कन्या की पसन्द का सवाल गौण सा हो गया।

मनुस्मृति में जो आठ तरह के विवाह बताये गये हैं, वे सब किसी एक समय एक-साथ प्रचलित नहीं थे; समय-समय पर जुदा-जुदा स्थानों में जारी रहे और कुछ दशाओं में एक जगह कई तरह के विवाहों का चलन रहा। विचार करने से मालूम होता है कि पहले प्रायः पैशाच विवाह जारी हुआ। यह सब से नीचे की श्रेणी का है, पर युद्ध और लूटखसोट के समय यह स्वाभाविक था। पैशाच विवाह के बाद राक्षस विवाह आया। यह उस अवस्था की बात है, जब स्त्री का मूल्य बढ़ा हुआ है, वह लूटखसोट से नहीं मिलती, आदमी

उसके लिए कीमत चुकाने को तैयार हुआ। अब भले ही स्त्री खरीदने की बात बुरी मालूम हो, उस समय तो यह एक भारी सुधार था। इसके बाद गांधर्व और आसुर आदि विवाहों का चलन हुआ। ज्यों-ज्यों समाज आगे बढ़ता गयी, उसने विवाह-प्रणाली में परिवर्तन या सुधार किया।

विवाह सम्बन्धी रीति रस्म—धीरे-धीरे विवाह की विधि के साथ बहुत सी रीति-रस्म या लोकाचार चल गये। कुछ रीति रस्म पीछे जाकर बहुत हानिकर हो गयी। मिसाल के तौर पर दहेज की प्रथा है। पहले कन्या का पिता अपनी खुशी से, अपनी सामर्थ्य के अनुसार कुछ दे देता था, अब तो कितने ही वर-पक्ष वाले इसकी बाकायदा माँग करते हैं, और कुछ तो पहले से ही बड़ी-बड़ी रकमें ठहरा लेते हैं। कहीं-कहीं कन्या के माता-पिता काफी धन लेकर कन्या का विवाह करते हैं।

बहु विवाह—विवाह की परिपाटी शुरू होने पर एक स्त्री का कई पुरुषों से, और एक पुरुष का कई स्त्रियों से सम्बन्ध होना बन्द नहीं हुआ; बहुपतित्व और बहुपत्नित्व कुछ परिमित रूप में बना रहा।* बहुपतित्व यानी एक स्त्री के कई पति होने की बात ज्यादातर उन जगहों में रही, जहाँ स्त्रियों की संख्या पुरुषों से कम थी। एक पुरुष का कई-कई स्त्रियों से विवाह होने के कई कारण रहे हैं। पुरुष अपने सुख को बढ़ाने का अभिलाषी था, इसके अलावा जब से खेती का काम होने लगा और स्त्री ज्यादातर घर का काम करने लगी पुरुष में शारीरिक बल अधिक होने लगा। वह कितनी ही बार किसी स्त्री को उड़ा लाता, या लड़कर जीत लाता। जब आदमी धन सम्पत्ति का स्वामी होने लगा तो उसने स्त्रियों को खरीद कर भी हासिल किया। राजा महाराजाओं और सेनापतियों आदि के सामने यह भी विचार रहा है कि हमारी कई सन्तान हों, जिससे हमारा पद हमारे ही वंश में रहे; इसलिए उन्होंने कई-

*इस जमाने में भी कुछ जगहों में यह बना हुआ है।

कई विवाह किये। बहुत से राजाओं ने कई विवाह इसलिए किये कि बहुत से आदमी उनके रिश्तेदार हो जाएँ और लड़ाई के मौके पर उन्हें उन सब की सहायता मिल सके। बहुत सी दशाओं में अधिक विवाह होना अधिक वैभव का लक्षण माना गया।

ज्यों-ज्यों स्त्रियाँ ज्यादातर घर का काम करने वाली होती गयीं, उनसे पारिवारिक आय कम होने लगी। वे खर्च का कारण बनने लग गयीं। ऐसी दशा में बहु-विवाह में आर्थिक रुकावटें पैदा हो गयीं। फिर, एक पुरुष की कई स्त्रियाँ होने की हालत में, उन स्त्रियों में ईर्षा और द्वेष बढ़ना स्वाभाविक था। 'सौतिया डाह' मशहूर ही है। इससे आदमी का पारिवारिक जीवन सुखमय न होकर कलह-पूर्ण होने लगा। ऐसे अनुभवों से आदमी की, एक ही विवाह करने की प्रवृत्ति बढ़ी।

विवाहों का क्रम—विवाह का इतिहास सभी जगह एकसा नहीं रहा है, इस समय भी स्थान-भेद से इसके अनेक रूप हैं, जिनमें से कितने ही बहुत अजीब और अशोभनीय प्रतीत होते हैं। उनके व्योरे में न जाकर दो ही रूपों का उल्लेख करना है:—(१) सम्बन्धियों द्वारा विवाह। यह बहुत से समाजों में है, जहाँ लड़कियाँ तथा लड़के अपने माता पिता पर निर्भर होते हैं और माता पिता ही उनके विवाह आदि का प्रबन्ध करते हैं। इसमें प्रेम आदि का अधिक ध्यान नहीं रखा जाता। भारतवर्ष में अकसर विवाह ऐसे ही होते हैं; हाँ, उनमें अब कमी हो रही है। (२) प्रेम-विवाह। इससे पहले स्त्री अपने पति की तथा बालिका अपने पिता की सम्पत्ति समझी जाती थी। प्रेम द्वारा विवाह का मुख्य लक्षण स्त्रियों में स्वतन्त्रता की भावना है।

परिवार के विकास की दृष्टि से विवाहों का क्रम कुछ इस प्रकार रहा, मालूम होता है—

(१) सगोत्रक, जिसमें एक ही गोत्र, वंश, या समूह में विवाह होता है। इस प्रकार भाई बहिन में विवाह होता है। (२) कई भाइयों का एक स्त्री का पति होना। (३) पुरुष का स्त्री से समागम होना पर निश्चित रूप से विवाह न होना; एक परिवार का अस्थायी प्रारम्भिक विवाह। (४) एक पुरुष का,

कई स्त्रियों का पति होना। (५) एक पत्नीक विवाह, जिसमें पुरुष और स्त्री की समानता के भावों का विकास होता है।

विवाह में दृष्टिकोण—मूल में यौन-सम्बन्ध एक जीव-विज्ञान सम्बन्धी क्रिया है। उसमें धार्मिक या नैतिक आदि भावना का समावेश पीछे हुआ। हिन्दुओं में विवाह खासकर धार्मिक कार्य माना गया है, मुसलमानों में सामाजिक और ईसाइयों में कानूनी। धीरे-धीरे सभी लोगों में विवाहों का रूप कुछ धार्मिक, कुछ सामाजिक और कुछ कानूनी होता गया। हाँ, मात्रा का भेद है, कहीं एक भावना अधिक है, और कहीं दूसरी।

विवाह का उद्देश्य; और क्षेत्र—विवाह का मुख्य उद्देश्य यह है कि पुरुष और स्त्री का जीवन सुखमय हो, वे एक दूसरे के विकास में मदद दें और उनसे समाज को स्वस्थ और सुयोग्य सन्तान प्राप्त हो। इसके लिए आवश्यक है कि वर वधु की जोड़ी ठीक हो. विवाह उचित उम्र के तथा यथेष्ट योग्यता-प्राप्त व्यक्तियों के हों। इसके लिए वर-वधु के चुनाव का क्षेत्र काफी विस्तृत होना चाहिए। छोटी-छोटी जाति-उपजातियों के अन्दर ही विवाह होने से अकसर पढ़े-लिखे लड़के को मूर्ख लड़की से विवाह करना पड़ता है, और अगर लड़की योग्य हो गयी तो उसके लिए योग्य वर नहीं मिल पाता। वर-वधु का ठीक मेल न होने से उनका विवाहित जीवन बहुत दुख में बीतता है, और उनकी सन्तान तो कमजोर, रोगी और कम उम्र वाली होती ही है। कुछ समय से इस ओर लोगों का ध्यान जाने लगा है, और इसमें धीरे-धीरे सुधार हो रहा है। अब भारत में भी एक वर्ण या जाति के युवक का विवाह उस वर्ण या जाति भर के किसी भी युवती के साथ होने में पहले की तरह की बाधा नहीं रही है। अन्तर्जातीय और अन्तर्प्रान्तीय विवाहों के भी उदाहरण मिल रहे हैं।

यूरोप और अमरीका वालों ने इस विषय पर गम्भीर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है। उनमें अन्तर्देशीय विवाहों का चलन खासा है और बढ़ता जा रहा है; लेकिन उनमें अपने वर्ण या रंग का बड़ा घमंड है, उनके विवाह-शादी अकसर गोरे रंगवालों में ही होते हैं। इसमें सुधार होने की आवश्यकता

है, और यह होकर रहेगा। यह ध्यान में रखने की बात है कि दूर-दूर रहने वालों के विवाह-सम्बन्ध उसी हालत में सुखदायी होते हैं, जब वर-वधु के विचारों और रहनसहन में समानता हो या वे इतने उदार हों कि अपने से विरोधी विचारधारा का भी अच्छी तरह स्वागत करें, और मतभेद के कारण कलह का अवसर न आने दें।

[२] परिवार

पारिवारिक जीवन क्यों ?—पशु पक्षी जन्म लेने के बाद थोड़े समय में ही अपना गुजारा करने लायक हो जाते हैं। लेकिन आदमी की सन्तान कई वर्ष तक परावलम्बी रहती है। माँ को बच्चे की बहुत सार-संभार करनी होती है; इस समय में उसे अपने भोजन आदि के लिए आदमी की सहायता चाहिए। इसलिए मनुष्य को परिवार बनाकर रहने की जरूरत बहुत ज्यादा है। इसके अलावा मनुष्य में बुद्धि और स्थायी अनुराग की भावना पशु-पक्षियों से अधिक है। इसलिए भी उसके वास्ते पारिवारिक जीवन बहुत जरूरी हो जाता है। स्थायी अनुराग की भावना आदमी को प्रेरणा करती है कि जिन लोगों से उसका जन्म के कारण सम्बन्ध है, उनके साथ मिलजुल कर, और जहाँ तक मुमकिन हो, एक ही घर में रहे। आदमी की बुद्धि उसे याद दिलाती रहती है कि जिन लोगों ने हमारे बचपन में हमारे लिए तकलीफें उठायी हैं, जिन्होंने हमारा पालन-पोषण किया है, हमारे दुख-सुख में साथ दिया है, उनके साथ हम भी भलाई करें उनके दुख दर्द में काम आएँ, और उनकी बीमारी या बुढ़ापे आदि में उनकी सेवा करें। अपने रिश्तेदारों की सेवा और सहायता करने, और अपनी सन्तान की सार-संभार या परवरिश करने की भावना ने आदमी को पारिवारिक जीवन बिताने वाला बना दिया।

इस विषय में एक दूसरा दृष्टिकोण भी है। सभी प्राणियों में काम-वासना होती है; जिस जाति के प्राणियों में यह वासना जितनी अधिक है, उतना ही वे पारिवारिक जीवन अधिक बिताते हैं। पशु पक्षियों के उदाहरण से यह

बात अच्छी तरह ध्यान में आ सकती है। शुरू में आदमी में यह वासना कम थी, धीरे-धीरे उसमें यह बढ़ती गयी, सांसारिक सुखों में इसकी प्रधानता होती गयी। और, इस सुख को बिना विलम्ब और झंझट के प्राप्त करने के लिए आदमी अपने साथी को अपने पास रखने को मजबूर हुआ। काम की पूर्ति के लिए एक पुरुष कई स्त्रियाँ और एक स्त्री कई पुरुषों को रखने लगी। इस तरह पारिवारिक जीवन शुरू हुआ। पुरुष ने स्त्री को अपने साथ रहने को बाध्य किया तो उसका कर्त्तव्य हो गया कि इस सुख के फल-रूप जो सन्तान हो, उसका पालन-पोषण करे। पीछे पुरुष की इच्छा हुई कि मैंने सन्तान के लिए इतना कष्ट उठाया है तो संतान को भी चाहिए कि बड़े होने पर मेरी सेवा और सहायता करे। इस आपसी स्वार्थ ने एक दूसरे को बाँध दिया; पारिवारिक जीवन विस्तृत बन गया।*

परिवार का अर्थ—परिवार का रूप जैसा अब है, पुराने जमाने से ऐस ही नहीं रहा है। प्राचीन काल में जब विवाह-प्रथा नहीं थी, जब किसी स्त्री व सम्बन्ध किसी भी पुरुष से हो जाता और बदलता रहता था, उस स परिवार का अर्थ था प्रायः स्त्री और उसके बच्चे। पुरुष तो हजारों वर्ष समय बीत जाने पर परिवार का स्थायी सदस्य हुआ। विवाह-प्रथा जारी पर परिवार में खासकर स्त्री, उसका पति, और उन दोनों की सन्तान जाने लगी।

परिवार के दो भेद; पशुपालन और खेती का प्रभाव—संस जुदा-जुदा हिस्सों में समय-समय पर परिवार दो तरह के रहे हैं—(१) पितृ प्रधान; जिनमें बालक अपने पिता, पितामह (बाबा) और प्रपितामह (परबाबा) आदि के वंश के माने जाते हैं, और किसी आदमी की जायदाद का अधिकारी उसका बड़ा लड़का समझा जाता है। (२) मातृप्रधान; जिनमें वंश माता, नानी, परनानी आदि के नाम से चलता है, जायदाद पर अधिकार स्त्री का होता है और उसकी वारिस उसकी बड़ी लड़की होती है।

आरम्भ में किसी समूह के आदमियों के पास जो खाने-पीने का सामान

* श्री गणेशदत्त जी 'इन्द्र' के, 'विश्वमित्र' में प्रकाशित, लेख के आधार पर।

तथा औजार होते थे, उनका परिमाण परिमित ही होता था, और वे सारे समूह की सम्पत्ति माने जाते थे। जब पशु-पालन होने लगा तो सम्पत्ति बढ़ने लगी, खेती से सम्पत्ति का संग्रह और भी बढ़ा। क्रमशः व्यक्तिगत मिल्कियत की भावना का जन्म हुआ। एक-एक परिवार का मुखिया अपनी-अपनी सम्पत्ति का मालिक होने लगा। घर की व्यवस्था और बच्चों का पालन-पोषण स्त्री के जिम्मे था, इसलिए घर के सामान पर बहुत कुछ उसका अधिकार रहा। बाकी सब सम्पत्ति का स्वामी पुरुष हुआ। पीछे जब दासता या गुलामी शुरू हुई और दासों से पशु चराने और खेती कराने का काम लिया जाने लगा तो दासों का स्वामी भी पुरुष ही हुआ। इस प्रकार पुरुष की प्रधानता बढ़ी। परन्तु मातृ-प्रधान परिवार में पिता की सम्पत्ति का लाभ सन्तान को यथेष्ट लाभ नहीं मिलता। इसका परिणाम यह हुआ कि मातृ-प्रधान परिवार का क्रमशः लोप होता गया। इस समय संसार के अधिकांश भागों में पितृ-प्रधान परिवार की व्यवस्था है।

संयुक्त परिवार—आरम्भ में तो एक समूह भर के आदमी एक साथ मिल कर रहते थे। पीछे एक-एक परिवार के आदमी अलग-अलग रहने लगे। तो भी अनेक स्थानों में दो या अधिक भाई अपने-अपने स्त्री-बच्चों सहित इकट्ठे रहते रहे। इस दशा में बालक अपने माता पिता के ही साथ नहीं रहते, बल्कि अपने चाचा-चाची, ताऊ-ताई आदि के भी साथ रहते हैं। ऐसे परिवार को संयुक्त परिवार कहते हैं। उसमें सब कमानेवाले आदमियों की आमदनी घर के एक बड़े बूढ़े के पास जमा होती है; वह परिवार भर के सब आदमियों की जरूरतें पूरी करने की कोशिश करता है। इससे परिवार का कोई बालक अनाथ या अरक्षित नहीं होने पाता। सब की शिक्षा और पालन-पोषण की व्यवस्था होती है। बीमारी या बुढ़ापे में कोई आदमी बिना आसरे के नहीं रहता। लोगों में त्याग, सहानुभूति और सहयोग का भाव बढ़ता है। लेकिन रोटी, कपड़ा मिलने का पूरा भरोसा रहने से कुछ आदमी आलसी हो जाते हैं, और बेकारी का जीवन बिताते हैं। उनका स्वाभिमान जाता रहता है, वे दूसरों की नजर

में भी गिर जाते हैं। परिवार के आदमियों में और खासकर औरतों में कलह रहता है। फिर, आजकल परिवार के कुछ आदमी एक जगह काम करते हैं, और दूसरों को दूर-दूर जुदा-जुदा जगहों में काम करने में सुविधा या फायदा होता है। व्यक्ति-स्वतंत्रता की भावना बढ़ रही है, इससे तथा आर्थिक परिस्थितियों के कारण संयुक्त परिवार की प्रथा हटती जा रही है।

सम्बन्ध-विच्छेद या तलाक—इस समय व्यक्ति-स्वातंत्र्य की लहर है। पुरुष हो या स्त्री, कोई दूसरे के जरा भी अधीन नहीं रहना चाहता। इसलिए भारतवर्ष आदि बहुत से देशों में कुछ-कुछ आदमी इस विषय का आन्दोलन कर रहे हैं। उनका कहना है कि अनेक विवाहित स्त्री-पुरुषों की आपस में नहीं बनती, उनका जीवन बहुत कष्टमय होता है। इसका उपाय यही है कि उन्हें तलाक का अधिकार हो, और वे चाहें तो अपनी 'नयी दुनिया' बसालें।

दूसरी ओर योरप अमरीका आदि का अनुभव सामने है। कितने ही आदमियों का आज विवाह होता है, और अगले ही दिन तलाक; बहुत ही तुच्छ और क्षुद्र बातों पर पति-पत्नी अलग हो जाते हैं। तलाकों की, और तलाक की अदालतों की, संख्या लगातार बढ़ती जा रही है। पुरुष स्त्री नये-नये विवाह सम्बन्ध जोड़ते रहते हैं, लेकिन यह नहीं जानते कि वे नये सम्बन्ध भी कब तक रहेंगे, और कब इन्हें भी तोड़ने की तैयारी करनी होगी।

इससे स्पष्ट है कि साधारण तौर से तलाक का नियम होने से इसका कहाँ तक दुरुपयोग होता है। तथापि कुछ खास-खास दशाओं में, अपवाद के रूप में, इसकी आवश्यकता प्रतीत होती रहती है। सम्भवतः उन दशाओं को लक्ष्य में रख कर ही इसलाम धर्म ने तलाक की इजाजत दी। हिन्दू स्मृतिकार ने भी इस ओर ध्यान दिया है, उसका मत है कि न केवल पति के मर जाने, नपुंसक होने, या पतित होने पर बल्कि उसके विदेश चले जाने पर भी स्त्री के लिए दूसरा पति जायज है।* यह ठीक है कि पिछली सदियों

* नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतिते पतौ।
पंचस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥

में हिन्दुओं की कई जातियों में तलाक का उपयोग नहीं हुआ. लेकिन बहुत आवश्यक होने पर भी इसका पूरे तौर से निषेध रहना ठीक नहीं। हाँ, आम तौर से इस प्रथा पर नियंत्रण रहना चाहिए; समाज का वातावरण ऐसा होना चाहिए कि तलाक का प्रसंग बहुत कम आए।

पारिवारिक शिथिलता—तलाक प्रथा से विवाह और परिवार-प्रणाली को धक्का लगता है। ऐसी कुछ बातें और भी हैं, और आजकल बढ़ती जाती हैं, जिनसे विवाह और परिवार की जरूरत या महत्त्व कम होता जा रहा है। पुराने जमाने में परिवार के सदस्यों के लिए खाने पहिनने आदि का अधिकतर सामान घर में तथा उसके पास ही तैयार किया जाता था। जिस काम को एक परिवार अकेला नहीं कर सकता था, वह अपने पड़ोसी परिवार की मदद से लेता था। इस तरह एक परिवार या उनका समूह स्वावलम्बी होता था। अब वह बात नहीं रही। मामूली हैसियत के आदमी के घर में भी खेती के औजार, सूई, डोरा, कपड़ा, कील, दियासलाई, ताला आदि बहुत सी चीजें दूर-दूर से आयी हुई हैं। इनके लिए परिवार की व्यवस्था और स्वावलम्बन की जरूरत नहीं रही।

फिर, आधुनिक स्त्री घर से बाहर के कामों में बहुत दिलचस्पी ले रही है; यहाँ तक कि खासकर योरप और अमरीका में बालबच्चों का पालन-पोषण करना भी उसे भार मालूम होता है; वह ज्यादा स्वतंत्रता चाहती है। इसलिए वह विवाह करने और पति के रहने पर भी कोई स्वतंत्र धंधा या नौकरी करती हैं, और बच्चे के जन्म के बाद उसे राज्य की ओर से स्थापित शिशु-गृह में दाखिल करा कर उसके पालन-पोषण की चिन्ता से भी छुट्टी पा सकती हैं। इन सब परिवर्तनों का नतीजा है पारिवारिक शिथिलता, और, विवाह-परिपाटी की ओर उदासीनता।

विशेष वक्तव्य—पारिवारिक जीवन मानवी गुणों के विकास का साधन है। इसमें नर और नारी एक दूसरे के लिए, और दोनों अपने बच्चे के लिए कष्ट उठाना और त्याग करना सीखते हैं और समाज में इन गुणों का परिचय देने योग्य बनते हैं। यह ठीक है कि कितने ही आदमी परिवार

के मोह में इतने फँस जाते हैं कि वे जाति, देश या संसार के हित का विचार नहीं करते। तथापि कुल मिला कर परिवार ने मानव विकास में बहुत योग दिया है। पर समाज की अन्य संस्थाओं की तरह यह भी एक परिवर्तनशील संस्था है; यह समय-समय पर विशेषतया आर्थिक कारणों से बदलती रही है, और इसका जो स्वरूप आज है, वह भी स्थायी नहीं है, उसमें परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन होता रहेगा।

[३] सन्तान

सन्तान सम्बन्धी धारणा—विवाह और परिवार की तरह सन्तान के सम्बन्ध में भी लोगों की धारणा समय-समय पर देश-काल के अनुसार बदलती रही है; और किसी-किसी समय समाज में कई एक धारणाएँ इकट्ठी भी रही हैं। पुराने जमाने में आबादी कम थी और उसके लिहाज से जमीन की बहुतायत थी। इस बात की जरूरत थी कि नयी जमीन में बसने तथा खेती आदि का काम करने के लिए जनसंख्या बढ़े। सम्भवतः यह भी कारण था कि हिन्दुओं में सन्तानोत्पत्ति को धार्मिक कृत्य माना गया। शास्त्रों में कहा गया कि बिना पुत्र के मरने पर आदमी को स्वर्ग या मोक्ष नहीं मिल सकता। यदि पुरुष के एक विवाह से सन्तान न हो तो उसे दूसरा विवाह करना चाहिए। कन्याओं के लिए तो विवाह लाजमी ही समझा गया। 'पुत्रवती हो'—यह स्त्री के लिए आशीर्वाद माना गया।

जब स्त्री अधिकतर घर के कामों में लगी रहने लगी और उसके द्वारा धनोत्पत्ति का काम कम होने लगा तो कन्या की अपेक्षा पुत्र की चाह अधिक होने लगी। कन्या के विवाह में बहुत अधिक खर्च होने तथा कन्या-पक्ष को समाज में वर-पक्ष की अपेक्षा नीचे दर्जे का माना जाने से अनेक परिवारों में कन्या का जन्म अशुभ समझा जाने लगा। यहाँ तक कि कहीं-कहीं कुछ जातियों में कन्या-वध की रीति चल पड़ी, जिसे पीछे जाकर असभ्य और अमानवीय माना जाकर बन्द किया गया।

प्रायः गरीबों के यहाँ सन्तान का जन्म यथेष्ट हर्ष का विषय नहीं

माना जाता; उनके लिए उसका पालन-पोषण भार-रूप हो जाता है। और, जिन लोगों का रहनसहन का दर्जा ऊँचा है, वे इसलिए अधिक सन्तान नहीं चाहते कि उन्हें यह चिन्ता होती है कि अधिक बालकों के होने पर वे उनके वास्ते भोजन वस्त्र आदि के अतिरिक्त शिक्षा और मकान की ऐसी बढ़िया व्यवस्था नहीं कर सकेंगे, जैसी वे करना चाहते हैं।

पुत्रों के भेद—पुत्र सम्बन्धी पुरानी कल्पना की बहुत सी बातें अब बड़ी अजीब मालूम होती हैं और कुछ बातों की थोड़ी बहुत यादगार हमारी मौजूदा समाज-व्यवस्था में मिलती है। हिन्दू ग्रन्थों में बारह तरह के पुत्र बताये गये हैं—(१) अपनी स्त्री से अपना ही पुत्र; (२) दूसरे उत्तम पुरुष द्वारा अपनी स्त्री से उत्पन्न; (३) धन देकर किसी दूसरे आदमी द्वारा अपनी स्त्री से उत्पन्न कराया हुआ पुत्र; (४) अपने मर जाने पर विधवा स्त्री से, दूसरे से उत्पन्न; (५) अपनी ब्याही स्त्री से, उसके क्वारेपन में ही उत्पन्न; (६) मनमाना आचरण करनेवाली स्त्री से उत्पन्न; (७) गोद लिया हुआ; (८) खरीदा हुआ; (९) पाला हुआ; (१०) आप से आया हुआ; (११) गर्भवती स्त्री से ब्याह करने पर, ब्याह के बाद उत्पन्न; और (१२) नीच जाति की स्त्री से उत्पन्न अपना निज का पुत्र।

किस जगह पहले किस प्रकार के पुत्र को पुत्र माना गया, उसके बाद क्रमशः क्या क्रम हुआ, यह विषय बहुत विवादग्रस्त है, और साथ ही इसमें सभी जगह एकसी बात नहीं रही है।

सन्तान का भरण-पोषण—संतान की बेहतरी के विविध प्रयत्न किये जा रहे हैं, तथापि इस समय संसार के ज्यादातर बालकों की हालत संतोषजनक नहीं है। मामूली हैसियत के कितने ही घरों के बालक बहुत मैले-कुचैले रहते हैं, उनके मुँह से लार टपकती रहती है, आँखों में और नाक में मैल भरा रहता है; मां बाप उसकी ओर काफी ध्यान नहीं देते। ऊँची श्रेणी के घरों में माताएँ बच्चों की सार-संभार का काम नौकर पर छोड़ देती हैं। कुछ औरतें तो अस्वस्थ होने के कारण अपने बच्चों को अपना दूध नहीं पिला सकतीं, और कुछ इस लिए नहीं पिलातीं कि इससे उन्हें अपनी शक्ति या सौंदर्य घटने की आशंका होती

है। ये औरतें अपनी संतान को दूध पिलाने के लिए धाय रख लेती हैं। मध्य श्रेणी के बहुत से घरों में बच्चों को नहलाने-धुलाने में साबुन खूब लगाया जाता है, जेवर पहनाये जाते हैं; कपड़े जरूरत से ज्यादा पहना दिये जाते हैं; मिठाई और मसालेदार चीजें खिलायी जाती हैं, लेमनज्यूस (नींबू के सत) और पीपरमेंट की गोलियाँ आदि चुसाई जाती हैं। इन सब बातों से बच्चों का स्वास्थ्य बहुत खराब रहता है। गरीब घरों में बच्चों के लिए जरूरी चीजों की कमी रहती है। इस तरह अमीर हो या गरीब, बच्चों का पालन-पोषण बहुत कम जगहों में अच्छी तरह होता है।

सन्तान की शिक्षा। बालकों की सामाजिकता या नागरिकता आदि की सूक्ष्म या बारीक बातों को छोड़ दें; तो भी यह कितनी चिन्ता का विषय है कि इस जमाने में आदमी अपनी सन्तान को इस योग्य भी नहीं बना पाता कि उसका निर्वाह अच्छी तरह हो सके। जानवर अपने बच्चों को अपनी-अपनी जाति का धंधा, कितना अच्छा और कितनी जल्दी सिखा देते हैं। आदमी बहुधा इसी दुविधा में रहता है कि अपनी संतान को इस धंधे में लगाऊँ या उस धंधे में। इसका नतीजा यह है कि संसार में करोड़ों आदमी बड़ी उम्र के होकर भी बेकार हैं या अपनी योग्यता और रुचि का काम नहीं कर रहे हैं। इससे साफ जाहिर है कि हमारी शिक्षा-पद्धति में कितनी कमी है, और हमें कितनी प्रगति और करनी है।

आदमी की, अपनी संतान को शिक्षा देने की भावना प्रायः स्वार्थ या खुदगर्जी की है। वह बहुधा उसे इसलिए पढ़ाता-लिखाता है कि संतान बड़ी होने पर उसको सेवा और सहायता करे उसे सुख पहुँचाए। मौजूदा समाज-व्यवस्था में आदमी को लड़की की अपेक्षा लड़के से अधिक सेवा और सुख की आशा होती है इसलिए वह लड़के की शिक्षा के लिए अकसर उदारता का परिचय देता है, और लड़की की शिक्षा की अवहेलना करता है। यह स्वार्थ और भेद-भाव बहुत अनिष्टकारी है। जानवरों में यह नहीं होता; वे अपनी पुत्री और पुत्र दोनों को एक निगाह से देखते हैं और दोनों की शिक्षा के लिए समान रूप से उद्योग करते हैं। आदमी को अभी यह बात

सीखनी है; जब तक वह इस बात को अच्छी तरह सीख कर पूरे तौर पर अमल में नहीं लाता, उसकी संतान सम्बन्धी प्रगति अधूरी है।

जनसंख्या की वृद्धि और सन्तान-नियमन बहुत से विद्वानों का यह मत रहा है कि ज़नता की वृद्धि खाद्य पदार्थों की वृद्धि की तुलना में, बहुत अधिक होती है। अगर इसे नियमित रूप से न रोकी जाए तो गरीबी, महंगाई, महामारी या युद्ध आदि होकर मृत्युसंख्या बढ़े बिना नहीं रहती। विज्ञान की उन्नति होने से यह बात अब उतनी सच्ची और भयानक नहीं रही, जितनी पहले थी; तो भी इसकी अवहेलना नहीं की जा सकती।

जनसंख्या की वृद्धि को रोकने के लिए आजकल परिवार-नियोजन की की ओर बहुत ध्यान दिया जाने लगा है। इसका अर्थ यह है कि परिवार में उससे अधिक सन्तान न हो, जितने का अच्छी तरह पालन-पोषण हो सके। इसके लिए संतति-नियमन की अर्थात् सन्तान को उत्पन्न होने से रोकने की विधि काम में लायी जती है। कृत्रिम उपायों से परहेज नहीं किया जाता, वरन् उनका ही बहुत सहारा लिया जाता है—जैसे (१) 'कंट्रासेपटिव' या बाधक साधनों का उपयोग, जिनसे गर्भधारण रुक जाए; (२) 'स्टेरिलाइजेशन' अर्थात् खस्सी करना—स्त्री की रज-प्रवाहिनी और पुरुष की वीर्य-प्रवाहिनी नसों का विच्छेद, (३) 'एवार्शन' या गर्भपात—स्त्रियों को अस्पतालों में स्वतन्त्रतापूर्वक गर्भ गिरवाने का अधिकार आदि।

इन उपायों को यूरोप अमरीका में बहुत काम में लाया गया है। कई विचारकों का मत है कि वहाँ इससे समाज को बहुत हानि हुई तथा हो रही है। यह ध्यान देने की बात है कि वहाँ गरीबी या जीवन के साधनों की कमी का प्रश्न नहीं है, जो संतति-नियमन का मुख्य हेतु बताया जाता है। वास्तव में इसका अर्थ यह होता है कि इन्द्रिय-सुखों का, विषय-भोग का आनन्द तो लिया जाए पर उसके परिणाम-स्वरूप उपस्थित होने वाली सन्तान की उत्पति से तथा उसके साथ उसके पालन-पोषण की जिम्मे-वारी से बचा जाए। यह अनुचित और अन्याय-मूलक है। फिर, जब कृत्रिम उपाय काम में आने लगते हैं तो उनका उपयोग केवल विवाहितों तक ही

सीमित रहना व्यावहारिक नहीं है। अविवाहित युवकों द्वारा भी उनका उपयोग होना स्वाभाविक है। इससे इनकी भयंकरता का सहज ही अनुमान हो सकता है।

सन्तान-वृद्धि की रोक—इस विषय पर हमने विस्तार-पूर्वक अपने 'सर्वोदय अर्थशास्त्र' में लिखा है। यहाँ संक्षेप में कुछ बातों का जिक्र किया जाता है—

(१) पुरुषों और स्त्रियों में संयम की भावना बढ़ायी जाए। इसमें सादा जीवन और लोकसेवा की भावना तथा जीवन का कोई महान् ध्येय रखने से बहुत सहायता मिलती है।

(२) जिन बातों से सन्तान अच्छी, तन्दुरुस्त और योग्य होती है, उनसे सन्तान में कमी हो जाती है। इसलिए जनता में यह प्रचार किया जाए कि जीवन-स्तर ऊँचा करें, अच्छे मकान, उत्तम भोजन-वस्त्र आदि का उपयोग करें और सांस्कृतिक उन्नति की ओर ध्यान दें।

(३) नागरिकों में सन्तान के प्रति अपनी जिम्मेदारी समझने और दूरदर्शी बनने की भावना विकसित की जाए।

(४) गरीबों और अशिक्षितों के यहां सन्तान अधिक होती है। इसलिए प्रत्येक राज्य में सर्वसाधारण की गरीबी और अशिक्षा को दूर करने का प्रयत्न किया जाए।

(५) निर्बल, वंशानुगत रोगी, पागल या ऐसे शारीरिक या मानसिक विकार वाले आदमियों के विवाह न होने दिये जाएँ, जिनकी सन्तान स्वस्थ और सुयोग्य होने की सम्भावना बहुत कम हो।

(६) पुरुषों और स्त्रियों में ऐसी भावना भरी जाएँ और उन्हें ऐसे अवसर दिये जाएँ कि वे दूसरे के बालकों से भी यथेष्ट प्रेम करें तथा उनकी सेवा-सुश्रुषा और पालन-पोषण में योग दें।

(७) आदमी कृत्रिम, शहरी, आडम्बरपूर्ण जीवन की अपेक्षा प्रकृति के निकट, गांवों के मुक्त वातावरण में रहें।

अठारहवाँ अध्याय

पुरुष और स्त्री का पद

आरम्भ में पुरुष और स्त्री की समानता—शुरू में पुरुष शिकार करता, जंगली फलों को संग्रह करता, लड़ता, और इन कामों के लिए औजार या हथियार बनाता था। स्त्री भी ये काम करती थी, या इनमें मदद देती थी। वह मज़बूत और फुर्तीली थी और चतुर भी बहुत थी। खाना बनाना, कपड़ा तैयार करना, बर्तन आदि बनाना, सब चीजों की सार-संभार करना—ये काम ज्यादातर स्त्री ही करती थी। उस समय पुरुष और स्त्री में प्रायः समानता थी, स्त्री का दर्जा पुरुष की अपेक्षा नीचा न था।

स्त्री का पद गिराने वाली बातें—पहले कहा जा चुका है कि जब पशु-पालन का कार्य होने लगा तो पशुओं पर पुरुष का अधिकार रहने लगा, इससे आर्थिक दृष्टि से समाज में पुरुष का पद कुछ ऊँचा समझा जाने लगा। परिवर्तन-चक्र और आगे बढ़ा। खेती का काम चल निकला, अब पुरुष लड़ाई और शिकार के अलावा खेती में अधिक भाग लेने लगा। स्त्री घरू काम-धन्धों और कला-कौशल में लगी रहती। पुरुष का काम परिश्रम का रहा, बाहरी कामों में उसका ही दखल रहा। स्त्रियों का काम सरल और कोमल हुआ, उनका अधिकार घर तक परिमित रहा। इससे समाज में पुरुष का स्थान स्त्री से ऊँचा हुआ। स्त्री का स्थान पुरुष से नीचा रहने का एक कारण उसका मासिक-धर्म और गर्भ-धारण भी है। मासिक धर्म के अवसर पर स्त्री को कई दिन तक मेहनत का काम करने की रुचि तथा शक्ति नहीं होती। इस समय पुरुष पर ही सारे कार्य का भार और जिम्मेवारी रहने से स्वभावतः उसका अधिकार बढ़ा। फिर, गर्भधारण भी इसमें सहायक हुआ। बच्चा जनने से कुछ समय पहले से लेकर कुछ समय बाद तक स्त्री को शिथिलता और कमजोरी मालूम होती है। शुरू जमाने में यह समय कम होता था; ज्यों-ज्यों सभ्यता, आराम और विलासिता के साधन बढ़े, इस समय का

परिमाण बढ़ता गया और स्त्री की शारीरिक दशा बहुत नाजुक होने लगी, वह कई-कई महीने विशेष शारीरिक काम करने या आजीविका कमाने में असमर्थ रहने लगी।* इसका परिणाम धीरे-धीरे उसकी आर्थिक हीनता या दासता में प्रकट हुआ।

पुराने जमाने में युद्ध का एक प्रमुख कारण स्त्री भी होती थी, जो घर-गृहस्थी के कामों में बहुत उपयोगी साबित हो चुकी थी। युद्ध में स्त्रियों का भाग लेना कम होने पर, पुरुष स्त्री का भी रक्षक होने लगा। इससे भी स्त्री का सामाजिक पद गिरने लगा। धीरे-धीरे एक बस्ती के आदमी आपस में मेलजोल से रहने लगे; अब स्त्रियों के लिए लड़ाई झगड़े कम होने लगे। लेकिन इस समय तक पुरुष बलवान और श्रेष्ठ बन चुका था। वह स्त्री का स्वामी बना। फिर, बहुत सी स्त्रियाँ दूसरे कबीलों या गांवों से लड़कर लायी जाती ही रहीं। योद्धाओं, सेनापतियों, सरदारों या राजाओं के यहाँ कई-कई स्त्रियाँ होती थीं। यह बात भी स्वाभावतः स्त्री का पद गिराने वाली हुई।

पुरुष की प्रभुता—साधारणतया विवाह-प्रथा उससे पहले की दशा में सुधार की ही बात थी। बहुत से स्थानों में पति-पत्नि का सम्बन्ध प्रेम और समानता का रहा। पुरुष स्त्री को अपने से कम दर्जे का नहीं समझता था; गृहस्थ तथा समाज सम्बन्धी सब विषयों में उसकी सम्मति से काम करता था। कई धार्मिक कामों में स्त्री का सहमत होना अनिवार्य था। बहुत सी दशाओं में स्त्रियों का प्रभाव इतना अधिक था कि उनके ही नाम पर वंश चलता था। कई जगह इन बातों की याद दिलाने-वाले रीति-रिवाज अब भी पाये जाते हैं। लेकिन धीरे-धीरे कितनी ही दशाओं में पुरुष की प्रभुता मानी जाने लगी। स्त्री उसके अधीन समझी जाने लगी—बचपन में पिता के अधीन,

---

*गाँवों में यह बात कम हुई है। हमारे गाँव में, पिछली ही पीढ़ी की एक स्त्री की बात है; वह प्रसव के दिन तक अपना साधारण कार्य करती रही। प्रसव के दिन भी वह सदा की तरह खेत में गयी। वहाँ उसके बच्चा हुआ। उसने स्वयं ही अपनी तथा उस बच्चे की सार-संभार की; और थोड़ी देर में बच्चे को टोकरे में रख कर घर ले आयी।

युवावस्था में पति के अधीन, और बुढ़ापे में पुत्रों के अधीन। स्त्री बेचने, गिरवी रखने, जुए में दाव पर लगाने आदि की चीज हो गयी। उसका जीवन कुछ-कुछ दासी का सा हो गया।

इस बात के प्रमाण-स्वरूप प्रायः सभी देशों के धार्मिक और नैतिक ग्रंथों के अनेक उद्धरण दिये जा सकते हैं, और कितने ही कानूनों का उल्लेख किया जा सकता है। अनेक दशाओं में अच्छे-अच्छे विद्वानों और विचार-शीलों ने भी स्त्रियों के बारे में अपमानजनक बातें लिखी हैं। यहाँ तक कि जिन दार्शनिकों ने दूसरी बातों में समाज को अच्छा रास्ता दिखाया, वे भी इस विषय में अपने समय के वातावरण या विचारों से बच न सके। स्त्रियों का पर्दे में रहना या घूंघट करना, इसी शोचनीय स्थिति का परिणाम है। आधुनिक सभ्यता में यह कम होता जा रहा है।

स्त्रियों का उत्थान—पर्दा प्रथा हटने से स्त्रियों का स्वास्थ्य सुधरेगा, उनमें साहस बढ़ेगा और उन्हें रोजमर्रा के बहुत से काम करने की सुविधा होगी। पर मूल प्रश्न यह है कि स्त्री का पद व दर्जा कैसे ऊँचा किया जाए, उसकी हीनता कैसे दूर की जाए।

एक विचारधारा यह है कि प्रत्येक स्त्री को अपने निर्वाह के लिए आवश्यक धन पैदा करने योग्य होना चाहिए। वह आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी जीवन बिता सके। इसलिए उसकी शिक्षा-दीक्षा ऐसी हो कि वह पुरुष की अधीनता स्वीकार किये बिना भी, स्वतन्त्रता पूर्वक अपना निर्वाह अच्छी तरह कर सके। परावलम्बी और परोपजीवी अपनी उन्नति नहीं कर सकते, और उन्हें काफी आदर-मान भी नहीं मिल पाता। अस्तु, आर्थिक स्वतन्त्रता के अतिरिक्त सामाजिक और राजनैतिक समानता का भाव चहुँ ओर फैलता जा रहा है। अमरीका के सुप्रसिद्ध कवि वाल्ट ह्विटमेन ने अपनी एक कविता में स्वतन्त्र नारी का स्वरूप बताया है। उसकी स्वतन्त्र नारी, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, पुरुष की बराबरी करती है, वह तैरती है, घोड़े पर सवार होती है, कुश्ती लड़ती है, बन्दूक चला सकती है, अत्याचारी को मार सकती है, पुरुष की किसी भी सहायता के बिना अपनी रक्षा कर सकती है और किसी प्रकार

की सामाजिक तथा धार्मिक दासता स्वीकार नहीं करती। भावी महिला का यह चित्र विशेष रंगा हुआ नहीं कहा जा सकता।

स्त्रियों की आत्म-चेतना—युद्ध ने स्त्री के विचारों में विलक्षण परिवर्तन कर दिया है। वे यह अनुभव करती हैं कि आजकल युद्ध भी मानव जीवन का एक खास अंग बन गया है जब तक हम युद्धों में काफी भाग न लेंगी, हमारी समानता सर्वमान्य न होगी। इसलिए अब अधिकाधिक स्त्रियाँ युद्ध के दफ्तरों, जासूसी, युद्ध-सामग्री पहुँचाने आदि में बहुत भाग ले रही हैं। यही नहीं, कितनी ही स्त्रियाँ युद्ध में हथियारों और यन्त्रों से लड़ने में भी पुरुषों से टक्कर ले रही हैं। पुरुष से बराबरी करने की भावना कहाँ तक प्रबल है, इसका कुछ अनुमान इस बात से हो सकता है कि पिछले दिनों अमरीकन स्त्रियों ने इस बात में अपना अपमान समझा है कि ट्रामों और 'बसों' में पुरुष अपनी 'सीट' (बैठने की जगह) से उठकर महिलाओं को स्थान देते हैं। उनका कहना है कि हम पुरुषों से बराबरी करने के लिए कटिबद्ध हैं, ऐसी अवस्था में पुरुष जब हमारे लिए जगह खाली करते हैं तो हमें ऐसा मालूम होता है कि वे हमें अबला और असहाय मान कर हम पर कृपा करते हैं। हमें यह नहीं चाहिए। हम में अपने लिए स्थान बनाने की सामर्थ्य है, और यदि स्थान न मिले तो हम पुरुषों की तरह खड़ी-खड़ी भी जा सकती है। हम पुरुषों की दया का पात्र होना नहीं चाहती; हम तो प्रसंग आने पर पुरुष को अपनी दया का पात्र बनाना चाहती हैं।

यह तो सार्वजनिक व्यवहार की बात हुई। इसी तरह स्त्रियों में यह विचारधारा भी बढ़ती जा रही है कि क्योंकि गृहस्थ जीवन में स्त्री का पद पुरुष से नीचा रहता है, इसलिए परिवार-प्रथा को हटा देना या उसका बन्धन कम कर देना चाहिए। इस विषय में पहले लिखा जा चुका है।

पुरुष और स्त्री दोनों समाज़-हित की दृष्टि रखें—स्त्री मनुष्य-समाज का वैसा ही आवश्यक अंग है, जैसा पुरुष। इसलिए स्त्रियों की उन्नति करना, और उनके उत्थान की सब बाधाओं को हटाना बहुत जरूरी है। परन्तु पुरुषों और स्त्रियों की अधिकार सम्बन्धी लड़ाई उचित नहीं है। मनुष्य जाति के

हित के लिए दोनों को ही अपने-अपने कर्तव्य पालन करने चाहिएँ। इस विषय में कुछ मूल बातों का ध्यान रहना चाहिए। स्त्री और पुरुष में कुछ भेद प्राकृतिक या कुदरती ही हैं। सब भेदों की चर्चा न कर एक ही बात का जिक्र किया जाता है। रजस्वला होने, गर्भ धारण करने, सन्तान पैदा करने और उसका पालन पोषण करने के काम स्त्री को ही करने होते हैं। आधुनिक विज्ञान ने इन कामों का भार कुछ हल्का कर दिया है; भविष्य में इनके और भी हल्का होने की आशा है। पर इससे मूल बात में फरक नहीं आता। इन कामों को करने की दशा में स्त्री कमजोर होती है, और उसे कुछ सुविधाओं या रियायतों की जरूरत होती हैं, जो उसे समाज-हित, यानी स्त्री और उसकी सन्तान की भलाई, के विचार से उसे दी जाती हैं। अगर स्त्री का पद पुरुष के समान हो, तो विशेष सुविधाओं या रियायतों की बात ही न रहे।

यह तो शारीरिक भेद की बात हुई। इस तरह मानसिक भेद का विचार किया जा सकता है। स्त्री के स्वभाव की चंचलता, या अस्थिरता सब जानते हैं। युवावस्था में स्त्री के स्वभाव में यह बात बहुत अधिक होती है। और, उसके होते हुए वह समाज के शासन-प्रबन्ध आदि का कार्य अच्छी तरह नहीं कर सकती। इसलिए साधारण स्त्री का पुरुष से पूर्ण समानता का दावा करना ठीक नहीं है। हाँ, जिन स्त्रियों में पुरुषों के काम करने की रुचि हो, उन्हें उसकी योग्यता हासिल करने की सब सुविधाएँ मिलनी चाहिएँ। पुरुष का कर्तव्य है कि स्त्री के विकास में भरसक सहायता दे। इस तरह जब पुरुष और स्त्री दोनों समाज-हित की दृष्टि से अपना कर्तव्य पालन करेंगे और एक-दूसरे के योग्य साथी बनेंगे, तभी मनुष्य जाति की प्रगति का कार्य यथेष्ट रूप से होगा।

विशेष वक्तव्य; युद्ध और स्त्रियाँ—इतनी उन्नति करने पर आदमी अभी तक युद्ध से अपना पिण्ड नहीं छुट सका है। और, युद्ध ऐसी बात है जिससे स्त्रियों का दर्जा गिर जाता है। युद्ध में पाशविकता निर्दयता, क्रूरता और कठोरता से ही सफलता मिलती दिखायी देती है। उसमें दूसरों के

सहानुभूति, दया, और प्रेम आदि ऐसे गुणों से घृणा की जाती है, जो स्त्रियों में स्वभाव से ही विशेष रूप में होते हैं। यह ठीक है कि समानता और स्वतंत्रता प्राप्त करने के जोश में आकर कुछ स्त्रियाँ हथियारों से लड़ने में भी पुरुषों से टक्कर लेती है, लेकिन कुल स्त्रियों के हिसाब से इनकी संख्या बहुत ही कम है। और, साधारण स्त्रियों से यह आशा नहीं की जानी चाहिए कि वे अपने स्वाभाविक गुणों को छोड़कर निर्दयता और हिंसा आदि में आगे बढ़ें। इस लिए जब तक युद्ध बने रहेंगे स्त्रियों का दर्जा नीचा ही रहनेवाला है। एक बात और भी। युद्ध में आदमी ही ज्यादा मरते हैं, इससे युद्ध के बाद की संख्या पुरुषों से बहुत अधिक हो जाती है इसका नतीजा यह होता है, कि समाज में उनका मूल्य कम हो जाता है। इस तरह भी युद्ध स्त्रियों का दर्जा गिराने वाला होता है। जो विचारशील सज्जन समाज में स्त्रियों का पद ऊँचा उठाना चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि दूसरी बातों के साथ, युद्धों को बन्द करने का भी बीड़ा उठाएँ।

उन्नीसवाँ अध्याय

कृत्रिम आवश्यकताएँ

कृत्रिम आवश्यकताओं की वृद्धि; इसका कारण—पहले कहा जा चुका है कि आदमी ने शुरू में शरीर को ढकने,वृक्षों की छाल या पत्ते आदि पहनने का, काम इतना सर्दी गर्मी से बचने के लिए नहीं किया, जितना शरीर को सजाने के विचार से किया। इस तरह आदमी ने शुरू में भी कुछ काम ऐसे किये, या चीजों का ऐसा उपयोग किया, जिसका उद्देश्य जीवन-रक्षा नहीं था। पीछे (खासकर जब आदमी धीरे-धीरे खेती करने लग गया और उसे अपनी कुदरती जरूरतें पूरी करने से कुछ फुरसत मिली) तो उसका ध्यान ऐसी बातों की तरफ और अधिक जाने लगा। पहले बताया जा चुका है कि पशु पालन और खेती शुरू हो जाने पर कुछ लोग दूसरों

से अधिक धनवान होने लगे, समाज में अमीर-गरीब का भेद होने लगा। धीरे-धीरे धनी व्यक्ति की यह इच्छा हुई कि मैं अपने साथियों से अच्छा या ऊँचे दर्जे का दिखायी दूँ। इससे वह कुछ ऐसी चीजों का उपयोग करने लगा, जिनका दूसरे आदमी उपयोग नहीं करते थे, या कम करते थे, जिनका उपयोग असल में जरूरी नहीं था. जिनकी आवश्यकता कृत्रिम या केवल दिखावे के लिए थी। कुछ दशाओं में आदमी ने किसी नये पदार्थ का उपयोग किसी विशेष कारण से, विशेष परिस्थिति में अथवा शौकिया किया। पर कुछ समय तक उसका उपयोग करते रहने पर उसे उसकी आदत पड़ गयी। उसकी देखा-देखी दूसरे आदमी भी उसका उपयोग करने लग गये। लोगों में उस वस्तु के उपयोग का वैसा ही स्थान बन गया, जैसा जीवन-रक्षक वस्तुओं का होता है। उसका रिवाज पड़ गया।

इस तरह शौक या फैशन, आदत और रिवाजों ने मनुष्य की जरूरतें बहुत बढ़ा रखी हैं। कुछ उदाहरण लीजिए।

भोजन सम्बन्धी कृत्रिम आवश्यकताएँ—पहले जिक्र किया जा चुका है कि आदमी बहुत सी चीजों को खासकर इसलिए खाते हैं कि या तो वे उन्हें स्वाद लगती हैं या उनके खाने से दूसरे आदमी उन्हें बड़ा या प्रतिष्ठित मानते हैं। इस तरह कितनी ही चीजें ऐसी खायी जाती हैं, जिनसे शरीर को कोई लाभ नहीं होता, वरन् नुकसान ही होता है। कुछ आदमी तो इस नुकसान की बात को जानते नहीं; पर जो जानते हैं, वे भी उन चीजों से परहेज नहीं करते। कितने ही गरीब आदमी भी बिना जरूरत पान, तमाखू, चाय, भांग, शराब आदि का सेवन करते हैं, फिर धनवानों का तो कहना ही क्या! वे जीवित रहने के लिए नहीं खाते, बल्कि खाने के लिए जीवित रहते हैं।

धनवानों के खाने-पीने की चीजें दर्जनों होती हैं उन चीजों को परोसने के लिए थाल, तश्तरी, कटोरी, थाली, गिलास आदि भी दर्जनों ही चाहिएँ। 'सभ्य' आदमी अब खाना खाने के लिए अपने अंगुलियों का सीधा उपयोग करना नहीं चाहते। भारतवर्ष आदि देशों में बहुत से आदमी चम्मच से

काम लेते हैं, और योरप में छुरी कांटे से। कांटे का इस्तेमाल बहुत पुराने समय का नहीं है। मालूम हुआ है कि इंगलैंड की आम जनता में कांटे का प्रचार सन् '७८० के पहले तक नहीं हुआ था। योरप में व्यापक रूप से कांटे का प्रचार सन् '८४७ में हुआ, जब मशहूर जर्मन क्रुप्स ने अपने कारखाने में कांटे बड़े पैमाने पर बनाये। कांटे और छुरी आदि का उपयोग इस लिए शुरू हुआ कि भोजन में अंगुलियों और खासकर नखों का मैल न मिले। चम्मच से यह भी फायदा है कि भोजन की पतली या बहनेवाली चीजें फैलती नहीं। पीछे जाकर छुरी कांटे आदि फैशन के तौर पर इस्तेमाल होने लगे; मूल उद्देश्य प्रायः भुला दिया गया।

पहनावे सम्बन्धी कृत्रिम आवश्यकताएँ—पहले कहा चुका हैं कि आदमी में पहनने की भावना का मूल यह रहा है कि उसे अपने बदन को सजाने की इच्छा थी। जंगली या देहाती जीवन वाले अकसर ऐसे आदमी मिलते हैं, जो कपड़ा नाम-मात्र का पहने होते हैं, और फूलों या बीजों आदि से अपने लिए आभूषण बनाने में लगे होते हैं। वर्तमान काल में भी अनेक आदमी ऐसे मिलते हैं जो अपने खाने की अपेक्षा कपड़े की तरफ ज्यादा ध्यान देते हैं। वे कह दिया करते हैं कि हम कैसा खाना खाते हैं, यह तो हमें ही मालूम होता है, इसलिए इसमें भरसक किफायत करने में कोई हर्ज नहीं है, लेकिन कपड़ा तो अच्छा होना ही चाहिए, वह दूसरों के देखने में आता है; उससे समाज में हमारा स्थान बनता है। इस प्रकार हमारा कपड़े का बहुत सा पहनावा कृत्रिम आवश्यकता के कारण है।

कपड़े के साथ-साथ कुछ अन्य वस्तुओं का उपयोग भी ऐसा ही है। इस तरह का एक उदाहरण कोट की आस्तीन में बटन लगाने का है। कहा जाता है जर्मनी के राजा फ्रेडरिक महान ने देखा कि उसके बहुत से सिपाही कोट की आस्तीन से नाक साफ करते हैं। उनकी यह गन्दी आदत छुड़ाने के लिए उसने कोटों के आस्तीनों में बटन लगाए जाने की आज्ञा जारी कर दी। फ्रेडरिक का उद्देश्य पूरा हो गया। सिपाहियों की गंदी आदत छूट गयी। लेकिन कोट की आस्तीन में जो बटन लगाने का रिवाज चला, उसे

जनता ने फैशन के रूप में अपना लिया। वह अभी तक बना हुआ है, हालांकि अब उसकी कोई जरूरत नहीं है।

आभूषण—इसी तरह साधारण ग्रामीण जीवन बितानेवालों में भी कितने ही आदमी भोजन और कपड़े दोनों में कमी करके भी आभूषण या जेवर पहना करते हैं; और, यह शौक ऐसा है कि कभी पूर्ण रूप से पूरा होने में नहीं आता; हमेशा कुछ और की जरूरत बनी रहती है। इसमें कितनी आर्थिक हानि होती है, उसका तो जिक्र ही क्या, जब कि इसके पूरा करने के लिए शरीर-रक्षा और शिक्षा आदि की भी उपेक्षा की जाती है। और, धन-वालों को तो आभूषण से होनेवाली आर्थिक हानि की कुछ परवाह ही नहीं होती; उनका रुपया और है ही किस काम के लिए! अपने शरीर का शृङ्गार और सजावट करना उनका एक मुख्य कार्य है। 'क्रीम', पाउडर, सुगंधित तेल, फुलेल, इत्र आदि लगाना, उनकी दिनचर्या का महत्वपूर्ण अंग है; इसके बिना उन्हें घर से बाहर आना अच्छा नहीं लगता। औरतें तो इसके लिए और भी प्रसिद्ध हैं। चेहरे की खूबसूरती बढ़ाने के लिए तरह-तरह के उपाय काम में लाये जाते हैं; मिसाल के तौर पर होठों को लाल करने के लिए जहाँ बहुत से आदमी पान खाते हैं, खासकर पश्चिमी स्त्रियाँ 'लिप-स्टिक' काम में लाती हैं। आदमी की शौकीनी, फैशन या विलासिता के ये कुछ उदाहरण मात्र हैं।

धार्मिक आवश्यकताएँ—अब एक दूसरी तरह की आवश्यकताओं का विचार करें। प्रारंभिक दशा में आदमी को भूत-प्रेत आदि अदृष्ट या काल्पनिक शक्तियों का बड़ा भय रहता है। उसे यह आशंका रहती है कि देवी देवता न-मालूम उसे क्या कष्ट दे डालें। इसलिए वह उन्हें प्रसन्न रखने के उपाय किया करता है; उन्हें तरह-तरह की भेंट चढ़ाता है, और कुर्बानी करता है; इस तरह वह भोजन वस्त्र की ऐसी सामग्री को, जिसकी उसे खुद अपने लिए जरूरत होती है, देवी देवताओं के लिए खर्च करता है। मनुष्य का यह संस्कार अब भी बना हुआ है, कितने ही आदमी यज्ञ और हवन आदि में घी, मिठाई, अन्न आदि बहुत सा सामान इस विचार

से खर्च करते हैं कि इससे वर्षा होगी, या भगवान प्रसन्न होकर कृषि आदि की पैदावार बढ़ाएगा। बड़े-बड़े यज्ञ और हवन महँगायी और अकाल के समय में भी होते हैं; कभी-कभी तो ऐसे समय में वे और भी अधिक किये जाते हैं। यह ठीक है कि इनके करने में ज्यादा हिस्सा उन लोगों का होता है, जिनके पास खाने-खर्चने को खूब होता है, लेकिन कितने ही ऐसे गरीब लोग भी इसमें भाग लेते हैं, जिनके पास अपने गुजारे के लिए भी काफी साम न नहीं होता। इससे जाहिर है कि कुछ दशाओं में आदमी अपनी विलासिता, शौकीनी या 'धार्मिक' आवश्यकताओं को अपनी जीवन-रक्षक आवश्यकताओं के बराबर ही नहीं, उनसे भी अधिक महत्त्व देता है।

कृत्रिम आवश्यकताएँ बढ़ने से हानि—निदान, आदमी की कृत्रिम आवश्यकताएँ नित्य बढ़ती रहती हैं, इनका कहीं अंत नहीं। आजकल आदमी ने इन आवश्यकताओं को बढ़ाना ही सभ्यता का लक्षण मान रखा है। आधुनिक उन्नत और सभ्य आदमी के घर के कुल सामान की फ़हरिस्त बनायी जाए तो सहज ही मालूम हो जाएगा कि हम आजकल कितनी ऐसी चीजों का इस्तेमाल करते हैं, जो शरीर-रक्षा या जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक नहीं हैं, और जिनके बिना भी हमारा काम मजे से चल सकता है। हम प्राकृतिक या सादे रहन-सहन से दूर होते जाते हैं। इसका नतीजा यह होता है कि हमारा स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता, हम बीमार रहते हैं, और थोड़ी उम्र पाकर ही मर जाते हैं। इस विषय में दूसरी जगह खुलासा लिखा गया है।

आवश्यकताओं के बढ़ने का एक बुरा नतीजा और भी होता है। जब आवश्यकताएँ बहुत बढ़ जाती हैं तो आदमी जैसे-बने उन्हें पूरी करने की कोशिश करता है। उसे दिन-रात इसी बात की फिक्र रहती है। बहुत से आदमी अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अपनी सामर्थ्य या हैसियत से ज्यादा खर्च कर देते हैं, उन्हें कर्जदार हो जाना पड़ता है और उनका कर्ज़ा धीरे-धीरे बढ़ता रहता है। इससे उनका जीवन बहुत दुखमय बीतता है। कुछ हालतों में यह भी होता है कि आदमी अपनी बढ़ी हुई जरूरतों को पूरा करने के लिए अधिक धन पैदा करना चाहता है; और,

अगर अच्छे ईमानदारी के कामों से और सदाचार के पालन से उसकी आमदनी नहीं बढ़ती तो वह तरह-तरह के अनैतिक या अरुचिकर उपायों की शरण लेता है, वह कुमार्ग में चलता है। समाज में बहुत सी बेईमानी, छल-कपट, रिश्वत और घूस आदि का कारण आदमियों की गरीबी के अलावा यह भी होता है कि उनकी जरूरतें बहुत अधिक बढ़ी हुई होती हैं।

सादा जीवन बिताने की जरूरत—इससे साफ जाहिर है कि आवश्यकताएँ कम करने की, सादा जीवन बिताने की, कितनी आवश्यकता है। हमारा मतलब यह है कि आदमी जीवन-रक्षक पदार्थों का सेवन करने के अलावा ऐसी ही चीजों का उपयोग करे, जिनसे उसकी शारीरिक और मानसिक शक्ति तथा योग्यता बढ़े। आदमी को चाहिए कि वह अपने विकास और लोकसेवा के कामों में अपनी रुचि बढ़ाए और अपना समय इनमें लगाए। 'सादा जीवन और उच्च विचार' से आदमी अपनी प्रगति करने के साथ-साथ मनुष्य-जाति की प्रगति में बहुत भाग ले सकता है और उसे लेना चाहिए।

बीसवाँ अध्याय

रिवाज और लोकमत

पिछले अध्याय में बताया गया है कि हमारी कितनी ही कृत्रिम आवश्यकताओं का कारण यह होता है कि समाज में उनका रिवाज या चलन होता है। रिवाज और लोकमत का वैसे भी सामाजिक जीवन से बहुत सम्बन्ध है। इस अध्याय में इनका विचार किया जाता है।

आरम्भ में प्रत्येक समूह के जुदा-जुदा रिवाज—आदमी शुरू में अपने समूह के आदमियों की ही तरह व्यवहार करता था। एक समूह में कुछ खास बातों का चलन या रिवाज होता था। उस समूह के आदमी उन बातों को बिना सोचे-विचारे ही करते थे। वे स्वतंत्र विचार करके किसी रिवाज के

विरुद्ध काम करने का साहस नहीं करते थे। उस समय उनमें इतनी योग्यता या क्षमता भी नहीं थी कि स्वतंत्र विचार कर सके। इस तरह आदमी का रहनसहन और व्यवहार बहुत समय तक स्थानीय रिवाज के अनुसार, एक खास ढङ्ग का था। पहले एक आदमी का सम्बन्ध अपने पास के थोड़े से ही आदमियों से होता था। एक गाँव के आदमियों का दूसरे गाँवों से हेलमेल कम रहता था, दूर के रहनेवालों से तो और भी कम। इस तरह जगह-जगह के रिवाजों में बहुत फरक होता था। थोड़ी-थोड़ी दूर पर ही रिवाज जुदा-जुदा थे।

कुछ रिवाजों का प्रसार—धीरे-धीरे दूर-दूर के आदमियों को आपस में मिलने जुलने की सुविधाएँ और साधन बढ़े। एक जगह के आदमियों ने कुछ रिवाज दूसरों से लिये, और कुछ रिवाज दूसरों को दिये। कुछ रिवाजों का चलन धीरे-धीरे कम होकर, उठ ही गया, और कितने ही रिवाज नये भी बनते रहे। ज्यों-ज्यों दूर-दूर के लोगों का एक-दूसरे से सम्बन्ध और सम्पर्क बढ़ा, रिवाजों का क्षेत्र बढ़ने लगा; एक रिवाज दूर-दूर फैलने लगा। इस तरह कुछ रिवाज देश या जाति भर में जारी हो गये।

पुराने रिवाज बने रहने का कारण—साधारण आदमी पुरानी बात से चिपटा रहना चाहता है। नयी बातों को वह आशङ्का की दृष्टि से देखता है। उसे यह ख्याल रहता है कि पुरानी बातें अच्छी ही हैं, अगर वे अच्छी न होतीं तो समाज में प्रचलित कैसे होतीं। इस प्रकार वह उनकी उपयोगिता आदि का विशेष विचार न कर श्रद्धा या विश्वास के आधार पर ही उन्हें मानता और पालता है। इस लिए समाज में जब विशेष कारणों से एक बार कोई रिवाज चल पड़ता है तो पीछे उन कारणों के न रहने पर, और परिस्थिति बदल जाने पर भी वह रिवाज बहुत समय तक चलते रहते हैं। भारतीय इतिहास के पाठक जानते हैं कि पिछली शताब्दियों में कुछ खास कारणों से यहाँ कन्यावध, सती-प्रथा और बाल-विवाह आदि रिवाज जारी हुए तो वे इस जमाने तक, अनावश्यक और हानिकारक होते हुए भी, बने रहे। हाल में ये बातें कानून से बन्द की गयीं; पर अभी तक भी कुछ आदमी कानून से बच

कर बाल-विवाह आदि करते ही हैं। चीन में बहुत समय तक औरतों को तङ्ग और सख्त जूते पहनाने का रिवाज रहा, जिससे उनके पाँव छोटे ही रहें, बढ़ने न पाएँ; वहाँ पाँव का छोटा होना खूबसूरती की निशानी समझी जाती थी। योरप, अमरीका में पहले गुलामी का बड़ा जोर रहा, अब भी गौरांग जातियों में रङ्गदार आदमियों को अनादर और अपमान की निगाह से देखा जाता है, और हबशियों और रेड इंडयनों आदि मूल निवासियों से क्रूरता का व्यवहार किया जाता है।

रिवाज अच्छे भी होते हैं—हर समाज में तरह-तरह के बहुत से रिवाजों का चलन होता है। यह जरूरी नहीं कि सभी रिवाज बुरे हों, कुछ रिवाज अच्छे और उपयोगी भी हो सकते हैं, और होते हैं। हिन्दुओं में हर रोज सवेरे शौच आदि से निपटने और स्नान करने का रिवाज है, स्कूलों में रविवार की, और पुरानी शिक्षासंस्थाओं में अष्टमी, पूर्णमाशी और अमावश्या आदि की छुट्टी का रिवाज है, सड़कों पर प्रायः बायीं तरफ चलने का रिवाज है। यदि ऐसे रिवाजों की अवहेलना की जाय तो बहुत हानि हो। हाँ, यह याद रखना आवश्यक है कि अच्छे-अच्छे रिवाजों का भी दुरुपयोग हो सकता है, और कोई रिवाज सभी देश-कालों के लिए उपयोगी नहीं होता।

हानिकारक रिवाज—कुछ रिवाज तो बहुत ही हानिकर होते हैं। और, कभी-कभी किसी समाज में रिवाजों का प्रचार इतना अधिक हो जाता है कि आदमी उन्हें जीवन के मुख्य प्रश्नों से भी अधिक महत्व देने लगते हैं। उदाहरण के लिए बहुत से भारतवासियों में जब किसी विवाह की बात होती है तो घर वाले महीनों पहले यह सोचा कर करते हैं कि जेवर कैसे-कैसे होने चाहिएँ, कपड़े किस तरह के और तैयार कराये जाने चाहिएँ, बारात में कितने आदमी लेजाने होंगे, प्रीति-भोज में कितनी और क्या-क्या मिठाई आदि बनेंगी, किन-किन रिश्तेदारों और मित्रों को निमंत्रित करना ठीक होगा, और बिदाई आदि की क्या व्यवस्था की जायगी। अकसर जिस आदमी को आगे-पीछे चार-पाँच लड़के लड़कियों के विवाह करने होते हैं, उसका जीवन भर का मुख्य काम यही हो जाता है कि इन विवाहों सम्बन्धी विविध

रिवाजों को पालन करने की व्यवस्था करें, और दूसरे सब कामों में बचत करके इनके लिए धन जुटाएँ।

लोकमत का प्रभाव—हानिकर रिवाजों को बन्द करने और अच्छे रिवाजों का प्रचार बढ़ाने में लोकमत बहुत सहायक होता है। लोकमत का लिहाज करके आदमी बहुत अच्छा हिम्मत का काम करते हैं और अनुचित कार्य भी कर देते हैं। भारतवर्ष में बहुत से आदमी विवाह शादियों में अपनी हैसियत से ज्यादा खर्च कर डालते हैं, सिर्फ इसलिए कि कम खर्च करने की हालत में उनकी बिरादरी वाले उन्हें कंजूस कहेंगे या उनकी बुराई करेंगे। इसके विरुद्ध जिनके मित्र या मिलने वाले सुधारक होते हैं, उन्हें सामाजिक कार्यों के सिलसिले में यह सोचना पड़ता है कि अगर हमने फजूलखर्ची की, सादगी और किफायत से काम न लिया तो मित्रमंडली में हमारी चर्चा होगी, सब हमें बुरा-भला कहेंगे, इसलिए फजूल की रीति-रस्मों में पैसा खर्च न करना चाहिए। इससे जाहिर है कि लोकमत में बड़ा बल है। उसका लोगों के विचारों और कार्यों पर, जीवन और रहनसहन पर बहुत प्रभाव पड़ता है; कारण, हर एक आदमी और संस्था को इस बात की बड़ी फिकर रहती है कि दूसरों का हमारे बारे में क्या मत है, 'दुनिया' हमारे बारे में क्या राय रखती है।

लोकमत बनाने के उपाय—लोकमत बनाने के दो उपाय हैं—किसी दल ('पार्टी') के द्वारा, और व्यक्तिगत रूप से। हर देश में तरह-तरह के दल या संगठन होते हैं, और बनाये जा सकते हैं। आदमी को चाहिए कि जिस दल की नीति और कार्य को वह लोकहितकारी समझे, उसमें ईमानदारी और नेकनीयती से क्रियात्मक भाग ले। दलबन्दी का एक खास दोष यह होता है कि वह बहुत बार स्वार्थ या खुदगर्जी के आधार पर बनी होती है, चाहे वह स्वार्थ एक आदमी का न होकर किसी जाति बिरादरी, सम्प्रदाय या समूह आदि का हो। असल में दलों का आधार जातिगत, या साम्प्रदायिक न होना चाहिए; वे किसी व्यापक सिद्धान्त के आधार पर बनने चाहिएँ।

लोकमत बनाने का काम, बिना किसी दल में शामिल हुए भी, किया

जा सकता है। लेखक, सम्पादक प्रकाशक और उपदेशक व्यक्तिगत रूप से भी लोकमत बनाने में बड़ी मदद कर सकते हैं। इन्हें स्वतन्त्र और निडर होना चाहिए; और अपना स्वतन्त्र मत प्रकट करने, और उसके अनुसार व्यवहार करने के लिए सब तरह के कष्ट सहने को तैयार रहना चाहिए। ऐसे ही महापुरुषों ने समय-समय पर समाज-सुधार का कार्य करने में सफलता पायी है। उन्होंने अपने देश-काल की परवा न की, और अपने समय की कुरीतियों और बुरे रिवाजों का खुलकर विरोध किया। मिसाल के तौर पर भारतवर्ष में गौतम बुद्ध ने प्रचलित हिंसा का विरोध करके लोगों को अहिंसा और प्रेम का पाठ पढ़ाया; यूनान में सुकरात ने रूढ़ियों को तोड़ने और तर्क का प्रचार करने के लिए अपने प्राण खुशी-खुशी न्यौछावर कर दिये; अमरीका में अब्राहम लिंकन ने अपने भाई-बंधुओं के विरोध का सामना करके भी गुलामी को दूर किया; बुकर टी० वाशिंगटन ने नीग्रो (हब्शी) लोगों को आत्मोद्धार की शिक्षा दी, और महात्मा गांधी जाति, रंग सम्प्रदाय आदि की अनेक बुराइयों से लड़े। इस तरह के उदाहरण सभी देशों और जातियों में मिलते हैं।

विशेष वक्तव्य—विविध देशों का सामाजिक इतिहास इस बात का जीता-जागता सबूत है कि प्रायः अनेक व्यक्ति, संस्थाएँ तथा राजसत्ताएँ रिवाज और रूढ़ियाँ तोड़नेवालों का, सुधारकों और क्रान्तिकारियों का, भरसक विरोध किया करती हैं। ये उनके रास्ते में तरह-तरह की बाधाएँ उपस्थित करती हैं, और उन्हें बहुत कष्ट देती हैं; यहाँ तक कि उनके प्राण हरण कर लेती हैं। इससे कुछ समय के लिए प्रगति रुकती नजर आती है, परन्तु पीछे जाकर प्रगति का क्रम फिर चलने लगता है और अनेक बार तो और भी अधिक वेग से कार्य होने लगता है। प्रगति समाज का अटल या अटूट नियम है; रिवाज समय-समय पर बनते, बिगड़ते और बदलते रहते हैं।

———

पांचवाँ भाग

धर्म और सदाचार

—मनुष्य को विचार ही ताकत देता है। वह खायेगा-पीयेगा, परन्तु इन सब की पूर्ति में और इनकी बुनियाद के रूप में एक विचार होता है। उसी को हम धर्म या नीति कहते हैं। बुनियाद विचार की होती है और उसी पर जीवन की इमारत खड़ी होती है।

—विनोबा

जिस प्रज्ञा ने, जिस सृजनी शक्ति ने, मनुष्य को जंगली अवस्था से सभ्य अवस्था में आने के लिए तथा संघबद्ध रूप में समाज-रचना के लिए प्रेरित किया था, वह लुप्त नहीं हुई है। वही सृजनी प्रतिभा एक दिन उसे बृहत्तर कल्याण के पथ पर ले जाएगी, जब वह विश्व-मैत्री के आधार पर एक जाति एवं एक धर्म की स्थापना करेगी। वह जाति मानव जाति होगी और धर्म मानव धर्म होगा। उस धर्म में विभिन्न धर्मों एवं संस्कृतियों का सुन्दर समन्वय होगा और सब को विकसित होने का सुयोग प्राप्त होगा।

— जगन्नाथप्रसाद मिश्र

इक्कीसवाँ अध्याय

धार्मिक भावना

धर्म की उत्पत्ति और विकास किस प्रकार हुआ, यह बहुत गहन और विशाल विषय है। हम इस विषय सम्बन्धी कुछ मोटी-मोटी बातों की ही चर्चा करेंगे।

अदृष्ट शक्ति—आदमी इस दुनिया में तरह-तरह के दृश्य और घटनाएँ देखता है। कहीं आसमान से बातें करनेवाले ऊँचे पहाड़ हैं, और कहीं अथाह समुद्र। कहीं कांटेदार झाड़ियाँ और जंगल है, और कहीं सुगन्धित फूलों और मीठे फलों वाले पेड़-पौधे। कहीं कर्कश बोली वाले पशु-पक्षी हैं और कहीं सुरीली वाणी वाले मनोहर प्राणी। ये सब किसने बनाये? मनुष्य देखता है कि सुदूर पृथ्वी-तल से एक लाल रंग का पिंड (सूर्य) उदय होता है, वह क्रमशः आकाश में ऊपर चढ़ता है, शिखर पर पहुँच कर धीरे-धीरे नीचे उतरता हुआ, जिधर से उदय हुआ था, ठीक उसके सामने की दिशा में अस्त हो जाता है। उसके उदय रहते समय प्रकाश था, गर्मी थी, हमारे लिए दिन था। उसके अस्त हो जाने पर गर्मी जाती रही, ठंडक हो गयी; अंधकार हो गया, रात आ गयी। हाँ, आकाश में सैकड़ों तारे टिमटिमाने लगे, कभी-कभी चन्द्रमा का शीतल प्रकाश भी मिल जाता है। यह जल-थल, यह पहाड़ और जंगल, यह पशु-पक्षी, यह सूर्य-चन्द्रमा और तारे किसने बनाये?

अभी तेज धूप थी, अचानक आसमान में बादल छा गया बिजली कड़कने लगी। यह लो! आंधी ही नहीं, तूफान भी आ गया। पेड़ उखड़ने लगे, झोंपड़ियों के छप्पर उड़कर दूर-दूर चले गये और टूट गये। वर्षा होने लगी, धीरे-धीरे उसका जोर बढ़ा। थोड़ी देर पहले जहाँ खुश्क मैदान था, अब जल ही जल हो गया। ओलों ने पेड़-पौधों को नष्ट कर दिया, फसल मारी गयी।

यह परिवर्तन किसने कर दिया ? आदमी ने स्वयं इसे नहीं किया और न वह इसके करनेवाले को देख सकता है। यह सब अदृष्ट का कार्य है।

और लीजिए। एक बालक भला चंगा खेल रहा है। माता पिता इसे देख कर खुश हो रहे हैं। वह अचानक बीमार पड़ता है, और बात की बात में उसके प्राण-पखेरू उड़ जाते हैं। माता पिता और दूसरे रिश्तेदार शोक में अपना सिर धुनने लगते हैं। क्या था; क्या हो गया ! इस बालक के प्राण किसने हर लिये ? इसे मारने वाला कहीं दिखलायी नहीं देता। यह मृत्यु की बात हुई। जन्म की घटनाएँ भी कुछ कम आश्चर्यजनक नहीं होती। स्त्री बच्चे को जन्म देती है, पशु-पक्षियों के भी बच्चे होते हैं। आदमी देखता है कि जहाँ जरा सी देर पहले एक प्राणी था, वहाँ अब दो हो गये। नये बच्चे का आगमन कैसे हो गया ! आदमी सोचता है कि इस दृश्य जगत के अतिरिक्त कोई गुप्त शक्ति ऐसी अवश्य है, जो प्राणियों पर शासन करती है और उनके जीवन-मरण का कारण होती है। मनुष्य को आश्चर्य होता है कि यह अदृष्ट शक्ति कैसी अद्भुत हैं, यह कितनी महान् है ! इसके सामने मनुष्य का अहंकार नष्ट हो जाता है और वह नत-मस्तक होकर उसकी वन्दना करता हैं।

भय की बात—दूसरी बात लें। आदमी पहले जंगलों में रहता था। वह बहुत से हिन्सक जानवरों से डरता था। रीछ या शेर की आवाज से घबराता था। बिजली की गर्ज से उसका हृदय कांपता था। आंधी तुफान से उसे परेशानी होती थी। यह तो दिन के समय की बात हुई, रात में तो भय की मात्रा और भी ज्यादा होती है। अंधेरी रात में आदमी को कुछ दिखायी नहीं देता। कहीं जाने में डर लगता है। डरे हुए मन ने वहाँ भूतप्रेत आदि की कल्पना की। आदमी चाहता है कि भूत-प्रेत उसे कष्ट न पहुँचाएँ, इसलिए वह उन्हें खुश करने के तरह-तरह के उपाय सोचता है।

फिर, रात को आदमी सोता है तो उसे तरह-तरह के सपने दिखायी देते हैं। अनेक स्वप्न ऐसे होते हैं कि आदमी डर के मारे चिल्ला उठता है। कभी वह अपने रिश्तेदार या मित्र आदि के बीमार पड़ने, जख्मी होने या

या मर जाने की भी घटना देखता है। इससे उसे भय और चिन्ता होती है। वह चाहता है कि किसी तरह इसका निवारण हो जाए।

धार्मिक भावना का सूत्रपात—अदृष्ट या अज्ञात शक्ति की कल्पना, उससे भयभीत होना और उसे प्रसन्न करने की चेष्टा करना—यही कुछ लोगों के मत से, धार्मिक भावना का सूत्रपात है। इस विचार-धारा के अनुसार शुरू में आदमी का धर्म भय या आश्चर्य का धर्म था। 'आदि मानव भय और विस्मय की भावना से प्रेरित होकर आदिकालीन कल्पना का सहारा ले समूह की बड़ेरी स्त्री या पुरुष, मृत पुरुष या स्त्री के स्वप्न, रुधिर एवं यौन सम्बन्ध के अवलम्ब बना देवी-देवताओं की कल्पना करने लगा होगा और इस प्रकार धार्मिक विश्वासों की रूपरेखा बन रही होगी।'* अस्तु, देश-काल के अनुसार धार्मिक भावना के मूल आधार अलग-अलग रहे हैं।

देवी देवता और उनकी पूजा—उपर्युक्त दिखायी न देनेवाली अज्ञात शक्ति को देवी-देवता आदि कहा गया। उसका कुछ रूप ठहराया गया। उसे खुश करने के लिए जंगली आदमी ने उसके सामने जानवरों को मारकर उनकी भेंट चढ़ायी, और नाचने तथा गाने-बजाने आदि का भी काम किया। कहीं-कहीं कुछ दशाओं में आदमी को मारकर उसकी बलि चढ़ायी गयी। ये बातें थोड़ी-बहुत अब भी जगह-जगह पायी जाती हैं; हाँ, ज्यों-ज्यों विज्ञान का प्रचार बढ़ता जाता है, इनमें कमी होती जाती है। और, बहुत से आदमी जो माँस से परहेज करते हैं, वे देवी देवताओं को मिठाई और फल-फूल चढ़ाकर उनसे अपनी और बाल-बच्चों की कुशल क्षेम मांगा करते हैं।

आदमी ने सूर्य, अग्नि, वायु, इन्द्र (वर्षा) आदि शक्तियों को ही देवता नहीं माना; वह ईंट, पत्थर, पेड़, टीला, नदी आदि बहुत सी बेजान चीजों की, और गाय, चूहा (गणेश), बन्दर (हनुमान), साँप (नाग), बैल, मोर, हंस, गरुड़, नीलकण्ठ आदि पशु पक्षियों की भी पूजा करने लगा। जगह-जगह पूजा-स्थान बन गये। शुरू में एक समूह या गिरोह के सब आदमी

* 'सामाजिक अध्ययन'; लेखक—प्रेमनारायण माथुर

एक ही तरह से पूजा-पाठ आदि करते थे। यह जरूरी नहीं था कि एक समूह एक ही देवी देवता को माने; वह कई-कई जुदा-जुदा देवी देवताओं को भी मानने वाला होता था। धीरे-धीरे कई समूहों का आपस में मिलन हुआ, और वे पास-पास रहने लगे। ऐसी हालत में कभी-कभी एक समूह ने अपने किसी देवी देवता को मानना छोड़ दिया और दूसरे समूहों के देवी देवताओं को मानने लग गया। बहुत बार यह भी हुआ कि कोई समूह अपने पुराने देवी देवता के साथ दूसरों की भी पूजा करने लगे। इस तरह देवी देवताओं की संख्या अकसर बढ़ती गयी, लेकिन कभी-कभी उसमें कमी भी होती रही। किसी एक देश के आदमियों से पूजे जाने वाले कुल देवी देवताओं में समय-समय पर अंतर होता रहा है।

ज्ञान विज्ञान का प्रभाव—ज्यों-ज्यों आदमी का ज्ञान बढ़ता गया है, उसके विकास का असर देवी देवताओं की संख्या तथा पूजा पाठ-आदि की विधि पर पड़ता रहा है। बहुत से पशु पक्षी जिन्हें वह पहले बहुत श्रद्धा की दृष्टि से देखता था, अब उसके लिए साधारण वस्तु हैं। विज्ञान के प्रचार से कुदरत की अनेक घटनाओं को वह अब आश्चर्य या आशंका की दृष्टि से नहीं देखता, वह इन्हें रोजमर्रा की मामूली बात समझता है। जल, वायु, बिजली आदि कई शक्तियों को आदमी अब अपने काम में लाता है, इसलिए इन्हें अब पूजा के योग्य नहीं मानता।

बहुदेववाद और एकेश्वरवाद—तो भी आदमी के सामने जन्म, जीवन, और मृत्यु की समस्याएँ बनी ही हैं। इन तीन कामों के लिए हिन्दुओं ने ब्रह्मा, विष्णु, और महेश की कल्पना की थी। आरम्भ में, सभी देशों में बहु-देवोपासना (अनेक देवताओं की पूजा) जारी हुई। पीछे कुछ देशों में धीरे-धीरे 'अनेक में एक' या 'भेद में अभेद' देखने की भावना जागृत हुई, और वे विविध देवी देवताओं को एक ही ईश्वर या परमात्मा के अलग-अलग रूप समझने लगे। इस भावना का विकास सबसे पहले भारत में हुआ। यहाँ पहले प्रकृति की जुदा-जुदा शक्तियों की पूजा होती थी, पीछे बहुत चिन्तन और मनन के बाद ब्रह्मवाद या एकेश्वरवाद की स्थापना हुई।

इससे पहली विचार-धारा का सर्वथा लोप नहीं हो गया, बल्कि उसके साथ ही एक सर्वोच्च शक्ति परमपिता परमात्मा को माना जाने लगा।

ईश्वर की नैतिक और धर्म की सामाजिक कल्पना—धार्मिक विकास की दूसरी बात यह है कि ईश्वर को भयानक मानने की बात मन से हटायी गयी। इस तरह धर्म के मूल में डर की भावना न रही। आदमी ने धीरे-धीरे यह विचार किया कि सृष्टि रचने वाले को तो सब प्राणियों से माँ बाप की तरह प्यार करनेवाला होना चाहिए। इस विचार से ईश्वर को माँ, जगदम्बा, परम पिता, जगत-पिता आदि कहा जाता है। होते-होते ईश्वर को दया, न्याय, सत्य, शान्ति आदि सभी अच्छे-अच्छे गुणों का भंडार माना जाने लगा। ईश्वर को ऐसे गुणों वाला मानना, और ऐसे गुण वाले व्यक्ति के बारे में यह कहा जाना कि वह बड़ा 'देवता' है, आदमी की नैतिक भावना का परिचायक है। इससे जाहिर होता है कि आदमी अब इन गुणों का आदर करता है, और, जहाँ तक बन आये, अपने अन्दर इन गुणों को अधिक-से-अधिक पैदा करना या बढ़ाना चाहता है। अब आदमी यह समझने लगा कि मैं जैसा काम करूँगा, ईश्वर मुझे वैसा फल देगा (क्योंकि ईश्वर सब का न्याय करता है वह किसी का पक्षपात नहीं करता), इस लिए मुझे सदैव अच्छे काम करने चाहिएँ। सब से प्रेम, दया, सहानुभूति, सच्चाई और ईमानदारी आदि का व्यवहार करना चाहिए। अगर मैं कोई बुरा काम करूँगा तो मुझे उसका दंड मिलेगा। यह धर्म की सामाजिक, और ईश्वर की नैतिक कल्पना है।

धर्म की लौकिक भावना—यदि यह कल्पना हमारे मन में अच्छी तरह जम जाय, और हम हर घड़ी उसका ध्यान रखें तो हमारा व्यवहार बहुत अच्छा और समाज के लिए बहुत हितकर होगा, इसमें संदेह नहीं। तो भी इससे आगे बढ़ने की जरूरत है। हम अच्छा काम सिर्फ इस लिए न करें कि हम उसका अच्छा फल या कुछ पुरस्कार मिलेगा। इसी तरह हम बुरे काम से सिर्फ इस लिए न बचें कि ईश्वर हमें उसका दंड देगा। हमें तो अच्छा काम करना, और बुरे काम से बचना ही चाहिए। ऐसा करना हमारा

कर्तव्य है। हमारे कार्यों में पुरस्कार या दंड की भावना न हो, और इस लिए पुरस्कार देनेवाले या दंड देनेवाले ईश्वर का सहारा हम क्यों लें! निस्सन्देह यह केवल आदर्श की बात है; साधारण आदमियों के लिए फल देनेवाले ईश्वर की कल्पना बहुत सहायक होती है। तथापि संसार में ऐसे महानुभाव हुए हैं, जिन्होंने लोगों को इस सहायता के बिना ही काम चलाने का उपदेश दिया है। मिसाल के तौर पर गौतम बुद्ध ने इस दिशा में भारी काम किया। बौद्ध धर्म ने ईश्वर की बात न कह कर भी लोगों को प्रेम और दया आदि की शिक्षा दी। इसे धर्म की लौकिक भावना कह सकते हैं। इस भावना के पूरी तरह विकसित होने पर किसी कर्मकांड, रीतिरस्म, पूजा-पाठ की जरूरत नहीं रहती; और, इस लिए पुजारी, पादरी, महन्त आदि का भी कुछ काम नहीं रहता। लेकिन यह स्थिति अभी कुछ कल्पनात्मक ही है।

विशेष वक्तव्य—आदमी तरह तरह के कर्म-काँड कि अपनाये हुए है। इसी वजह से समाज में पुरोहितों, पुजारियों, आदि को स्थान मिला है। भारतवर्ष में खासकर पूजा-पाठ करने वालों की एक अलग जाति ही बन गयी। इनका हिन्दू समाज पर इस समय भी कितना प्रभाव है, यह सब जानते हैं। इस समय बहुत से ब्राह्मण पहले की तरह जनता में ज्ञान के प्रचार करने का काम न करके, स्वयं ही अशिक्षित हैं; तो भी सर्वसाधारण में उन्हें ऊँची जाति का, तथा दान-पुण्य प्रतिष्ठा और श्रद्धा का, अधिकारी माना जाता है। समय बदल रहा है; उसकी मांग है कि योग्यता की ही कदर की जाए, जन्म या जातीयता की नहीं।

बाइसवाँ अध्याय

जुदा-जुदा धर्म

संसार के मुख्य धर्म—संसार में खासकर छः बड़े-बड़े धर्म प्रचलित हैं—वैदिक धर्म (जिसे अब हिन्दू धर्म कहा जाता है,) पारसी धर्म, बौद्ध, धर्म, यहूदी धर्म, ईसाई धर्म, और इसलाम धर्म। इनमें सब से पीछे का, यानी हाल का, धर्म इसलाम है; उसे जारी हुए पौने चौदह सौ वर्ष हुए, उसकी बुनियाद डालने वाले हजरत मोहम्मद का जन्म सन् ५७० ई० में हुआ। इससे पहले का धर्म ईसाई धर्म है, उसे अब १६५२ वर्ष हो चुके। उससे पहले का धर्म बौद्ध धर्म है, जिसे चलानेवाले गौतम बुद्ध का जन्म ईसा पूर्व ५५७ में हुआ था। बौद्ध धर्म से पहले हजरत मूसा ने यहूदी धर्म चलाया था, वह अब साढ़े तीन हजार वर्ष पुराना है। उससे पहले का धर्म पारसी धर्म है, इसके चलानेवाले महात्मा जरदुश्त का समय ईसा से कम से कम दो हजार और ज्यादा-से-ज्यादा चार हजार पहले माना जाता है। सब से पुराना धर्म वैदिक धर्म है। वेदों की आयु के बारे में बहुत मतभेद है, तो भी सब विद्वान इन्हें सब से प्राचीन ग्रन्थ मानते हैं; हिन्दू तो इन्हें अनादि ही समझते हैं उनका विचार है जब से मनुष्य पैदा हुआ, तब से यानी करीब दो अरब वर्ष से, वैदिक धर्म भी है। वैदिक धर्म को छोड़कर हरेक धर्म किसी एक देवता, दूत या पैगम्बर का चलाया हुआ है।

ये धर्म अलग-अलग जगहों में जारी हुए। हरेक धर्म पर उस जगह की परिस्थिति का प्रभाव पड़ा है; एक तरह से वह वहाँ के पुराने धर्म से पैदा हुआ, कहा जा सकता है। मिसाल के तौर पर बुद्ध ने भारतवर्ष के अपने समय के हिन्सात्मक कर्मकांड को हटाने की खूब कोशिश की, और उसके नैतिक उपदेशों की आधार-शिला वैदिक धर्म ही है। पारसी धर्म भी वैदिक

धर्म का बहुत ऋणी है। ईसाई धर्म पुराने यहूदी धर्म और बौद्ध धर्म के मेल से बना है। इसलाम धर्म का आधार बहुत-कुछ ईसाई धर्म और यहूदी धर्म है।

धर्मों से समानता का प्रचार, परिमित क्षेत्र में—सब मुख्य-मुख्य धर्म इस बात में एक मत हैं कि परमात्मा सारी सृष्टि का पिता है; सब आदमी चाहे वे किसी भी जाति, देश या रंग के हों, उसकी सन्तान हैं। एक परम पिता की सन्तान होने के कारण सब आदमी आपस में भाई-भाई हैं। इस लिए सब को आपस में प्यार से रहना चाहिए और समानता का व्यवहार करना चाहिए।

समानता का संदेश हमें संसार के सब से पुराने धर्म-ग्रन्थ ऋग्वेद तक में मिलता है। मिसाल के तौर पर उसमें कहा गया है कि 'तुम लोग भ्रातृ-भाव से सौभाग्य को प्राप्त करते हुए जीवन-क्षेत्र में बढ़ो। तुम में से कोई ज्येष्ठ (बड़ा) नहीं, कोई कनिष्ठ (छोटा) नहीं—सब समान हो।' इसी तरह अथर्ववेद में लिखा है—'तुम एक जगह से पीओ, एक ही जगह से खाओ, एक ही प्रकार से काम में लगे हुए उस प्रभु की पूजा करो। संसार-चक्र को चलाने में इस तरह मिलकर काम करो, जिस तरह धुरी के चारों तरफ आरे लगे रहते हैं।'

वैदिक या हिन्दू धर्म की तरह संसार में बौद्ध धर्म का डंका भी खूब बजा है। उसके प्रवर्तक गौतम बुद्ध ने राजपाट को लात मार कर गरीबी का स्वागत किया था, और गरीबों में ही अपने आपको मिला दिया था। उसने भ्रातृ-संघ की स्थापना में यह नियम रखा था कि कोई आदमी अपने गुजारे की चीजों के अलावा कोई भी सामान न रखे। समानता का यह व्यावहारिक रूप कितना आदर्श था !

ईसाई धर्म के प्रवर्तक ईसा मसीह ने अपनी शक्ति भर लोगों को समानता और भ्रातृ-भाव का उपदेश दिया। उसके बारे में कुछ बातें अहिन्सा के प्रसंग में कही गयी हैं। उसका जीवन सेवा, त्याग और बंधुत्व का जीता-

जागता उपदेश है। यदि उससे ठीक शिक्षा ली जाय तो संसार में आर्थिक या सामाजिक विषमता नाम को न रहे।

इसलाम धर्म के प्रवर्तक हजरत मोहम्मद साहब ने समानता का कैसा प्रचार किया, इसका पता इस एक बात से ही लग जाता है कि अब भी अमीर से अमीर मुसलमान अपने गरीब से गरीब सहधर्मी के साथ बराबरी वाले की तरह भोजन करता है; बड़े छोटे का कोई भेद-भाव ही नहीं। उन्होंने आदमी और आदमी के बीच की बनावटी दीवारों को तोड़ कर सब को मानवता, भाईचारे, और इन्सानियत का पाठ पढ़ाया था।

इस तरह सभी धर्मों का आधार समानता और भ्रातृत्व है। हर एक धर्म के प्रवर्तक के कुछ खास शिष्य और प्रचारक हुए हैं। इन साधु सन्तों और महात्माओं ने समानता का, दान-पुण्य, सदाव्रत और खैरात आदि का, खूब उपदेश दिया है। इन्होंने लोगों को जाति, रंग, पेशे या देश आदि का भेद-भाव भूलने की शिक्षा दी है। इस तरह हर एक धर्म सम्बन्धी बहुत सा साहित्य ऐसे विचारों से भरा हुआ मिलता है। इससे लोगों में लोकहित और मानवता की भावना बढ़ी है, इसमें तो कोई सन्देह नहीं। लेकिन वह कार्य हमेशा परिमित क्षेत्र में ही रहा। बात यह है कि किसी भी धर्म का विशेष प्रचार एक सीमा से बाहर नहीं हुआ। हालाँकि हरेक धर्म-प्रवर्तक की इच्छा यह रही कि उसकी विचार-धारा और उसका धर्म दुनिया भर में फैले, व्यवहार में ऐसा न हो सका। संसार में हमेशा ही कई-कई धर्म रहे हैं। और, एक धर्म ने अपने क्षेत्र में चाहे जितनी उदारता और समानता की भावना भरी हो, अकसर उसके अनुयायियों ने दूसरे धर्म वालों को गैर या पराया ही समझा, और उनके साथ भाईचारे और बराबरी का व्यवहार नहीं किया। फिर, किसी धर्म के माननेवाले सब आदमी व्यवहार में पूरी सच्चाई और ईमानदारी का परिचय देनेवाले नहीं होते। कितने ही आदमी धर्म की बात वहां तक ही मानते हैं, जहाँ तक उन्हें विशेष स्वार्थ-त्याग करना या कष्ट सहना नहीं पड़ता। वे दान-धर्म आदि करते रहते हैं, लेकिन उसी सीमा तक, जब तक कि उन्हें उसके करने में कुछ कठिनाई न सहनी पड़े। इस लिए

धर्म में समानता का जो प्रचार हुआ, वह बहुत परिमित और एकदेशीय रहा, उसे अन्तर्राष्ट्रीय या विश्वव्यापी होने में सफलता न मिली।

प्रत्येक धर्म आरम्भ में सुधारक ही होता है—जब कोई धर्म कहीं शुरू होता है, तो वह वहाँ की वह उस समय की प्रचलित बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न करता है। जितने स्थान में फैलता है, वहाँ के लोगो का नया दृष्टिकोण, नयी विचार-धारा देता है, और उनकी उन्नति और सुधार में सहायता करता है। लेकिन पीछे जाकर इस धर्म की कुछ बातों का उद्देश्य भुला दिया जाता है, उसके अनुयायी नये देश-काल का विचार न करके पुरानी रूढ़ियों का पालन करने लगते हैं। इससे इस धर्म में सुधार की आवश्यकता होती है। तब या तो इसी धर्म की किसी नयी शाखा का उदय होता है, या कोई नया धर्म शुरू होता है। इस तरह जिस देश में नयी धार्मिक लहर आती है, वह उस देश को, अपने से तत्काल पहले की धार्मिक भावनाओ का संशोधित रूप होती है। लेकिन किसी धर्म का यह दावा करना ठीक नहीं है कि वह अपने समय से पहले के संसार भर के समस्त धर्मों से अच्छा है। फिर, कुछ नैतिक बातें तो बहुत पुराने समय से मान्य रही हैं। उन पर समय-समय पर विचार होकर चाहे जितनी नयी-नयी बातें निकली हो, वे मूल रूप में सभी धर्मों में मिलती हैं। प्रत्येक धर्म ने लोगों को मिल-जुल कर रहना, एक दूसरे से सहानुभूति और प्रेम करना, और दूसरों के लिए त्याग करना सिखाया है। ये बातें सामाजिक संगठन के लिए कितनी आवश्यक हैं, यह जाहिर ही है। धर्म ने आदमियों में नैतिक भावना की वृद्धि की है। चोरी न करना, झूठ न बोलना, दीन दुखियों की सहायता करना, रोगियों की सेवा-सुश्रुषा करना सभी धर्म सिखाते हैं।

धर्म क नाम पर झगड़े और लड़ाइयाँ—जब कि एक धर्म मानने-वाले आपस में इन गुणों का परिचय देते हैं, वे दूसरे धर्म वालों को ऐसे व्यवहार का अधिकारी कम ही मानते हैं। हर धर्म वाले अपने धर्म को सबसे अच्छा समझते हैं, और चाहते हैं कि दूसरे आदमी उनके ही धर्म को स्वीकार करें। यह बड़े कलह और झगड़े की जड़ है; क्योंकि कुछ आदमी अपने धर्म का

प्रचार करने के लिए तरह-तरह का प्रलोभन ही नहीं देते; वरन् भय भी दिखाते हैं, और जोर जबरदस्ती भी करते हैं। इसका नतीजा यह हुआ कि समय-समय पर सभी देशों में, खासकर योरप में भयंकर अत्याचार हुए हैं, हजारों आदमियों की जानें गयी हैं, और लाखों आदमियों को तरह-तरह की मुसीबतें सहनी पड़ी हैं। धर्म के नाम पर झगड़े, वैर विरोध, मारपीट और खून खच्चर के दृश्य अब भी देखने में आते हैं।

जुदा-जुदा धर्म वालों के आपसी झगड़ों का मूल कारण यह है कि आदमी अपने-अपने धर्म के कर्मकांड और रीति रस्मों पर बहुत जोर देते हैं, जो हरेक धर्म में बहुत कुछ अलग-अलग है; मिसाल के तौर पर ईश्वर की पूजा किस तरह करनी; खड़े होकर या बैठकर; यदि बैठकर तो किस तरह बैठ कर; किस भाषा में—संस्कृत, हिन्दी अरबी, अंगरेजी या लेटिन आदि में—कैसे-कैसे भावों वाले श्लोकों, मंत्रों या गद्य में; पूजा की सामग्री क्या हो; प्रसाद किस चीज का हो, वह किस तरह बाँटा जाय; इत्यादि।

अन्य बुराइयाँ; मानसिक दासता, अन्ध विश्वास—धर्म के नाम पर और भी बहुत सी बुराइयाँ लोगों में प्रचलित है। कहीं शराब पीयी जाती है, कहीं पशुओं का बलिदान किया जाता है, और कहीं-कहीं तो जंगली आदमी मनुष्य की ही बलि चढ़ाते हैं। इसके अतिरिक्त कितने ही स्थानों में तरह-तरह की सामाजिक कुरीतियों का समर्थन धर्म के ही नाम पर किया जाता है। हट्टे-कट्टे मुफ्तखोरों की संख्या बढ़ायी जाती है; यही नहीं उन्हें भोग-विलास की सामग्री दान-पुण्य में मिलने से वे समाज को ज्यादा-ज्यादा बिगाड़ते रहते हैं।

इसके अतिरिक्त धर्म से मानसिक दासता या दिमागी गुलामी बढ़ने में भी मदद मिली है। प्रत्येक धर्म वाले दूसरे धर्म के ग्रन्थों के बारे में तर्क-वितर्क करते हुए भी अपने प्रमुख धर्म-ग्रन्थों को अपौरुषेय या इलहामी मानते हैं, जिनमें अक्ल या दखल न हो। इस प्रकार अनेक हिन्दू, पारसी, इसाई और मुसलमान अपनी समस्याओं पर स्वतन्त्र विचार न कर बात-बात में वेद, जेन्दावस्ता, बाइबल और कुरान के आश्रित रहते हैं। फिर, हरेक धर्म के माननेवालों में कुछ-कुछ बातों के अंध-विश्वास रहते हैं। हिन्दुओं में

बहुत से आदमी किसी नये मकान में रहना शुरू करते हैं, तो उसके लिए 'शुभ मुहूर्त' की इन्तजार किया करते हैं। विवाह शादी के लिए तो कभी-कभी साल दो साल तक मुहूर्त की इन्तजार में रुक जाते हैं। बिना मुहूर्त काम करने से उसके बिगड़ने का डर रहता है। किसी आदमी के घर से रवाना होने के समय किसी का छींक देना; या किसी का नंगे सिर (बिना टोपी) सामने आ जाना, किसी का यह पूछ लेना कि तुम कहाँ जाते हो, या बिल्ली आदि कुछ जानवरों का रास्ते में मिल जाना बहुत अशुभ समझा जाता है। ऐसा क्यों सयझा जाता है इसका कोई बुद्धि-संगत यानी ठीक जचनेवाला जवाब नहीं होता। शायद किसी खास समय में, किसी आदमी को कुछ अनुभव हुआ हो, उसे देखकर उसके दूसरे साथियों ने सोच लिया कि ऐसी स्थिति में ऐसा ही अनुभव होना जरूरी है; बस, इस विचार-धारा की परम्परा बन गयी; आदमी इन्हें बहुत महत्व देने लग गये।

समाज टुकड़े-टुकड़े हो रहा है—धर्म मनुष्यों को मिलाने वाली शक्ति है, पर जुदा-जुदा धर्मों ने समाज को टुकड़े-टुकड़े कर रखा है। भारत में धर्म के नाम पर छूआछूत का भयंकर प्रचार रहा, और अब यद्यपि वह कानून से निषिद्ध है, व्यवहार में बहुत-कुछ बना हुआ है। हिन्दुओं में बहुत से आदमियों ने धर्म को खासकर चूल्हे चौके में बन्द कर रखा है। किसके हाथ का भोजन खाना और किसके हाथ का न खाना—यह बड़ा महत्वपूर्ण प्रश्न बना हुआ है। अनेक बार दो मित्र पास-पास रहते हैं, एक दूसरे से बहुत स्नेह करते हैं। परन्तु दोनों अपनी रसोई अलग-अलग बनाते हैं। 'नौ कनौजिए, तेरह चूल्हे' प्रसिद्ध कहावत है। कुछ आदमी अपने आपको ऊँचे दर्जे का मानते हैं और वे बहुत से लोगों के यहाँ भोजन नहीं करते; दूसरे आदमी ऐसे हैं जो इनके भी हाथ का बना भोजन स्वीकार नहीं करते और अपने हाथ से ही बनाया हुआ भोजन जीमते हैं। इससे कितनी शक्ति और समय नष्ट होता है! इससे भी अधिक हानि यह है कि समाज का दृढ़ संगठन नहीं होता। अस्तु, जुदा-जुदा धर्मों का इस प्रकार का आचार-विचार समाज की जड़ पर कुठाराघात करता है। विचारकों का ध्यान इस ओर जा रहा है, और इसमें सुधार हो रहा है। इसका विचार आगे किया जायगा।

तेइसवाँ अध्याय

मानव धर्म

पहले कहा जा चुका है कि वर्तमान अवस्था में अधिकांश प्रचलित धर्मों ने परस्पर विरोधी सम्प्रदायों का रूप धारण कर रखा है। ये धर्म एक दूसरे के प्रति उग्र हो गये हैं, और बहुधा मानव समाज को बहुत हानि पहुँचाते हैं। इस दशा को सुधारने के लिए तीन प्रकार के उपायों का विचार किया जाता है:—

(१) सब धर्मों का अन्त कर देना,

(२) सब धर्मों का समन्वय करना,

(३) जुदा-धर्मों की जगह एक मानव धर्म का प्रचार।

क्या धर्म का अन्त किया जा सकता है?—सब धर्मों का अन्त करने की बात जितनी सरल मालूम होती है, उतनी व्यावहारिक नहीं है। यह ठीक है कि संसार में कुछ आदमी 'नास्तिक' रहे हैं और उनमें से बहुत से सच्चरित्र लोकसेवी और परोपकारी हुए हैं तथा इस समय भी हैं। परन्तु संसार की कुल आबादी में उनका अनुपात बहुत ही कम क्या, नगण्य है। सर्वसाधारण के विकास की जैसी अवस्था है, उसमें उन्हें कोई धर्म अवश्य चाहिए। इस लिए साधारणतया जब कहीं से एक धर्म उठाने का प्रयत्न किया जाता है, तो वहाँ वह किसी दूसरे रूप में चल निकलता है। रूस का प्रयोग सामने है, अधिकारियों के न चाहने और उनके द्वारा बहुत विरोध किये जाने पर भी वहाँ लोगों का अपना धर्म है, गिरजे भी हैं, और मसजिदें भी; हाँ, कुछ स्थानों में ईसा और मरियम की जगह लेनिन और स्टेलिन को आदर-भक्ति प्राप्त है।

धर्म-समन्वय का प्रयत्न—अगर हम मूल सिद्धान्तों का विचार करें तो वे सब धर्मों में एकसे ही हैं, जुदा-जुदा धर्मों का समन्वय करने के लिए समय-समय पर अनेक कान्फ्रेन्स, सभा सम्मेलन आदि हुए हैं। सन् १८७५ में न्यूयार्क (अमरीका) में थियोसीफिकल सोसायटी कायम हुई। उसका एक उद्देश्य यह था कि जाति, सम्प्रदाय, रङ्ग आदि के भेद का विचार न कर विश्वबंधुत्व या भाईचारे के भाव को फैलाया जाए, और विविध धर्मों या दर्शनों के तुलनात्मक तथा वैज्ञानिक अध्ययन को प्रोत्साहन दिया जाए। और भी आन्दोलन समय-समय पर इस उद्देश्य से होते रहते हैं। धर्म-समन्वय की दृष्टि से कुछ पुस्तकें भी लिखी गयी हैं। इन कार्यों की उपयोगिता स्पष्ट है, तथापि इसमें कुछ ऊँचे दर्जे के सिद्धान्तों या विचारकों की ही रुचि है, सर्वसाधारण की दृष्टि से इसमें विशेष सफलता नहीं मिल रही है।

मानव धर्म की आवश्यकता और उसका स्वरूप—लोगों का जुदा-जुदा धर्म रहना ठीक नहीं। तथापि एक धर्म की जरूरत अवश्य है—ऐसे धर्म की जो मनुष्य जाति के टुकड़े टुकड़े न करे, बल्कि सब को मिलाए और एक दूसरे की सेवा-सहायता करने की प्रेरणा करे। इसमें वह किसी रङ्ग जाति, स्थान या मत आदि का भेद न माने। आदमी यह अनुभव कर रहे हैं कि जब तक ऐसे धर्म का चलन न होगा, संसार का अहित होता रहेगा, आदमी को सुख की नींद नसीब न होगी। इस लिए विद्वान और विचारवान इस विषय पर अपने भाषणों और लेखों द्वारा प्रकाश डाल रहे हैं। ऐसा धर्म मानव धर्म होगा और यह विश्वम्भर पके लिए होगा, यह अन्तर्राष्ट्रीय होगा।

मानव धर्म का अनुयायी इस बात का विचार करने में स्वतंत्र होगा कि ईश्वर है या नहीं, और यदि है तो उसका नाम और रूप कैसा है, उसकी पूजा-आराधना किस प्रकार करनी चाहिए। हाँ, कोई धार्मिक कृत्य ऐसा न होगा जिससे दूसरे भाइयों को असुविधा या हानि हो। मानव धर्म हमारे मानवी गुणों का—प्रेम, सेवा, सहानुभूति, संयम, सत्य, अहिन्सा आदि का—विकास करनेवाला होगा। वह सदाचार और संस्कृति का प्रमुख सहायक होगा। इस धर्म के अनुसार प्रत्येक आदमी सभी महापुरुषों का आदर करेगा—

राम और कृष्ण, बुद्ध और कन्फ्यूसियस, ज़रदुस्त, ईसा और मुहम्मद सब से यथेष्ट शिक्षा लेगा।

विशेष वक्तव्य—पहले कहा गया है कि प्रत्येक मुख्य धर्म अपने स्थान की दृष्टि से पूर्व प्रचलित धर्म का कुछ न कुछ विकसित स्वरूप होता है। हम आशा करते हैं और इस विश्वास में जीते हैं कि हम समय तक के सब धार्मिक आन्दोलनों का परिणाम मानव धर्म का विकास होगा। हमारी आराध्य देवी मानवता होगी, उसकी पूजा के लिए किसी खास मन्दिर, गिरजे या मसजिद की जरूरत न होगी; खेत, खलिहान, झोपड़े और कुटी जहाँ आदमी का निवास है, हमारे लिए पवित्र पूजा-स्थल होंगे। भाईचारा हमारा मूल मंत्र होगा; अपने भाइयों का कष्ट दूर करना, पिछड़े हुए को अपने बराबर लाना हमारा पूजा-पाठ होगा। प्रत्येक बालक, और युवा तथा वृद्ध में, पुरुष और स्त्री में हमें भगवान के दर्शन होंगे। यही नहीं, हम यथा-सम्भव प्राणी-मात्र में अपनेपन का और अपने अन्दर अन्य प्राणियों का अनुभव करेंगे। इस मानव धर्म की दिशा में उत्तरोत्तर बढ़ते रहना प्रत्येक व्यक्ति का परम कर्त्तव्य है और मनुष्य जाति प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उस दिशा में बढ़ रही है।

चौबीसवाँ अध्याय

सदाचार

नीति और सदाचार को धर्म का अंग मानने का परिणाम—यह बताया जा चुका है कि धार्मिक भावना का कुछ विकास होने पर आदमी नैतिक गुणों को महत्व देने लगा। हरेक धर्म ने अपने-अपने क्षेत्र में प्रेम दया, सहानुभूति, सच बोलना, सेवा और सहायता करना, आदि गुणों की ओर आदमी की प्रवृत्ति बढ़ाने में अच्छी सहायता की। नीति और सदाचार के नियमों को धर्म का अंग माना गया, और जो बात अनैतिक हो उसे धर्म-